जैन भारती

नवंबर 2012 • अहिंसा तत्त्व विशेष • वर्ष 60 • अंक 11



अर्हम्

हर समस्या सुलझेगी, तुम उलझना छोड़ दो

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ



श्रद्धानत्

श्रीमती मंगलीदेवी, कन्हैयालाल दुधेड़िया एंड संस्

मूलचंद, इंद्रचंद, रूपचंद, लक्ष्मीपत, राजेंद्र दुधेड़िया

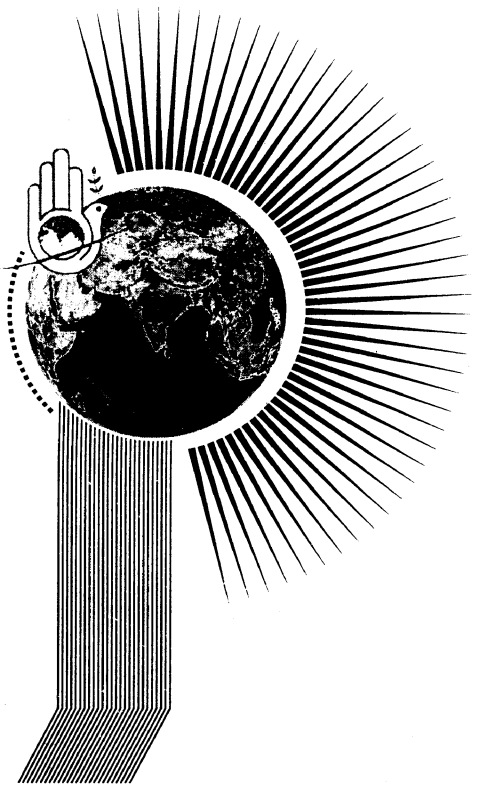
दुधेड़िया परिवार

छापर–बेंगलोर

शुभू पटवा
मानद संपादक

जैन भारती

वर्ष 60 • नवंबर, 2012 • अंक 11



अहिंसा तत्त्व विशेष

महासभा शताब्दी वर्ष

इस अंक में

प्रसंग

❑ लोक में व्याप्त है—अहिंसा-हिंसा 11
❑ *शुभू पटवा*

अहिंसा और आगमशास्त्र

❑ अहिंसा की साधना और रागमुक्तता 13
❑ *आचार्यश्री महाश्रमण*

❑ आचारांग : यत्र अप्रमादः तत्र अहिंसा 18
❑ *साध्वी शुभ्रयशा*

❑ श्रमण महावीर की अहिंसा अवधारणा : आज भी प्रासंगिक 26
❑ *मुनि राजेंद्रकुमार*

अहिंसा और धर्म-संप्रदाय

❑ विभिन्न धर्मों में अहिंसा की अवधारणा 37
❑ *साध्वी कनकश्री*

❑ अहिंसा : सृजनात्मक शक्ति का पर्यायार्थक 42
❑ *डॉ. भागचंद्र जैन भास्कर*

आवरण ● **गौरीशंकर**

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

अहिंसा और व्यक्तित्व

❑ भगवान महावीर और आचार्यश्री भिक्षु का अहिंसा दर्शन 53
❑ *साध्वी विमलप्रज्ञा*

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ का चिंतन और अहिंसा 60
❑ *साध्वी विश्रुतविभा*

❑ गांधीजी की धर्म-प्रतिभा 68
❑ *मुकुंद लाठ*

❑ अहिंसा : आज का युग-धर्म 76
❑ *आचार्य विनोबा भावे*

अहिंसा और समाज

❑ आध्यात्मिक और सामाजिक संदर्भ में अहिंसा 84
❑ *मुनि धनंजयकुमार*

❑ विक्षिप्त समाज का उपचार है हिंदस्वराज 97
❑ *राजीव वोरा*

❑ अहिंसा-हिंसा : परिवेश देता है अंकुरण की उत्तेजना 102
❑ *कुमार प्रशांत*

अहिंसा और इतिहास दृष्टि

❑ इतिहास का सार है अहिंसा 106
❑ *नंदकिशोर आचार्य*

अहिंसा और अर्थशास्त्र

❑ आर्थिक व्यवहार : अध्यात्म, नीतिमत्ता और शरीर-धर्म 110
❑ *प्रो. सुदर्शन आयंगार*

अहिंसा और साहित्य

❑ साहित्य : मानवीय सत्ता केंद्रों की समन्वित शक्ति 126
❑ *रमेशचंद्र शाह*

अहिंसा और शिक्षा

❑ अहिंसा और शिक्षा : एक अटूट संबंध 132
❑ *पवनकुमार गुप्ता*

अहिंसा और पत्रकारीय कर्म

❑ आग के दरिया से होकर गुजरना है 139
❑ *अरविंदमोहन*

अहिंसा और मनोविज्ञान

❑ अहिंसा एवं व्यक्तित्व विकास : मनोवैज्ञानिक दृष्टि 144
❑ *डॉ. मधु जैन*

अहिंसा और हिंसा

❑ हिंसा-अहिंसा; मत-विचार : सत्य गायब 150
❑ *जे. कृष्णमूर्ति*

अहिंसा और महासभा : बकलम अध्यक्ष

❑ पारमार्थिक अहिंसा का आधार 156
❑ *हीरालाल मालू*

विज्ञापन

1 से 52



अधिक धर्म किसे (1)

भीखणजी स्वामी ने दान पर एक दृष्टांत दिया। पांच व्यक्तियों ने साझेदारी में चनों की खेती की। पांच सौ मन चने पैदा हुए। पांचों जनों ने विचार किया—'घर में धन तो बहुत है। इन चनों का दान कर धर्म कमाएं।'

एक व्यक्ति ने एक सौ मन चने भिखारियों को दे दिए।

दूसरे ने एक सौ मन चनों के भूंगड़े भूनाए।

तीसरे व्यक्ति ने एक सौ मन चनों की 'घुघरी' करके खिलाई।

चौथे व्यक्ति ने एक सौ मन चनों की रोटियां कराई और साथ में कढ़ी बना कर खिलाई।

पांचवें व्यक्ति ने एक सौ मन चनों का विसर्जन कर उन्हें छूने का भी त्याग कर दिया।

सावद्य-दान में जो पुण्य-धर्म बतलाते हैं, उन्हें पूछना चाहिए कि इनमें अधिक धर्म किसे हुआ?

अधिक धर्म किसे (2)

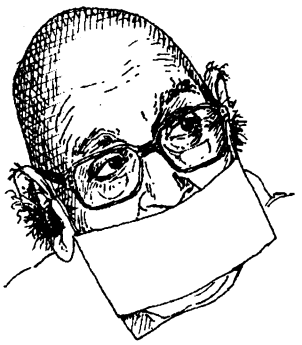
स्वामीजी ने दान के विषय में एक और दृष्टांत दिया। एक बूढ़ा आदमी भीख मांगता हुआ घूम रहा था। किसी ने अनुकंपा कर उसे सेर चने दिए। तब उस बूढ़े ने किसी से कहा—'एक आदमी ने मुझे सेर चने दिए, पर मेरे दांत नहीं है, इसलिए तुम इन्हें पीस के आटा बना दो।'—तब दूसरी बहिन ने अनुकंपा कर चनों को पीस आटा बना दिया।

उसने आगे जा किसी से कहा—'मुझे एक धर्मात्मा ने सेर चने तो दिए और दूसरी बहिन ने उन्हें पीस आटा बना दिया। अब तुम मुझे उस आटे की रोटियां बना दो।'—तब तीसरी बहिन ने उस सेर आटे में नमक और पानी मिलाकर उसकी रोटियां बना दी। वह रोटी खाकर तृप्त हो गया।

कुछ देर बाद उसे प्यास लगी।

तब वह आगे जाकर बोला—'है रे कोई धर्मात्मा, जो मुझे पानी पिलाए।'—तब चौथी बहिन ने अनुकंपा कर सजीव जल पिलाया।

एक व्यक्ति ने सेर चने दिए, दूसरे ने पीस के आटा बना दिया, तीसरे ने रोटियां बना दीं, चौथे ने उसे पानी पिलाया। इन चारों में अधिक धर्म किसे हुआ? ●



अनुशासन वह कला है जो सब कलाओं की जननी है। अनुशासन का पथ फूलों से नहीं, कांटों से भरा है, किंतु उस पथ से गुजर जाने के बाद हर कांटा फूल बन कर मुसकरा उठता है।

नए सृजन की प्रतीक्षा का प्रथम द्वार है—आत्मानुशासन। आत्मानुशासन की उज्ज्वल आभा से दीपित चित्त ही धर्म का आधार है। युग की सब वर्जनाओं के टूट जाने पर भी जो बची रहती है, वह आत्म-मर्यादा है। अनुशासन की सतह पर तैरने वाला बंधता है, किंतु उसकी तहों तक पहुंचने वाला मुक्त हो जाता है।

जो स्व-तंत्र में रहना नहीं जानता, वह कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता।

अनुशासन का अस्वीकार जीवन की पहली हार है।

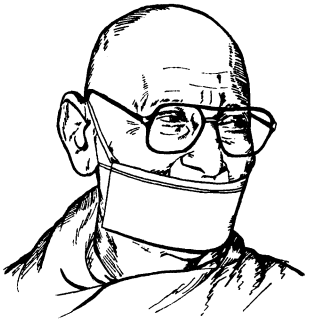
अपने लिए, अपने द्वारा, अपना नियंत्रण यही है—अध्यात्म।

मन के पागलपन ने जब-जब ज्वालामुखी उभारा,
तब-तब अनुशासन ने ही इस नर को सदा उबारा।

अनुशासन वह अमृत है, जो व्यक्ति, समाज और देश को सदा जीवित रखता है।

अनुशासनहीनता बाह्य नियंत्रण को निमंत्रण देती है। अनुशासन वर्ष का सबसे बड़ा काम है—अपने आप का निर्माण।

—आचार्यश्री तुलसी



अहिंसा के संस्कार-बीज को सिंचन न मिले तो वह भी निष्क्रिय बन जाता है। यह एक बिंदु है जहां हमें चुनाव करने का मौका मिलता है कि हम किस दिशा में जाएं—हिंसा की दिशा में या अहिंसा की दिशा में, युद्ध की दिशा में या शांति की दिशा में। हम समाज को किस दिशा में ले जाएं—हिंसा या अशांति की दिशा में अथवा अहिंसा या शांति की दिशा में।

युद्ध की उर्वरा—इस बिंदु पर पहुंच कर हमें पुनर्विचार करना होगा—आज की शिक्षा-दीक्षा पर, महत्त्वाकांक्षी प्रवृत्तियों पर। वर्तमान शिक्षा बौद्धिकता से जुड़ी हुई है। अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में महत्त्वाकांक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। यह सही है कि महत्त्वाकांक्षा के बिना विकास कुंठित हो जाता है। इसलिए उसे प्रोत्साहन देना त्रुटिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। त्रुटि यही है कि उसमें सीमा का निर्धारण नहीं है। हिंसा और युद्ध के लिए यह असीम प्रवृत्ति उर्वरा है।

यथार्थवादी प्रकल्पना—महावीर ने गृहस्थ के सामने अपरिग्रह का महाव्रत प्रस्तुत नहीं किया, अपितु उसके इच्छा-परिमाण की बात कही। इच्छा या महत्त्वाकांक्षा की सीमा करो, उसे असीम मत बनाओ। यह सीमाकरण अहिंसा की दिशा में और युद्ध-वर्जना की दिशा में एक प्रस्थान है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ



अहिंसा एक ऐसा तत्त्व है, जिसके साथ संयम की बात जुड़ी हुई है। व्यक्ति में यदि संयम का विकास होता है, तो वह अहिंसा को परिपुष्ट बनाने वाला होता है। शरीरधारी के लिए पूर्णतया हिंसामुक्त रहना कठिन होता है। हिंसा के तीन प्रकार हैं—आरंभजा, प्रतिरोधजा और संकल्पजा। रसोई, खेती आदि में होने वाली अनिवार्य हिंसा आरंभजा हिंसा है। रक्षा की दृष्टि से प्रत्याक्रमण के रूप में होने वाली हिंसा प्रतिरोधजा हिंसा है। हिंसा के ये दोनों प्रकार गृहस्थ के लिए वर्जनीय नहीं माने गए, किंतु क्रोध, लोभ आदि आवेगों के वशीभूत होकर की जाने वाली अनावश्यक हिंसा संकल्पजा हिंसा है, जो गृहस्थ के लिए भी सलक्ष्य त्याज्य है। व्यक्ति यदि सलक्ष्य प्रयास करे, तो वह अहिंसा के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ सकता है।

हम अपने जीवन को अहिंसा और नैतिकता की प्रयोगशाला बना लें तो सुखद परिणाम सामने आ सकते हैं। हम अहिंसा की केवल चर्चा ही न करें, अर्चा भी करें। उसकी अर्चा धूप, दीप आदि से नहीं, अपने जीवन व्यवहार में उसे प्रतिष्ठित करने से होती है। हम हिंसा के कारणों का निवारण कर अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास करें।

अनुशासन इसका एक उपाय है, जिसके द्वारा व्यक्ति दुष्कृत्यमुक्त हो सकता है। सज्जन व्यक्ति अनुशासन को हितकर और दुर्जन व्यक्ति उसे अप्रिय मानता है। अनुशासन सदा दूसरों पर ही किया जाता है। उसकी अपेक्षा भी है, किंतु उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है—अपनी आत्मा पर अनुशासन करना। आत्मा पर अनुशासन करने के लिए शरीर, वाणी, मन और इंद्रियों पर अनुशासन करना चाहिए।

लोकतंत्र और राजतंत्र—दोनों में अनुशासन वांछनीय होता है। यदि अनुशासन और कर्तव्यनिष्ठा नहीं है, तो स्वच्छंदता को सिर उठाने का मौका मिल सकता है। स्वतंत्रता और स्वच्छंदता में बहुत अंतर है। यदि सर्वत्र स्वच्छंदता छा जाए तो राष्ट्र अराजकता को प्राप्त हो सकता है। अहिंसा और विकास के लिए अनुशासन और कर्तव्यनिष्ठा नितांत आवश्यक है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

अंकुरित धरा से क्षमा
व्योम से झरी रुपहली करुणा।

सरि, सागर, सोते-निर्झर-सा
उमड़े जीवन :
कहीं नहीं है मरना।

—अज्ञेय

प्रसंग

लोक में व्याप्त है—अहिंसा-हिंसा

जब से समाज बना है, मानें कि तभी से हिंसा और अहिंसा की बात हम सुनते रहे हैं। हमारे मनीषियों, साधकों और तपस्वियों ने अहिंसा और हिंसा पर खूब कहा और समझाया है। इस धरती पर श्रमण महावीर हुए और अहिंसा को अपने आचरण व साधना का हिस्सा बनाया। महात्मा गांधी (मो. क. गांधी) भी इसी धरती पर हुए, जिन्होंने अहिंसा को अपनाया और अपनी हर प्रवृत्ति में सत्य और अहिंसा के प्रति अटूट आस्था रखी।

हमारे विचारकों-मनीषियों ने आज तक अहिंसा को नकारात्मक रूप में ही स्वीकारा है, अलबत्ता इसकी उपादेयता को, इसके महत्त्व को कभी नकारा नहीं है और न कभी इसे कमतर माना है। पर, यह समझ पाना कठिन है कि यह नकारात्मक कैसे है? भाषा की दृष्टि से यदि हम इसे नकारात्मक मानें तो मानें—शेष किसी रूप में अहिंसा को नकारात्मक कैसे ठहराया जा सकता है? हम कहते-सुनते रहे हैं—'अहिंसा जीवनी शक्ति है', 'अहिंसा अनुपम उपहार है', 'अहिंसा जीवन का आधार है', 'मनुष्य को सदा अहिंसा के मार्ग पर चलना चाहिए'—आदि-आदि। इनमें नकारात्मकता कहां है? और, इससे अधिक फिर सकारात्मकता ही क्या हो सकती है? ठीक इसके विपरीत हिंसा मत करो, प्राणियों को मत सताओं आदि-आदि बातें हमारे सामने हैं। तब फिर नकारात्मकता या सकारात्मकता का निर्णय हम किस तरह करते हैं?

यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि बुनियादी रूप से 'अहिंसा' सकारात्मक है—चिंतन के स्तर पर भी, मनन और आचरण के स्तर पर भी।

इसी तरह अहिंसा को निवृत्तिमूलक भी मान लिया गया है। जैन परंपरा में प्रवृत्ति और निवृत्ति पर गहन चिंतन-मनन हुआ है। श्रमण भगवान महावीर का संपूर्ण जीवन तप-साधना से भरा था। यह भी स्वीकार किया गया है कि वे निवृत्ति की ओर ही अग्रसर रहे। श्रमण महावीर के दर्शन और चिंतन के आधुनिक भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी इसे स्वीकारा है। पर, साथ ही वे यह भी तो कहते हैं कि हम प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर होते हैं, भोग से त्याग की ओर जाते हैं। फिर इसका क्या यह अर्थ नहीं कि प्रवृत्ति का अपना अस्तित्व है और बिना इस ओर आए कोई निवृत्ति की ओर जा ही कैसे सकता है? अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चलने वाली ऐसी क्रियाएं हैं, जिनका पृथककरण किसी बिंदु पर अगर होता भी है तो उसे पकड़ पाना जरा कठिन है। और, फिर यह भी तो माना ही जाता है कि साधना की एक अवस्था ऐसी भी हो जाती है, जहां निवृत्ति और प्रवृत्ति—दोनों से ही मुक्त हुआ जा सकता है। यही वीतराग अवस्था है।

हम महात्मा गांधी के जीवन-संदर्भों को सामने रख कर इस पर थोड़ा विचार करें। गांधी की प्रवृत्तियों में अहिंसा की झलक ही नहीं मिलती थी, बल्कि अहिंसा के साथ ही उनकी प्रवृत्तियां आगे बढ़ती थीं। हम कह सकते हैं कि महात्मा गांधी 'प्रवृत्तिमूलक अहिंसा' के सजग और प्रचंड प्रयोगकर्ता थे। साथ ही प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति की ओर बढ़ने वाले महत्तमों में से भी वे थे।

इस तरह हम पाते हैं कि 'अहिंसा' नकारात्मक नहीं है, तो निवृत्तिमूलक मात्र भी नहीं है। यह प्रवृत्तिमूलक भी है और सकारात्मक भी। आज तलक यह लोक में इसीलिए व्याप्त है। इसीलिए अहिंसा का लोप असंभव है। जिस तरह कि हिंसा का लोप भी असंभव है। ये दोनों साथ-साथ हैं, पर इनको सहगामी नहीं कहा जा सकता। दोनों का अस्तित्व अपनी-अपनी धुरी पर टिका रहने वाला है।

तब भी हिंसा को महिमामंडित कभी नहीं किया जा सकता है और न इसे कोई स्थान ही दिया जा सकता है। जाहिर है कि हिंसा को नकारात्मक भर कहा जा सकता है, बल्कि कहना चाहिए कि हिंसा ही नकारात्मक है।

पर, यह सर्वविदित है कि एक हिंसक भी कभी अपने को हिंसक नहीं कहेगा और सदा ऐसे 'विशेषण' से बचने का प्रयत्न करेगा। तभी हिंसा कभी भी प्रकटतः नहीं होती। वह किसी आवरण के साथ ही होती है। ठीक इसी तरह हिंसा करने वाला भी अपने को इसका शिकार न होने के उपाय भी करता है। अतः हिंसा ही नकारात्मक है।

यह भी स्पष्टतः कहा जा सकता है कि हिंसा सदैव विवशतावश ही की जाती है। लोभ और भय के वशीभूत होकर भी हिंसा होती है। अतः इसे दुष्प्रवृत्ति ही कह सकते हैं। यदि हम समाज हैं, तो इस दुष्प्रवृत्ति से पूरी तरह मुक्त हो जाएं—यह उम्मीद नहीं की जा सकती है। तब यही कहना अवशेष रह जाता है कि इसे अधिकाधिक हिकारत से देखें।

अपने आचरण, व्यवहार और दैनंदिन क्रियाकलापों में अहिंसा का अविराम समावेश होता रहे, हम यह सुनिश्चित करें। अहिंसा धर्म है—यह तो मानें, पर यहां धर्म को किसी 'आभूषण' की तरह नहीं देखें, न धारण करें। धर्म का अर्थ कर्तव्य है—यह स्वीकार जरूरी है। पर, इस स्वीकार भर से ही बात परवान नंहीं चढ़ सकती। इसीलिए हमने कहा कि अहिंसा हमारे आचरण, हमारे व्यवहार और दैनंदिन क्रियाकलापों का हिस्सा बने।

अहिंसा साधना का हिस्सा तो है ही और रहेगा भी, पर साधना के साथ-साथ हमारी हर प्रवृत्ति में भी यह झलके। लोक में जो कुछ व्याप्त है, उसका सकारात्मक रूप—जैसा कि इस प्रसंग में व्याख्यायित हुआ है—अधिकाधिक सुदृढ़ जब होने लगेगा तो नकारात्मकता का क्षरण सहज ही होने लगेगा।

अहिंसा की व्याप्ति के लिए सकारात्मकता तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति को समझते हुए ही अग्रसर होना चाहिए।

—शुभू पटवा

[अहिंसा तत्त्व को लेकर **जैन भारती** के इस अंक में हमने विशेष सामग्री देने का जो प्रयास किया है, सुधी पाठकगण अब इसकी समीक्षा करेंगे—यह हमारा विश्वास है। इस अंक के लिए हमने माननीय विद्वत्जनों से लेखकीय सहयोग के लिए आग्रह किया और अपने विद्वत्तापूर्ण आलेख **जैन भारती** के लिए उन्होंने हमें भेजे—उन सभी के प्रति हम गहरी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। उनके सहयोग से ही यह दुस्तर कार्य सहज हो सका। हम यह तो नहीं कहते कि इस अंक के माध्यम से 'अहिंसा तत्त्व' पर कोई अत्यधिक मौलिक विचार आपके सम्मुख आए हैं, पर मौलिकता की ओर कदम अवश्य बढ़े हैं। 'अहिंसा तत्त्व' को सम्मुख रख विचार की दुनिया के भिन्न-भिन्न पहलूओं पर इस अंक में विद्वान लेखकों ने अपने मंतव्य प्रस्तुत किए हैं, जो निश्चय ही मननीय और कई दृष्टियों से नूतन भी हैं। अतः सुधी पाठकों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए। नवंबर 2012 का महीना अहिंसा के महान अन्वेषक श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण (13 नवंबर : कार्तिक कृष्णा) चतुर्दशी/अमावस) और अहिंसा के अग्रदूत आचार्यश्री तुलसी का 99वां जन्मोत्सव (15 नवंबर : कार्तिक शुक्ला दूज) है। जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा, कोलकाता का शताब्दी वर्ष भी बीते माह (अक्टूबर) से शुरू हो गया है। बीता अक्टूबर माह ही महात्मा गांधी का जन्म दिवस (अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस) भी था। इन सभी अवसरों पर **जैन भारती** का यह 'अहिंसा-तत्त्व विशेष' अंक आपके हाथों में सौंपते हुए हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है। —सं.]

अहिंसा की साधना और रागमुक्तता

❑ आचार्यश्री महाश्रमण

जीवस्य परिणामेन, अशुमेन शुमेन च।
संगृहीताः पुद्गला हि, कर्म रूपं भजन्त्यलम्।।

जीव के अशुभ अथवा शुभ परिणामों के द्वारा जो सूक्ष्म पुद्गल आकृष्ट होते हैं और चेतना से चिपक जाते हैं, वे ही पुद्गल कर्म-संज्ञा को प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त कथन संबोधि ग्रंथ से उद्धरित है। अशुभ परिणाम हैं, तो अशुभ कर्मों का बंध और शुभ परिणाम हैं—तो पुण्य या शुभ कर्मों का बंध होता है। अहिंसा शुभ परिणाम है और हिंसा अशुभ परिणाम है। कर्म के बंधन में और कर्म के विमोक्षण में हिंसा और अहिंसा का बड़ा योगदान होता है। योगशास्त्र में तो यहां तक कहा गया कि धर्म एक ही है और वह है—अहिंसा। तब प्रश्न होता है कि सत्य आदि क्या हैं? समाधान दिया गया—

अहिंसापयसः पालिभूतानि अन्यव्रतानि

अहिंसा रूपी पानी की सुरक्षा के लिए सत्य आदि व्रत 'पाळ' के समान होते हैं।

अहिंसा के बारे में जैन आगमों में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है, विवेचन मिलता है। 'आयारो' का पहला अध्ययन 'शस्त्रपरिज्ञा' मुख्यतया अहिंसा पर ही आधारित है। वहां छह जीव-निकायों के बारे में वर्णन है। पृथ्वीकाय, अपकाय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय के जीवों के प्रति अहिंसा का वर्तन करने का निर्देश दिया गया है।

अहिंसा का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—**आयतुले पयासु**—प्राणियों को अपने समान समझो। जितने भी प्राणी हैं, वे आपके समान हैं। तब प्रश्न होता है कि सबके अपने-अपने कर्म हैं, फिर

केवल शारीरिक अहिंसा के बारे में ही नहीं, मानसिक और वाचिक अहिंसा के बारे में भी जैन धर्म में बहुत सूक्ष्म ध्यान दिया गया है। जैन आगमों में कहा गया कि साधु कटु वचन बोल दे, तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसलिए कोई भी मुनि कटु वचन न बोले, मर्मभेदी भाषा न बोले। वह मिष्ट भाषा का प्रयोग करे। यह वाचिक अहिंसा है। साधु मन में भी किसी का अनिष्ट चिंतन न करे। सबके प्रति मैत्री का भाव रखे, अहिंसा का भाव रखे—यह मानसिक अहिंसा है।

❑

सब एक-समान कैसे हुए? उत्तर दिया गया—प्राणियों में अनेक बातों की समानता भी है। जैसे—कोई भी प्राणी सामान्यतया मरना नहीं चाहता, वह जीना चाहता है। कोई भी प्राणी दुख नहीं चाहता, वह सुख चाहता है। प्राणियों में यह समानता है। 'दसवेआलियं' में इसी बात को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—

सव्वे जीवां वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं।।

सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए निर्ग्रंथ घोर प्राणवध का परिवर्जन करते हैं।

'समणसुत्तं' एक ऐसा ग्रंथ है, जो समस्त जैन संप्रदायों द्वारा सम्मत है। वहां आत्मतुला के सिद्धांत को पुष्ट करते हुए कहा गया है—

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एतियंग जिणसासणे।।

जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही तुम दूसरों के लिए भी चाहो। जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, वह तुम दूसरों के लिए भी मत चाहो—यह जिनशासन का निर्देश है।

लगभग इसी बात को संस्कृत वाङ्मय में इस तरह कहा गया है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।।

धर्म की बात को सुन कर और अवधारित कर यह ग्रहण करो कि तुम्हारे लिए जो प्रतिकूल है—वैसा आचरण या वैसा व्यवहार तुम दूसरों के लिए मत करो।

जैसे मुझे कोई गाली देता है, तब मुझे बुरा लगता है—तो मैं भी किसी को गाली न दूं। मुझे कोई मारता-पीटता है, तब कष्ट होता है—तो मैं भी किसी को मारूं-पीटूं नहीं। मेरा कोई अपमान करता है, तब मुझे बुरा लगता है—तो मैं भी किसी का अपमान न करूं। यह आत्मतुला की चेतना है।

सूयगडों में कहा गया है—

एमं खु णाणिणो सारं, जं ण हिंसति कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया।।

ज्ञानी आदमी के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता अहिंसा है—इतना ही उसे जानना है।

आदमी इतना-सा जान ले, तो मानना चाहिए कि उसने बहुत कुछ जान लिया। अहिंसा और समता एक-दूसरे से अभिन्न है। समता का भाव नहीं है, तो अहिंसा की साधना नहीं हो सकती। राग-द्वेष मुक्ति का भाव नहीं है, तो अहिंसा कैसे होगी? राग-द्वेष में आकर आदमी हिंसा करता है। जब कारण विद्यमान है, तो फिर हिंसा कभी भी हो सकती है। **पण्हावागरणाइ** में भी अहिंसा के बारे में सुंदर विवेचन किया गया है। वहां अहिंसा को 'भगवती' विशेषण से अलंकृत कर कहा गया है—

एसा सा भगवती अहिंसा, जा सा—
भीयाणं पिव सरणं, पक्खीणं पिव गयणं।
तिसियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं।।
समुद्दमज्झे व पोतवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं।
दुहट्टियाणं व ओसहिबलं, अडवीमज्झे व सत्थगमणं।।

यह वह भगवती अहिंसा है, जो प्राणियों के लिए वैसे ही आधारभूत है—जैसे डरे हुए मनुष्यों के लिए शरण, पक्षियों के लिए गगन, प्यासों के लिए जल, भूखों के लिए भोजन, समुद्र में डूबते हुए मनुष्यों के लिए नौका, चतुष्पदों के लिए आश्रम, रोगियों के लिए औषध और जंगल को पार करने के लिए सार्थगमन।

आवश्यक सूत्र में कहा गया—**'मित्ती मे सव्व भूएसु**—सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है।' किसी के साथ मेरा वैरभाव नहीं है। यह अहिंसा का कितना उत्कृष्ट सूत्र है। एक, दो, तीन के प्रति जो मैत्री होती है, वह कुछ मोहात्मक भी हो सकती है, किंतु सभी प्राणियों के प्रति मैत्री है, किसी के साथ वैरभाव नहीं है, यह अहिंसा के लिए बहुत उत्तम भूमिका का निदर्शन है। उत्तरज्झयणाणि में भी कहा गया—**'मित्ती भूएसु कप्पए'**—तुम प्राणियों के साथ मैत्री का व्यवहार करो। जैनदर्शन में षट्जीवनिकाय के बारे में विस्तृत वर्णन

मिलता है। इस विषय में राजस्थानी भाषा के दो दोहे द्रष्टव्य हैं—

जीवाजीव जाण्या नहीं, नहीं जाणी छह काय।
सूनै घर रा पावणा, ज्यूं आया त्यूं जाय।।
जीवाजीव जाण्या सही, सही जाणी छह काय।
बसतै घर रा पावणा, मीठा भोजन खाय।।

इन दोहों में अहिंसा के संदर्भ में सुंदर सार दिया गया है। जीव क्या? अजीव क्या? इस भेद-रेखा को जिसने नहीं जाना है और छह काय के जीवों को नहीं जाना है, वह सूने घर के मेहमान के समान होता है। जिस प्रकार सूने घर में कोई मेहमान बन कर जाए, तो वहां कौन खातिरदारी करेगा? जीव-अजीव आदि छह-काय के जीवों को नहीं जानने वाला मृत्यु के बाद मानो सूने घर का मेहमान बनने वाला है। जिसने जीव-अजीव आदि को जाना है, षट्जीवनिकाय को जाना है और उनके प्रति अहिंसा की साधना की है, तो वे बसते घर के मेहमान के समान हैं। बसते हुए घर में कोई जाए और सामने वाला व्यक्ति भी सहृदय हो—तो वह आतिथ्य करता है, भोजन कराता है और उसका सम्मान करता है। वह अगली गति में भी ऐसे स्थान पर जाएगा, जहां उसे आत्मशांति मिल सकेगी और अनुकूलताएं भी प्राप्त हो सकेंगी।

कर्म के संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि हम जीवन में अहिंसा का प्रयोग करें और हमारा लक्ष्य आत्मशुद्धि रहे। बादशाह अकबर के नव रत्नों में एक तानसेन था। वह बहुत अच्छा गाता था। बादशाह ने एक दिन कहा—'तानसेन! तुम्हारा गुरु कौन है? जिसने तुमको गाना सिखाया है। मैं उसको सुनना चाहता हूं।' —तानसेन ने बताया—'जहांपनाह! मेरे गुरु हरिदास हैं, परंतु आपके बुलाने से वे न तो यहां आएंगे और न किसी के कहने से गाएंगे।' अकबर—'तानसेन! कुछ भी हो, मैं तुम्हारे गुरु के गान को सुनना चाहता हूं।'

तानसेन बादशाह को साथ लेकर हरिदास की झोंपड़ी के पास पहुंचा और बादशाह से कहा—'आप बाहर ही रहें। मैं अंदर जा रहा हूं।'—तानसेन भीतर गया और गलत गाना शुरू कर दिया। शिष्य यदि गलती करे, तो गुरु का कर्तव्य है कि वे शिष्य को गलती के प्रति जागरूक करें और उसकी गलती को सुधारे। हरिदास ने भी देखा कि तानसेन गलत गा रहा है। हरिदास बोले—'तानसेन! ऐसे नहीं, इस गीत को ऐसे गाओ।'—और, हरिदास ने गाकर ठीक बताना शुरू किया। बादशाह ने बाहर से ही हरिदास का गाना सुन लिया। उनके मन की मुराद पूरी हो गई।

तब बादशाह ने तानसेन को कहा— 'गुरु के गान को सुनने के बाद अब तुम्हारा गान मुझे फीका लगने लग गया। तुम्हारे गाने में वह मिठास नहीं है जो तुम्हारे गुरु के गाने में है।'

तानसेन—'जहांपनाह! फीका तो लगेगा ही। मैं तो गाता हूं, आपको राजी करने के लिए और मेरे गुरु गाते हैं—परमात्मा को राजी करने के लिए।'

आदमी भी यह चिंतन करे कि मैं केवल मन की आकांक्षाओं को पूरा करने का प्रयास करता हूं, या परम की प्राप्ति के लिए कुछ कर रहा हूं? अहिंसा की साधना परम के लिए हो, मोक्ष के लिए हो, आत्म कल्याण के लिए हो—फिर देखिए कि किस प्रकार अशुभ कर्म क्षीण होने लगते हैं, वे कमजोर पड़ते हैं और निर्जरा होने लगती है। शुभ कर्मों का बंध तभी होता है। यद्यपि साधक के लिए पुण्य कर्मों का बंध वांछनीय नहीं है, उसे तो वांछा निर्जरा की ही करनी चाहिए, मोक्ष की करनी चाहिए। निर्जरा के साथ पुण्य कर्मों का बंध अपने-आप ही हो जाएगा। इस तरह से अहिंसा की साधना यदि रागमुक्तता के साथ हो, तो वह अपने आप में और अधिक विशिष्ट बन सकती है।

अहिंसा और मैत्री की बातें किसी न किसी रूप में अनेक धर्मग्रंथों में मिल जाएगी। प्रेम, अहिंसा ही धर्मग्रंथों का सार है। धर्म का एक ही सार है—प्रेम। उसे मैत्री भी कहा जा सकता है और अहिंसा भी कहा जा सकता है। जैन वाङ्मय में तो बहुत ही सूक्ष्मता से अहिंसा का विवेचन किया गया है। दसवेआलियं

में कहा गया—'**अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो।**' सभी प्राणियों के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार करना ही अहिंसा है।

एक जैन मुनि के लिए 'ईर्या समिति' का विधान अहिंसा की दृष्टि से ही है। मुनि चलें—तो नीचे देख कर चलें, रात्रि में चलें—तो रजोहरण से प्रमार्जन करके चलें, कि कोई जीव पैर के नीचे न आ जाए, उसकी हिंसा न हो जाए। साधु मुखवस्त्रिका का प्रयोग इसीलिए करते हैं कि बोलने से 'वायुकाय' के जीवों की हिंसा न हो जाए। यह अहिंसा का सूक्ष्म विधान है। साधु के लिए भोजन बनाना भी हिंसा माना गया है। इसलिए साधुजन 'आधाकर्मी आहार' का वर्जन करते हैं और घर-घर जाकर गृहस्थ के लिए बने हुए भोजन में से थोड़ा भोजन लेते हैं। जैनशासन में यही विधान है।

एक जैन मुनि सामान्यतया वाहन का प्रयोग भी इसीलिए नहीं करते। वाहन के नीचे आकर भी कितने ही जीव मर जाते हैं। मात्र छोटे जीव ही नहीं—सांप, बिच्छू, बिल्ली, कुत्ते आदि बड़े जीव भी मर जाते हैं। कई बार तो मनुष्य भी इसकी चपेट में आ मर सकते हैं। तात्पर्य यह कि वाहन से कितनी हिंसा हो सकती है। वाहन का प्रयोग न करने के पीछे मुख्यतया अहिंसा की दृष्टि ही रही है।

केवल शारीरिक अहिंसा के बारे में ही नहीं, मानसिक और वाचिक अहिंसा के बारे में भी जैन धर्म में बहुत सूक्ष्म ध्यान दिया गया है। जैन आगमों में कहा गया कि साधु कटु वचन बोल दे, तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसलिए कोई भी मुनि कटु वचन न बोले, मर्मभेदी भाषा न बोले। वह मिष्ट भाषा का प्रयोग करे। यह वाचिक अहिंसा है। साधु मन में भी किसी का अनिष्ट चिंतन न करे। सबके प्रति मैत्री का भाव रखे, अहिंसा का भाव रखे—यह मानसिक अहिंसा है।

हिंसा के तीन प्रकार हैं—आरंभजा हिंसा, प्रतिरोधजा हिंसा और संकल्पजा हिंसा। 1. **आरंभजा हिंसा**—जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, खान-पान आदि के लिए आदमी खेती करता है। उसमें जीवों की हिंसा होती है, परंतु वह एक अनिवार्य हिंसा है। आदमी जीवों को मारने के लिए खेती नहीं करता। वह अपने भोजन की दृष्टि से अन्न प्राप्त करने के लिए करता है। हालांकि वहां हिंसा तो हो रही है, किंतु हिंसा का लक्ष्य नहीं है। अनिवार्यतावश हिंसा की जा रही है। 2. **प्रतिरोधजा हिंसा**—अपनी रक्षा के लिए आदमी प्रयास करता है। इसी तरह देश की रक्षा के लिए भी कुछ प्रयास करता है। जब शत्रु-सेना आक्रमण कर देती है, या आक्रमण करने वाली होती है—तब राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सैनिक सन्नद्ध हो जाते हैं और देश की रक्षा के लिए युद्ध भी करना पड़ जाता है। युद्ध में हिंसा होती ही है। यह हिंसा प्रतिरक्षात्मक अथवा प्रतिरोधजा हिंसा होती है और वह आवश्यक भी है। 3. **संकल्पजा हिंसा**—अपने आक्रोश, अपने राग-द्वेष, आवेश और लोभ आदि कारणों से आदमी किसी की हिंसा करता है, वह कोई आवश्यक हिंसा नहीं है। जैसे; किसी युवक को गुस्सा आ गया और उसने अपनी पत्नी पर हाथ उठा लिया। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो उसकी हत्या तक भी कर दी जाती है—यह संकल्पजा हिंसा है। जो इस प्रकार की हिंसा होती है, वह अनीतिपूर्ण है, अन्यायपूर्ण है। एक गृहस्थ के लिए यह हिंसा सर्वथा त्याज्य होती है।

अहिंसा को समझने के लिए हिंसा को भी समझना अपेक्षित होता है। हिंसा को जानकर, उसे छोड़ने का प्रयास किया जाए, तभी अहिंसा की साधना निष्पन्न हो सकती है। आचार्यश्री भिक्षु के साहित्य में हमें अनुकंपा शब्द मिलता है। अनुकंपा के दो प्रकार हैं—लौकिक अनुकंपा और लोकोत्तर अनुकंपा। एक साधु दूसरे साधु की सेवा करता है, वह लोकोत्तर अनुकंपा है। किसी को अभयदान देना लोकोत्तर अनुकंपा है। अभयदान को सर्वश्रेष्ठ दान माना गया है और वह अहिंसा है। अभय की यह चेतना स्वयं में जागे। दूसरों को अभय दिया जाए और दूसरों पर आध्यात्मिक उपकार किया जाए—यह परम अहिंसा है।

एक उद्धरण यह भी देखें—एक छोटी-सी कुटिया में दो साधु ठहरे हुए थे और दोनों ही साधु शयन कर रहे थे। वहां दो साधु और आ गए। पूर्वस्थित साधुओं ने कहा—'यहां सोने की जगह तो दो व्यक्तियों की है। अगर आप यहां आना चाहें तो हम चारों बैठ जाएंगे। बैठने से ही हम चारों यहां समा सकते हैं।'—और, चारों साधु परस्पर धर्मचर्चा करने लगे। तभी उस कुटिया में दो साधु और आ गए। तब उन चारों ने कहा—'इस कुटिया में बैठ-बैठे तो चार व्यक्ति ही समा सकते हैं, किंतु खड़े-खड़े छह व्यक्ति भी समा जाएंगे। हम सब खड़े-खड़े स्वाध्याय करेंगे। और, आज की रात्रि भी इसी तरह व्यतीत कर देंगे।'—आगंतुक साधुओं के प्रति यह जो सहानुभूति की भावना है—यही अनुकंपा है, अहिंसा है, प्रेम है और मैत्री है। अहिंसा की यह भावना सबके जीवन में आए।

❖

समग्रतामूलक है अहिंसा

अहिंसा मानवकेंद्रित नहीं, बल्कि समग्रतामूलक है तथा समस्त मानवीय और मानवेतर सृष्टि के साथ अस्तित्वगत अद्वैत का अनुभव है। अहिंसा संपूर्ण सृष्टि के प्रति उत्तरदायित्व है और इस उत्तरदायित्व की पृष्ठभूमि में संपूर्ण सृष्टि के अस्तित्व की एकता की भावना काम कर रही है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के साथ मनुष्य का रिश्ता एक मर्यादा से अनुशासित हो। लेकिन, इस मर्यादा का आधार क्या है? जिसे हम मर्यादा या धर्मसम्मत आचरण कहते हैं, उसकी कसौटी क्या है? उसकी कसौटी वही है जो, महाभारतकार के शब्दों में, दूसरे के प्रति ऐसा कुछ नहीं करना है, जो यदि हमारे प्रति किया जाए तो हमें प्रतिकूल लगे—**आत्मानां प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत।** इस दूसरे में मानवेतर सृष्टि भी शामिल है। इस मर्यादा का उल्लंघन ही हिंसा है। इस अहिंसा-बोध की व्याप्ति केवल सामाजिक संबंधों तक ही नहीं; बल्कि मानवेतर सृष्टि के साथ इस मर्यादा का पालन ही मनुष्य को वास्तविक अर्थों में मनुष्य बनाता है। मनुष्य किसके प्रति आचरण कर रहा है, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि आचरण करने वाला मनुष्य है, जिसके आचरण में हर स्तर पर मनुष्यत्व का प्रतिबिंबन अनिवार्य है। हमारी परंपरा में कर्तव्य पर अधिक आग्रह इसीलिए है कि हमारे कर्तव्य अन्य के अधिकार हैं और अन्य के अधिकारों का सम्मान ही हमें अहिंसक बनाता है।

कुछ आधुनिकतावादी इसे व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की स्पष्ट अवहेलना के रूप में देख सकते हैं। लेकिन, वे यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग के कर्तव्यों में अन्य के अधिकार की स्वीकृति है और यह भी कि अधिकार को तो स्वेच्छापूर्वक छोड़ा भी जा सकता है, लेकिन, कर्तव्य से कोई छूट नहीं है। यदि भारतीय परंपरा में संपूर्ण जीवन को ऋणशोधन का यज्ञ माना गया है तो यह मूलतः उस समग्रतामूलक अहिंसक दृष्टि से प्रसूत विधान है, जो संपूर्ण सृष्टि के साथ मनुष्य के रिश्तों की एक मर्यादा निर्धारित करता है। इस आधारभूत एकता की अनुभूति और उससे उपजी अहिंसा-दृष्टि के कारण हमारी सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं को ही नहीं, विज्ञान और तकनीकी को भी उसी आधार पर विकसित किया जाना वांछनीय है, जिसमें मानवेतर जगत के साथ हमारा संबंध समन्वय और कृतज्ञता का हो जाता है।

—नंदकिशोर आचार्य

आचारांग : यत्र अप्रमादः तत्र अहिंसा

❑ साध्वी शुभ्रयशा

स्थूल दृष्टि से छोटे-छोटे जीवों को मन, वचन, काया से पीड़ित न करना अहिंसा है। सूक्ष्म दृष्टि से राग, द्वेष के परिणामों से निवृत्त होकर साम्य अवस्था में अवस्थित होना अहिंसा है। आचारांग सूत्र में अहिंसा व अप्रमाद को एक रूप में स्वीकार किया गया है।

❑

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ की साधना का आधारभूत तत्त्व अहिंसा था। उस समय अहिंसा के लिए 'प्रामातिपात विरति' शब्द प्रयुक्त होता था। धीरे-धीरे ज्ञान, विज्ञान और विवेचन बढ़ा, अनुभव बढ़ा, प्राणवध के बिना भी प्रवृत्तियों में दोष प्रतीत हुए—तब ऐसे शब्द की खोज की गई जो केवल प्राणवध का व्यंजक न होकर सदोष प्रवृत्ति-मात्र का व्यंजक हो। इसी खोज की एक निष्पत्ति है—अहिंसा। अहिंसा मूल है। सत्य आदि उसकी सुरक्षा हेतु बनाई गई बाड़ हैं। आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—**अहिंसाः पयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानियत्**—अहिंसा जल है, सत्य आदि उसकी सुरक्षाहित सेतु हैं।[1]

धर्म का मूल भी अहिंसा ही है। भगवान ऋषभ ने अहिंसा की जो धारा प्रवाहित की—वह मध्यकाल में मंद प्रवाह वाली हो गई। लोग यज्ञ, याज्ञ आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियों को धर्म का आधार मानने लगे। ऋषभ के बाद पार्श्व ने अहिंसा की मंद प्रवहमान धारा को गति दी। अहिंसा को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। उसी प्रवहमान धारा को महावीर ने दिशा दी। आप केवल अहिंसा के महान प्रख्याता ही नहीं, प्रयोक्ता भी थे। अहिंसा को सर्वाधिक प्रायोगिक रूप भगवान महावीर ने दिया। महावीर ने 'आचारांग सूत्र' में इसका समग्रता से निरूपण किया है।

'आयारो' में अहिंसा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—किसी भी प्राणभूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए। उनका प्राण वियोजन नहीं करना चाहिए।[2] यह आर्य वचन है।[3] अहिंसा सभी जीवों के लिए कल्याणकारी है।

आचारांग में अहिंसा के लिए **अणुग्घायणस्स**[4] शब्द प्रयुक्त है। भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—**उद्घातनम् हिंसा, अनुद्घातनाम् अहिंसा।**[5] भाष्यकार की व्याख्या चूर्णिकार से भिन्न है। प्रासंगिक है।

अहिंसा क्या?

अहिंसा एक विशुद्ध मार्ग है। यह आचार दर्शन का प्राण तत्त्व है। यह वह धुरी है, जिस पर समग्र आचार-दर्शन प्रतिष्ठित है। आचार की ऊंची मीनार का निर्माण अहिंसा की गहरी नींव पर ही किया जा सकता है। आचारांग में कहा है—**तच्चं चेयं तहा चेयं, अस्सिं चेयं पवुच्चइ।**[6]

अहिंसा धर्म तथ्य है। यह अर्हत् प्रवचन में सम्यक्तः निरूपित है। भाष्यकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—**सर्वे प्राणिनो न हन्तव्याः। इति अहिंसासूत्रं केन प्रतिपादितमिति जिज्ञासायां सूत्रकारेण उत्तरित्तम्इदमर्हता प्रतिपादितम् एतत् शाश्वतं सत्यमस्ति,···· सूचितं भवति।**[7]

सूत्रकार व भाष्यकार ने अहिंसा की त्रैकालिकता को स्वीकार करते हुए कहा है—अहिंसा समस्त जीवों के लिए कल्याणकारी है। अहिंसा की यह विचारधारा महावीर के समय विराट रूप में व्यक्त हुई। अहिंसा का अर्थ मात्र प्राणों का हनन करना ही नहीं है। इसका अर्थ है—मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों को शुद्ध रखना। जीव मरे नहीं, बच गए—यह व्यावहारिक अहिंसा है। अहिंसा का प्रासंगिक परिणाम है। हिंसा के दोषों से हिंसक की आत्मा बची, यह वास्तविक अहिंसा है। हिंसा और अहिंसा का संबंध हिंसक और अहिंसक से होता है। मारे जाने वाले और न मारे जाने वाले से नहीं। दुष्प्रवृत्ति की निवृत्ति का संबंध अहिंसा से है। निवृत्ति एकांत रूप से अहिंसा है।

ग्रंथों में अहिंसा

अहिंसा—आत्मौपम्य की भावना का विकास है। 'सूत्रकृतांग' में भी इसका स्पष्ट निदर्शन है—**आयतुले पयासु**[8]—जैसे तुम्हें दुख प्रिय नहीं है, वैसे अन्य जीवों को भी दुख प्रिय नहीं है। ऐसा जानकर आत्मतुला का अवबोध करना चाहिए।—**आयओ बहिया पास**—स्वयं से भिन्न प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखना अहिंसा है। इसी बात की संपुष्टि करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—**अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो**[9]—सभी प्राणियों के प्रति संयम करना अहिंसा है। अहिंसा का प्रयोजन ही **अत्तहियट्ठयाए**[10]—आत्महित करना है। बौद्ध दर्शन में भी इन्हीं विचारों के तुल्य अहिंसा का प्रतिपादन करते हुए 'सुत्तनिपात' में भगवान बुद्ध ने कहा है—जैसा मैं हूं, वैसे ही ये सभी प्राणी हैं, जैसे ये सभी प्राणी हैं, वैसा ही मैं हूं। इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियों को समझ कर न स्वयं किसी का वध करें, न दूसरों से करवाएं।[11]

पातंजल योगदर्शन में—**तत्र अहिंसा सर्वदा सर्व भूतेष्व नभिद्रोहः**—इस भाव से अहिंसा का आधार आत्मौपम्य की भावना को स्वीकार किया गया है। अहिंसा संबंधित गीता की भावना में भी आचारांग की भावना का प्रतिबिंब दिखाई देता है। जैसे—मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सब प्राणियों को सुख अनुकूल है। जैसे मुझे दुख अप्रिय है, वैसे ही सब प्राणियों को दुख अप्रिय है एवं प्रतिकूल है।[12] इस आत्मतुला की भावधारा से अनुप्राणित हो किसी के साथ प्रतिकूल व्यवहार न करना ही अहिंसा है।

मनोविज्ञान के संदर्भ में आत्मौपम्य का विचार और भी स्पष्ट हो जाता है। जिजीविषा प्रत्येक प्राणी की मौलिक मनोवृत्ति है। जीवित रहने की प्रबल इच्छा अहिंसा का आधार बनती है। जिसमें चेतना का किंचित भी विकास है, वह जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता है। जीने की यह अदम्य आकांक्षा ही व्यक्ति में आत्मौपम्य की भावना का विस्तार करती है। आचारांग में इसके संवादी प्रमाण हैं। सबको जीवन प्रिय है। मृत्यु नहीं, मरना कोई नहीं चाहता।[13] दशवैकालिक में भी कहा है—सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।[14] आगम व दर्शन की विचारधाराओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि अहिंसा एक विराट

शक्ति है। आत्मौपम्य की भावना से अनुप्राणित इस भावधारा को देश-काल की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। यह संस्कृति का प्राण दर्शन और धर्म का मूल आधार है।

आचारांग में अहिंसा का स्वरूप व लक्षण

अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है—**एस धम्मे सुद्धेणिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।**[15]—आत्मज्ञ अर्हतों ने लोक को जानकर इसका प्रतिपादन किया है। भाष्यकार ने इसका स्पष्ट निर्देश किया है—

शुद्धः—रागद्वेषरहितत्वात्।

नित्यः—अपरिवर्तनीय स्वरूपत्वात्।

शाश्वतः—त्रिकालवस्थायित्वात्।

क्षेत्रज्ञेः—प्रवेदितः-आत्मज्ञैः जीवलोकं समेत्य सम्यग् अवबुध्य निरूपितत्वात्[16]

जो धर्म अनात्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित होता है, वह राग-द्वेष से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है। बुद्धि द्वारा कल्पित होने से परिवर्तनशील होता है। विभिन्न विचारों, भेदों वाला होने से त्रिकाल स्थाई नहीं होता। आचार्यश्री तुलसी ने अहिंसा के स्वरूप को काव्य की भाषा में प्रस्तुत करते हुए कहा कि—'कोई भी प्राणी जग का हंतव्य नहीं है। यही अहिंसा धर्म शुद्ध है, अनवरुद्ध है, यही अहिंसा धर्म नित्य है, एकरूप है।'[17]

सूत्रकृतांग में भी आचारांग की तरह अहिंसा के स्वरूप को शुद्ध, नित्य और शाश्वत स्वीकार किया है।

अहिंसा के बारे में जो कुछ कहा गया है—वह तात्कालिक, आनुमानिक विचार नहीं है। किंतु, यथार्थ तथ्य है। दृष्ट है, श्रुत है, मत और विज्ञान है।[18]

दृष्ट का तात्पर्य है—केवल दर्शन के द्वारा साक्षात किया हुआ।

श्रुत का तात्पर्य है—प्रत्यक्ष ज्ञानी द्वारा सुना हुआ है।

मत का तात्पर्य है—सुचिंतित।

विज्ञात का तात्पर्य है—विवेकपूर्वक विवेचन किया हुआ है।

महावीर ने अहिंसा के स्वरूप को आत्मसात करने के लिए निर्देश दिया है, वह अपने आपमें अद्वितीय है। विलक्षण है।

अहिंसा के आधारभूत तत्त्व

अप्रमादः अहिंसा है। अपरिग्रहः अहिंसा है। इन्द्रिय विजयः अहिंसा है।

अप्रमादः अहिंसा—आचारांग में अहिंसा के लिए अनारंभ शब्द प्रयुक्त है।[19] भाष्यकार ने अप्रमाद के लिए भी अनारंभ शब्द का उल्लेख किया है।[20] अप्रमाद और अहिंसा का परस्पर अन्योन्याश्रय संबंध है। आचारांग अप्रमाद के संदर्भ में दी गई दो परिभाषाएं मननीय हैं—

1. वर्तमान का अन्वेषी अप्रमादी होता है।[21]
2. क्षण का ज्ञाता अप्रमादी होता है।[22]

वर्तमान-प्रेक्षी अप्रमत्त व अहिंसक, दोनों का फलित एक ही है। इसी संदर्भ में **सया अप्पमत्तेहिं** सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि जो चैतन्य के प्रति सतत जागरूक होता है, वह वास्तव में अप्रमत्त होता है। अहिंसक भी वही होता है—जो आत्मा के प्रति जागरूक होता है।

स्थूल दृष्टि से छोटे-छोटे जीवों को मन, वचन, काया से पीड़ित न करना अहिंसा है। सूक्ष्म दृष्टि से राग, द्वेष के परिणामों से निवृत्त होकर साम्य अवस्था में अवस्थित होना अहिंसा है। आचारांग.सूत्र में अहिंसा व अप्रमाद को एक रूप में स्वीकार किया गया है। सूत्रकार के अनुसार जो विषय कषाय आदि से प्रमत्त हैं, वे अहिंसा धर्म से बाहर हैं।[23] भाष्यकार के विचारों से भी इसी बात की संपुष्टि होती है—**यत्र अप्रमादः तत्र अहिंसा।** इस दृष्टि से यह व्याप्ति बन गई—'जहां-जहां अप्रमाद, वहां-वहां अहिंसा।'

ओघनिर्युक्ति में कहा गया है कि अप्रमत्त नियमतः अहिंसक होता है। अहिंसक व्यक्ति शुद्ध भाव से अप्रमत्त

रहता हुआ जागरूकता से प्रवृत्ति करता है। उससे जान या अनजान में सहसा प्राणवध हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में भी उसे हिंसक नहीं कहते हैं। इस दृष्टि से अहिंसा व अप्रमाद में अभेद है।

अपरिग्रह : अहिंसा

भगवान महावीर ने लोक-कल्याण की भावना से अनुप्राणित होकर समाज उत्थान के लिए नया चिंतन दिया। आपने कहा—अहिंसा धर्म का सैद्धांतिक रूप है। अपरिग्रह अहिंसा का पूरक है। यह धर्म का व्यावहारिक और प्रायोगिक स्वरूप है। अपरिग्रह का तात्पर्य है—चेतन, अचेतन प्राणियों के प्रति अमूर्च्छा का भाव। पदार्थ का संग्रह करना परिग्रह नहीं है और संग्रह का अभाव मात्र अपरिग्रह नहीं है। यदि ऐसा माना जाए, तब तो अमीर आदमी महापरिग्रही व गरीब व्यक्ति अपरिग्रही हो जाएगा। वास्तव में मूर्च्छा ही परिग्रह है। अपरिग्रह का हेतु अमूर्च्छा या ममत्व विसर्जन है। सजीव, निर्जीव सभी वस्तुओं के प्रति ममत्वरहित चित्तवृत्ति का विकास करना अपरिग्रह है। इस जगत में जितने भी अपरिग्रही व्यक्ति हैं, वे मूर्च्छा न करने के कारण ही अपरिग्रही हैं।[24]

आचारांग सूत्र में कहा है—वीतराग और संयमी पुरुष जन्म और मृत्यु को जानकर अहिंसा और अपरिग्रह में प्रवृत्त होते हैं।[25] वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हम देख रहे हैं कि पदार्थवादी दृष्टिकोण, सुविधावादी दृष्टिकोण अपरिग्रह की चेतना को धूमिल कर रहा है। इससे मानसिक संताप बढ़ रहा है, तनाव बढ़ रहा है और अधिक धन प्राप्त करने की मनोवृत्ति, लालसा की वृत्ति भीतर ही भीतर पनप रही है। इसके कारण ही हिंसक वृत्ति भी पनप रही है। जैसे-जैसे संपदा बढ़ती है, वैसे-वैसे आसक्ति भी बढ़ती है। संपदा की वृद्धि से मानसिक तनाव बढ़ते हैं, उसी के कारण मादक वस्तुओं के प्रति झुकाव बढ़ने लगता है। तनावग्रस्त व्यक्ति अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। परिवार में अपने लोगों के साथ भी उसका व्यवहार अहिंसक नहीं हो सकता। अत: जब तक अपरिग्रह की चेतना का विकास नहीं होगा, तब तक अनर्थ हिंसा, संकल्प हिंसा से नहीं बचा जा सकता। इसीलिए सूत्रकार ने अहिंसा और अपरिग्रह को एक-दूसरे का पूरक बताया है।

इंद्रिय विजय अहिंसा

इंद्रिय हिंसक-अहिंसक नहीं होती, बल्कि इंद्रिय विषयों की आसक्ति हिंसा का कारण बनती है। इंद्रियजयी अहिंसक जीवन-शैली अपनाकर इस दिशा में आगे बढ़ सकता है। इंद्रियासक्ति समस्याओं की जनक हिंसात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है। काम और अर्थ इंद्रिय चेतना से अनुबंधित है। इंद्रियासक्त व्यक्ति अमर की तरह आचरण करता है। सूत्रकार ने कहा है—**अमारायइ महासट्ठी**[26]—इंद्रिय विषयों में आसक्त व्यक्ति विषयों की प्राप्ति न होने पर क्रंदन करता है। प्राप्त विषय नष्ट हो जाने पर शोक करता है। उनके संरक्षण के लिए माया करता है। क्रंदन, शोक और माया के कारण उसके आत्म-परिणाम हिंसक बन जाते हैं। इसके विपरीत इंद्रियजयी व्यक्ति अहिंसा का पालन कर सकता है।

अहिंसक व्यक्ति इंद्रिय विजय के लिए पौद्गलिक संबंधों का त्याग कर, मन को शांत कर इंद्रिय-विजय की साधना करता है। आचारांग भाष्य में कहा है—**उपशांतस्य अचिरात् कर्म-क्षयो भवति। तस्माद् उपशांत् पुरुषः सदा इति यावज्जीवं आत्मार्थं यतते।**[27] —इंद्रियां या मन शांत होने से व्यक्ति जीवन-पर्यंत आत्मा के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह ऐसा आचरण करता है, जिससे वह आत्मा के निकट रह सके, स्वरूप को प्राप्त कर सके। अत: स्वभाव के निकट रहना अहिंसा की दिशा में पराक्रम करना है।

आधुनिक युग में हम देख रहे हैं कि एक व्यक्ति इंद्रिय विषयों में आसक्त होकर निरपराध प्राणियों की हिंसा करता है। इस हिंसा का मुख्य प्रयोजन इंद्रिय-वासना की पूर्ति है। प्रसाधन का बाजार इसे उत्तेजक बनाता है। विज्ञापन का आलंबन पाकर बाजार की वस्तुएं घर बैठे 'टी.वी.' के माध्यम से उपभोक्ता के आकर्षण का केंद्र बन जाती हैं।

अहिंसा में विश्वास रखने वाला, उसके अनुसार

जीवनयापन करने वाला, इंद्रिय विजयी व्यक्ति इस प्रकार की प्रसाधन सामग्री से, इस प्रकार के मनोरंजक द्रव्यों के सेवन से अपने आपको दूर रखता है। सूत्रकार ने कहा है—वीर पुरुष हिंसा-कर्म में लिप्त नहीं होता। अहिंसात्मक चित्तवृत्ति का विकास करके इंद्रियजयी की दिशा में गति की जा सकती है।

समस्या समाधान में अहिंसा का योगदान

वर्तमान समय में पर्यावरण एक समस्या है। इसका संतुलन या समाधान अहिंसा में निहित है। असंतुलन के कारण कहीं अतिवृष्टि हो रही है, कहीं अनावृष्टि की समस्या है। कहीं भूस्खलन हो रहा है, तो कहीं सुनामी जैसा विध्वंस मानवता के विकास को चुनौती दे रहा है। पिछले दो दशकों से ये समस्याएं अधिक व्यापक हो रही हैं। तापमान की दृष्टि से आने वाला हर वर्ष पिछले वर्षों के रिकार्ड तोड़ रहा है। मजदूर से लेकर मालिक के हाथ का हर 'मोबाइल' सूचनाओं के साथ-साथ खतरे की घंटी भी बजा रहा है। मोबाइल से निकलने वाली तरंगें कितनी घातक हैं, इसे वैज्ञानिकों द्वारा किए गए परीक्षणों से समझा जा सकता है। मुर्गी के नवजात अंडे के दोनों ओर 'ऑफ' करके 'मोबाइल फोन' को रखा जाए तो वह अंडा आठ घंटे में नष्ट हो जाता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इन तरंगों का दुष्प्रभाव मनुष्य व अन्य जीव-जंतुओं पर कितना पड़ता है।

अनुमान है कि आज से दस वर्ष बाद 'मोबाइल' की तरह 'इंटरनेट' भी हर व्यक्ति के 'पॉकेट' में सुलभ होगा। सृष्टि के असंतुलन में इसकी कितनी व कैसी भूमिका रहेगी—अनुमान लगाना कठिन नहीं है, आज यह अनुभव किया जा रहा है। जिस स्थान पर 'मोबाइल-टावर' बने होते हैं, उसके आस-पास के स्थान का तापमान बढ़ जाता है। इसी प्रकार घर-घर में 'एयर कंडीशनर' की व्यवस्था भी वातावरण में बहुत असंतुलन पैदा कर रही है। वैज्ञानिक विकास के संसाधन—ये यंत्र जनता के हाथ में थमाए जा रहे हैं, किंतु विवेक का अभाव होने से लोग इनका दुरुपयोग कर रहे हैं। 'मोबाइल' पर निष्प्रयोजन घंटों-घंटों बातचीत करना, बिजली का, पानी का असंयम करना, अंधाधुंध वनों की कटाई करना—अपने ही जीवन के साथ खिलवाड़ करना है। पेड़-पौधे व पशु-पक्षियों के जीवन को समाप्त करना अथवा उनका अप्राकृतिक तरीके से दोहन करना भी इसी दिशा में बढ़ते कदम हैं।

इन परिस्थितियों में पर्यावरण की सुरक्षा और संतुलन के लिए अहिंसा अभेद्य कवच की तरह है। प्रदूषण की रोकथाम का उपाय है—संयम। वैयक्तिक संयम व सामूहिक संयम की चेतना का जब तक विकास नहीं होगा, तब तक समाधान नहीं हो सकेगा। आचारांग सूत्र में कहा है—**तम्हा ण हंता ण विघायए**[28]—प्राणियों का प्राणवियोजन न करें और न उसका घात करें। महावीर के ये वचन संयम की चेतना को जगाने वाले हैं। संयम, आत्मौपम्य भाव का विकास होने पर अहिंसा की साधना स्वत: फलीभूत हो जाएगी। अहिंसा प्रधान जीवनशैली को जीने वाला प्रतिस्पर्धा के युग में भी सुख की सांस ले सकेगा। आचारांग सूत्र में कहा है—

जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ।।[29]

अपकाय जीवों के संदर्भ में कहा कि जो लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, वे अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो लोग पर्यावरण का असंतुलन करते हैं, वे स्वयं का भी नुकसान करते हैं।

अहिंसा संतुलन का सृजन करने वाली है। पर्यावरण का संतुलन अहिंसा के द्वारा ही संभव है, जो विश्व व्यवस्था के लिए वरदान हो सकता है।

शिक्षा की पूर्णता : अहिंसा

पिछले कुछ वर्षों से भारत में शिक्षा का 'ग्राफ' ऊपर उठने लगा है। साक्षरता अभियान के तहत भी लोगों के मनों में शिक्षा ग्रहण करने के प्रति रुझान बढ़ा है। किंतु, गांवों की आबादी की दृष्टि से शिक्षा का स्तर काफी नीचे है। अशिक्षा ही अज्ञान को जन्म देती है। महावीर की समता, बुद्ध की करुणा और ईसामसीह के

प्रेम का उल्लेख पाठ्यक्रमों में किया तो जाता है, पर उसे उचित बल नहीं मिलने से विद्यार्थी के मन में सात्त्विक गुणों की छाप नहीं पड़ सकती। हिंसा के 'हिटलर' जब मस्तिष्क में रेंगने लगते हैं, तब किशोरावस्था के बच्चे भी हिंसा से उन्नत, सुविधावादी जीवन जीने के सपने देखने लगते हैं। उन सपनों को आकार देने में आतंककारी प्रशिक्षण केंद्र बड़ी भूमिका निभाते हैं। जो बच्चे भारत का शुभ भविष्य बनने वाले होते हैं, वे ही बच्चे अशिक्षा के कारण हिंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं, देशभक्त के स्थान पर देशद्रोही बन जाते हैं।

उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी का शारीरिक व बौद्धिक विकास का पलड़ा भारी होता है, किंतु मानसिक व भावनात्मक विकास जैसा होना चाहिए, वैसा न होने से वे संवेगों पर नियंत्रण नहीं रख पाते और उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी भी हिंसक घटनाओं में लिप्त हो जाते हैं और हिंसा में सहभागिता निभाते हैं। यदि शिक्षार्थियों को प्रारंभ से ही अहिंसा प्रशिक्षण दिया जाए। पाठ्यक्रम में मूल्यों के विकास का शिक्षण दिया जाए, तो अहिंसा के संस्कार—दया, प्रेम, मैत्री का विकास हो सकता है और नियंत्रण की क्षमता आ सकती है। **'अहिंसा परमो धर्मः'**—यह सूक्त विद्यार्थियों के जीवन का सुरक्षा कवच बन सकता है।

भ्रष्टाचार का समाधान : अहिंसा

जो जितना बड़ा आदमी है, वह उतना ही बड़ा भ्रष्टाचार करके राजनीति में अपनी साख जमा रहा है—यह दुर्भाग्य है। कौन व्यक्ति ऐसा है, जो इससे ऊपर उठा हुआ है—यह चिंतन का विषय है। यह कदाचार हर समय किसी न किसी रूप में विद्यमान है। जो भारत सोने की चिड़िया कहलाता था, क्या तब भी भ्रष्टाचार था? भारत आज स्वतंत्र है, पर भ्रष्टाचार आज भी है। बताते हैं कि घोटालों में करीब 91.06 लाख करोड़ रुपए स्वाहा हो गए। देश के विकास में यदि लगते तो कहानी कुछ और ही होती। व्यक्ति के भीतर अहिंसा की चेतना का अभाव ही इसका कारण माना जाएगा।

घोटाले वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जिनके भीतर करुणा का रस सूख जाता है। ऐसे लोग बंदूक लेकर सामने से वार नहीं करते, किंतु अपनी क्रूर वृत्ति के कारण पीछे से ऐसा वार करते हैं—जिसके कारण अनेक व्यक्ति एक साथ कष्टानुभूति झेलते हैं। उनके हालात आधे जीने और आधे मरने जैसे हो जाते हैं। चाहे सत्ता का क्षेत्र हो या चिकित्सा का, शिक्षा का वर्ग हो या व्यापारी का—सभी किसी न किसी रूप में इस वृत्ति के संपोषक हैं। जब तक जीवन में करुणा का विस्तार नहीं होगा, अहिंसा की भावना का वटवृक्ष हृदय में नहीं लहलहाएगा।

हिंसा व गरीबी : समाधान अहिंसा

हिंसा और गरीबी वर्तमान समय की बड़ी समस्या है। अहिंसा यात्रा के दौरान गरीब लोगों से रू-बरू होकर जाना कि भारत में आज भी कितने ही लोग हैं, जिन्हें दो समय का भरपेट भोजन नहीं मिलता। पोषक आहार की तालिका तो उनके लिए सपना है। आचारांग सूत्र में हिंसा के जो कारण बतलाए हैं, उनमें दो गरीबी के कारण पैदा होने वाली हिंसा पर घटित होते हैं—1. जिजीविषा के लिए और 2. दुख प्रतिकार के लिए।[30]

जीवित रहने की प्रबल इच्छा भी व्यक्ति को हिंसक बनाती है। जीवनयापन के लिए करणीय-अकरणीय का विवेक न करते हुए गरीब व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। जिसका पेट खाली होता है, वह जीवन-व्यवहार में अहिंसा का आचरण नहीं कर सकता। अलबत्ता यह विवशता से की जाने वाली हिंसा है। यदि संपन्न लोग क्रूरता से मुक्त होकर उन्मुक्त भाव से विपन्न लोगों का सहयोग करेंगे। विवशता-वश होने वाली हिंसा पर इसी तरह नियंत्रण किया जा सकता है। जिजीविषा और जीवनयापन के लिए की जाने वाली हिंसा व गरीबी के कारण होने वाली हिंसा घर-घर में हो रही है। गरीब के लिए उचित शिक्षा का अभाव, निष्पक्ष न्याय का अभाव, उचित आजीविका के साधनों का अभाव—इन सभी अभावों से पीड़ित होकर व्यक्ति आक्रामक बन जाता है। अभाव को सद्भाव में बदलने के लिए अहिंसा की चेतना का विकास आवश्यक है।

शास्त्रकारों ने आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक—तीन प्रकार के दुखों का विवेचन किया है। विपन्न व्यक्ति दुख का सामना करने में असमर्थ होता है, तब आर्त और रौद्र प्रवृत्ति से कर्म-बंधन करता है। आचारांग में कहा है—हिंसा अहित के लिए होती है, अबोधि के लिए होती है।[31] अज्ञान बड़ा दुख है। गरीबी और निरक्षरता का भी तालमेल है। दुख स्वयं हिंसा है। यह निषेधात्मक चिंतन है। निषेध-चिंतन आत्मा का हनन करता है। दुख की अनुभूति करने वाला सबसे पहले अपना अहित करता है।

अहिंसा प्रशिक्षण : हिंसा पर अहिंसा की विजय

हम चिंतन करें, क्या जीने के लिए हिंसा आवश्यक है? जीवन में अहिंसा का विकास करने के लिए हमें अनावश्यक हिंसा को छोड़ना होगा। इसके लिए जरूरी है कि हम अपनी इच्छाओं व आकांक्षाओं का संयम करें, तभी अहिंसा व्यवहार्य हो सकती है।

हृदय परिवर्तन अहिंसा का प्राणतत्त्व है। प्रेक्षाध्यान के अंतर्गत दो हृदयों की चर्चा की जाती है। एक है—'पंपिंग' करने वाला हृदय और दूसरा हृदय है—'हाइपोथेलेमस'—जो हमारे मस्तिष्क में है। हृदय परिवर्तन का आधार कानून या दंड नहीं हो सकता, इसका आधार बनता है—व्यक्ति की अपनी इच्छा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अहिंसक प्रशिक्षण की चर्चा करते हुए कहा—'हमारे 'इमोशंस' का उत्पत्ति स्थल 'लिंबिक सिस्टम' है और उसका एक भाग है—'हाइपोथेलेमस'। चेतना के स्तर पर अहिंसा की बात समझ में नहीं आ सकती। अतः अहिंसा प्रशिक्षण के लिए चेतना के सूक्ष्म स्तरों तक जाना अपेक्षित है। हमारे शरीर के भीतर दो सूक्ष्म शरीर हैं—'शटल बॉडी' (तैजस शरीर) और 'शटलेट बॉडी' (कार्मण शरीर)। अहिंसा प्रशिक्षण के लिए इन शरीरों तक पहुंचना जरूरी है। हृदय परिवर्तन के प्रयोग ही अहिंसा के प्रशिक्षण के प्रयोग हैं।[32]

केवल सिद्धांत के आधार पर अहिंसा व्यावहारिक नहीं बन सकती। इसके लिए प्रशिक्षण, प्रयोग करना आवश्यक है। हम देखते हैं कि विश्व में अरबों रुपए खर्च करके सैनिकों को हिंसा का प्रशिक्षण दिया जाता है। आतंकवादियों को भी प्रशिक्षित करके कार्यक्षेत्र में उतारा जाता है। अहिंसा के प्रयोगों से भी हजारों-लाखों लोगों का मस्तिष्क बदला जा सकता है। हमारा मस्तिष्क बहुत लचीला है। इसमें बदलने की क्षमता है। हम देखते हैं कि दरवाजा जब छोटा होता है, तो व्यक्ति झुक कर उसमें से निकल जाता है। इसका अर्थ हुआ जड़ में, अचेतन में कोई बदलाव नहीं हो सकता, पर चेतन झुक सकता है, समाधान खोज सकता है, उसके पास 'रीजनिंग माइंड' है। हमारा मस्तिष्क अहिंसा प्रशिक्षण के लिए तैयार हो सकता है। जब वैज्ञानिक इस दिशा में लोगों को प्रेरित करेंगे, तभी हिंसा पर अहिंसा की विजय संभव है। हमारे मस्तिष्क को जैसा प्रशिक्षण मिलता है, वह वैसा बन सकता है। अहिंसा में विश्वास रखने वाली शक्तियां एकजुट होकर यह संकल्प करे कि हमें इस दिशा में प्रस्थान करना है, तो वह दिन दूर नहीं, जब जगह-जगह अहिंसा प्रशिक्षण केंद्र शुरू हो सकते हैं। यदि शासन इस दिशा में सहयोग करे और प्रशिक्षण के कार्य को आगे बढ़ाए, तो यह कार्य और भी सुगमता से हो सकता है।

अहिंसा के विकास का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—महापथ की साधना का। प्रेक्षाध्यान के अंतर्गत इसे अंतर्यात्रा के संदर्भ में जाना जा सकता है। सूत्रकार ने कहा है—**पणया वीरा महावीहिं**।[33] वीर पुरुष महापथ के प्रति समर्पित होते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में वीर से तात्पर्य है—अहिंसा के प्रति समर्पित व्यक्ति। अहिंसा एक महान मार्ग है। उसके प्रति कायर व्यक्ति समर्पित नहीं हो सकता। कोई पराक्रमी व्यक्ति ही इस पथ पर आगे बढ़ सकता है। भाष्यकार ने इसे सुगमता से समझाते हुए कहा है—महापथ का अर्थ कुंडलिनी, प्राणधारा भी है। पराक्रमी साधक इस प्राणधारा के प्रति समर्पित हो जाता है और पृष्ठरज्जु के माध्यम से प्राणधारा को मस्तिष्क की ओर प्रवाहित कर देता है। इस तरह उसके हिंसा के संस्कार समाप्त हो सकते हैं।[34] यह प्रयोग हिंसा की समस्या का समाधान देने वाला है। हिंसा के संस्कार नष्ट होते ही व्यक्ति अहिंसक माना जा सकता है। ऐसा

समाज, संगठन व राष्ट्र किसी भी परिस्थिति में हिंसा नहीं कर सकता। अहिंसा की भावना से ओत-प्रोत उसकी हर क्रिया अहिंसामय होती है। ऐसे प्रयोगों से उसकी चेतना, उसकी ऊर्जा, उसकी प्राणधारा अहिंसा के संस्कारों से भावित हो जाती है। ❖

संदर्भ :

1. अहिंसा तत्त्व दर्शन (उद्धृत) हारिभद्रीय अष्टक
2. आचारांग सूत्र 8/2
3. वही 4/24
4. वही 2/181
5. आचारांग भाष्य, पृष्ठ 153
6. आचारांग सूत्र 4/4
7. आचारांग भाष्य, पृष्ठ 207
8. सूत्रकृतांग 1/10/3
9. दसवेआलियं 6/8
10. वही 4/17
11. सुत्तनिपात 3/37/27
12. गीता 6/32
13. आचारांग सूत्र 2/64
14. दसवेआलियं 6/10
15. आचारांग सूत्र 4/2
16. आचारांग भाष्य, पृष्ठ 208
17. अर्हत्वाणी पद्य 6
18. आचारांग सूत्र 4/9
19. वही 5/19
20. आचारांग भाष्य, पृष्ठ 245
21. आचारांग सूत्र 5/21
22. वही 2/24
23. वही 5/37
24. वही 5/39
25. वही 5/34
26. वही 2/137
27. आचारांग भाष्य, पृष्ठ 226
28. आचारांग सूत्र 3/53
29. वही 1/1/39
30. आचारांग सूत्र 1/10
31. वही 1/23
32. अहिंसा और शांति, पृष्ठ 88
33. आचारांग सूत्र 1/37
34. आचारांग भाष्य, पृष्ठ 46

❖❖

श्रमण महावीर की अहिंसा अवधारणा आज भी प्रासंगिक

❑ मुनि राजेंद्रकुमार

जो अहिंसा आत्मलक्ष्य और आत्मविकास की भूमिका तक सीमित थी, वही अहिंसा विश्व में शांति, सह-अस्तित्व, मैत्री, सहिष्णुता, विश्वबंधुत्व आदि को स्थापित करने के लिए नितांत अपेक्षित बन गई। भगवान महावीर ने अहिंसा के उन सूत्रों का प्रतिपादन किया, जिनकी आवश्यकता और प्रासंगिकता आज सारे विश्व में है।

❑

व्यक्ति हिंसा और अहिंसा—इन दो आयामों में जीता है। हिंसा व्यक्ति का विभाव है और अहिंसा स्वभाव। विभाव का स्वभाव में रूपांतरण करना अहिंसा है और विभाव का विभाव के रूप में बने रहना हिंसा है। इस प्रकार कभी हिंसा का पलड़ा भारी रहता है और कभी अहिंसा का। जब तक शरीर है, प्रवृत्तियां हैं, राग-द्वेष का चक्रव्यूह है—तब तक एक गृहस्थ के लिए संपूर्णतः और अनिवार्यतः हिंसा छोड़ना अशक्य रहता है। प्रकारांतर से यह भी कहा जा सकता है कि हिंसा जीवन की अशक्यता है, पर वह स्वभाव नहीं है, इसलिए उसे मिटाया जा सकता है। अहिंसा की पोथी को पढ़ना और उसे आत्मसात करना कठिन हो सकता है, किंतु असंभव नहीं है। भगवान महावीर ने अहिंसा के विषय में जो कुछ कहा, जीवन भी वैसा ही जीया। उनकी कथनी-करनी में समानता थी। उनकी अहिंसा केवल सैद्धांतिक ही नहीं थी, वह जीवन-व्यवहार्य भी थी। उन्होंने अहिंसा को जीवन में साकार किया। जो अहिंसा को जीना जानता है वही अहिंसा का प्रवक्ता हो सकता है। प्रायोगिक जीवन के बिना अहिंसा का प्रवक्ता कोई नहीं हो सकता और न वह सिद्धांत बन सकता है।

जैन आगम भगवान महावीर की वाणी है। गणधरों ने उस वाणी का गुंफन कर उसे ग्रंथाकार रूप दिया। वे ग्रंथ ही जैन आगम के नाम से विश्रुत हुए। उन ग्रंथों में अपार श्रुतराशि का समावेश हुआ है और जगह-जगह अहिंसा के सूत्र प्राप्त होते हैं। हिंसा को जानने के लिए अहिंसा को समझना आवश्यक है और अहिंसा को समझने के लिए हिंसा को जानना भी आवश्यक है। दोनों एक ही

सिक्के के दो पहलू हैं। भगवान महावीर ने अहिंसा के संदर्भ में कहा—**'अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो'**।[1]—सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है। संयम को छोड़ कर अहिंसा-तत्त्व को नहीं समझा जा सकता और असंयम को छोड़ कर हिंसा को नहीं समझा जा सकता। जहां संयम है, वहां निश्चित ही अहिंसा है। जहां असंयम है, वहां हिंसा है ही। संयमी कौन हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में जैन आगमों में कहा गया—

जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं।।[2]

जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है। जीव और अजीव—दोनों को जानने वाला ही संयम को जान सकता है।

जो न तो जीवों को जानता है, न अजीवों को जानता है—वह संयम को कैसे जान सकेगा? इसलिए सर्वप्रथम हिंसा-अहिंसा को जानने के लिए जीव-अजीव के बीच विभाजक रेखा खींचनी आवश्यक है। तभी वह हिंसा से उपरत हो सकता है और अहिंसा का पालन कर सकता है।

जैन आगमों के अनुसार भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर ने पांच महाव्रतात्मक धर्म का निरूपण किया और शेष बाईस तीर्थंकरों ने चतुर्याम धर्म का निरूपण किया।[3] इससे यह फलित होता है कि धर्म का मौलिक स्वरूप अहिंसा है। सत्य आदि अन्य महाव्रत अहिंसा का विस्तार हैं। इसलिए आचार्यों ने लिखा—**'अवसेसा तस्स रक्खट्ठा'**—शेष महाव्रत तो अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा के लिए हैं।[4] प्रस्तुत तथ्य को उदाहरण के द्वारा इस प्रकार भी समझाया जा सकता है—'अहिंसा' धान है। सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले बाड़े हैं।[5] 'अहिंसा जल है और सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं।[6] इसका तात्पर्य यह है कि सत्य आदि महाव्रतों को अहिंसा से पृथक नहीं माना जा सकता। वे अहिंसा के ही प्रतिरूप हैं।

तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि राग-द्वेष का उत्पन्न न होना अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है। आत्मा की शुद्ध परिणति अहिंसा है और मलिन परिणति हिंसा है।

जब मनुष्य पाषाण युग से पारिवारिक अथवा सामाजिक युग में आया, तब वह सामुदायिक जीवन बिताने लगा, संगठित होकर रहने लगा। वहां अहिंसा की भावना का आधार किसी को न मारना, किसी को न सताना और किसी को कष्ट न देने का बना। धीरे-धीरे उसका विकास राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय स्तर तक व्यापक होता चला गया। जो अहिंसा आत्मलक्ष्य और आत्मविकास की भूमिका तक सीमित थी, वही अहिंसा विश्व में शांति, सह-अस्तित्व, मैत्री, सहिष्णुता, विश्वबंधुत्व आदि को स्थापित करने के लिए नितांत अपेक्षित बन गई। भगवान महावीर ने अहिंसा के उन सूत्रों का प्रतिपादन किया, जिनकी आवश्यकता और प्रासंगिकता आज सारे विश्व में है। अहिंसा के वे कौन-कौन-से तत्त्व हैं और उनकी वर्तमान में क्या मूल्यवत्ता और उपयोगिता है—इस संबंध में यहां कुछ चर्चा करना प्रासंगिक होगा।

आत्मौपम्य-दृष्टि

भगवान महावीर की मौलिक और महत्त्वपूर्ण देन है—आत्मौपम्य। सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान जानो। केवल देहधारी जीवों को ही नहीं, षड्जीवनिकाय मात्र जीवों को आत्मवत मानो। षड्जीवनिकाय की प्रस्थापना भी भगवान महावीर की एक अलौकिक और दुर्लभ अवधारणा है। किसी दूसरे दर्शन में इस मान्यता अथवा अवधारणा को स्थान नहीं मिला। भगवान महावीर ने ही षड्जीवनिकाय के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। हमारा जगत मात्र मनुष्य, पशु-पक्षियों का ही जगत नहीं है। वह स्थूल जगत है। उससे आगे भी एक सूक्ष्म जगत है। वह जगत है—पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तैजसकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों का।[7] ये सूक्ष्मजीव दृग्गोचर नहीं होते। यही कारण है कि स्थूलदृष्टि से देखने वालों ने इनके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। भगवान ने

इनके अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए कहा—

से बेमिह्मणेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा,
णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।
से लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ।[8]

मैं कहता हूं—व्यक्ति न लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करे और न अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करे। जो लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जो अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।

इसका फलित यह है कि जो व्यक्ति अपने अस्तित्व को नकारता है, वह दूसरों के अस्तित्व को भी नकारता है। अपने अस्तित्व को स्वीकार करना ही वास्तव में दूसरे जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करना है, सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को स्वीकार करना है।

इस प्रकार यह सारा संसार स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकार के जीवों से भरा पड़ा है। यदि भगवान महावीर के 'आत्मवत' सिद्धांत को देखें तो कोई भी किसी जीव को मारने का अधिकारी नहीं है। आदमी यदि अपनी विवशता अथवा अनिवार्यता से किसी के प्राणों का व्यपरोपण करता है, तो वह हिंसा ही है। भगवान महावीर ने कहा—प्रत्येक प्राणी में, चाहे वे स्थूल हों अथवा सूक्ष्म, सभी में समान रूप से सुख की कामना होती है, दुख के निवारण की इच्छा होती है। उनमें प्रियता-अप्रियता की वृत्ति भी समान होती है। सूक्ष्म जीवों में चाहे व्यक्त चेतना न भी हो, किंतु सुख-दुख का संवेदन तो उनमें भी विद्यमान है। इसलिए अहिंसा के साधक को उपदेश दिया गया—'**अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।**'[9]—छह जीवनिकाय को अपनी आत्मा के समान समझो।—'**आयतुले पयासु**'[10]—प्रत्येक प्राणी की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझो। भगवान ने मानवीय धरातल का स्पर्श करते हुए यहां तक कह दिया—हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, वह तेरे जैसा ही सुख-दुख का अनुभव करने वाला प्राणी है। जिस पर तू शासन करने की इच्छा करता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसे तू दुख देना चाहता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसे तू अपने वश में करने की इच्छा करता है, वह तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसके तू प्राण लेना चाहता है, वह भी तेरे जैसा ही प्राणी है।[11]

इन तथ्यों के प्रतिपादन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने सिवाय पराया कौन हो सकता है? तू किसको मारना चाहता है? जब कोई पराया है ही नहीं, तू किसको मारेगा? क्या दूसरों को दूसरा समझ कर मारना, स्वयं की मृत्यु नहीं है? जब आत्मतुला पर सब समान हैं, तब अपने और पराए का भेद नहीं किया जा सकता। शरीर की दृष्टि से, वर्ण की दृष्टि से, ऊंच-नीच की दृष्टि से और जाति की दृष्टि से मनुष्य भले ही दूसरों को असमान माने, किंतु आत्मौपम्य की दृष्टि से सभी जीव समान हैं। वे कभी हंतव्य नहीं हो सकते। मनुष्य की दुर्बलता है कि उसने अपनी बुद्धि से स्व-पर की सीमा को निर्धारित कर लिया। उसका परिणाम हुआ कि आज का मानव, मानव की शक्ल से ही डर रहा है। मानव ही मानव को मार रहा है। हिंसा को बढ़ावा मिल रहा है, अहिंसा का ह्रास हो रहा है। इस स्थिति में आवश्यक है कि मनुष्य '**आयतुले पयासु**' जैसे सिद्धांत के दर्पण में दूसरों को देखे। यदि मनुष्यमात्र में आत्मौपम्य की विचारधारा घटित हो जाती है, तो वर्तमान युग की आतंक की समस्या, शस्त्रीकरण की समस्या, आक्रमण की समस्या, भय की समस्या और स्व-पर-भेद की समस्या स्वतः समाहित हो जाएगी और फिर न कोई मारने वाला होगा और कोई मरने वाला। अहिंसा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाएगी।

अपरिग्रह

अहिंसा का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है—अपरिग्रह परम धर्म है। अपरिग्रह और अहिंसा एक ही वस्त्र के दो छोर हैं। किसको पकड़ा जाए, किसको छोड़ा जाए? यह एक अहम प्रश्न है। आज सब जगह अहिंसा की पूजा है। सर्वत्र एक ही घोष सुनाई देता है—अहिंसा

परमो धर्मः।[12] अहिंसा उत्कृष्ट धर्म है। अपरिग्रहः परमो धर्मः—अपरिग्रह परम धर्म है—यह घोष किसी ने नहीं किया। क्या अपरिग्रह के बिना अहिंसा के तत्त्व को समझा जा सकता है? अहिंसा और अपरिग्रह दूध और मिस्री की तरह ऐसे घुले-मिले हुए हैं कि दोनों को कभी अलग नहीं किया जा सकता। जैसे दूध में मिठास का अनुभव शर्करा के द्वारा होता है और शर्करा में दुग्धत्व का अनुभव दूध के द्वारा होता है। वैसे ही अहिंसा के द्वारा अपरिग्रह फलित होता है और अपरिग्रह के द्वारा अहिंसा फलित होती है। हम अहिंसा के आदर्श की बात करें और उसके साथ परिग्रह भी जुड़ा रहे—वहां अहिंसा सार्थक नहीं हो सकती।

भारतीय चिंतन में चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म और मोक्ष पारमार्थिक तत्त्व हैं, अर्थ और काम ऐहिक तत्त्व हैं। इस संसार में जीवन को चलाने के लिए अर्थ और काम को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता, अतः आज की आर्थिक दौड़ में कोई पीछे नहीं है। प्रतिस्पर्धा में सब आगे निकलने की तैयारी कर रहे हैं। मानना चाहिए कि आज के युग में परिग्रह ही मुख्य विषय बन गया है। चिंतन का विषय भी आर्थिक समानता और आर्थिक विषमता—इन दो बिंदुओं का स्पर्श कर रहा है। अर्थशास्त्रियों का चिंतन है कि यदि समाज में आर्थिक विषमता रहेगी, तो हिंसा बढ़ेगी। यदि आर्थिक समानता रहेगी, तो हिंसा को पनपने का अवसर कम मिलेगा। अगर कोई गहराई से अध्ययन करे तो हिंसा का मुख्य कारण है—परिग्रह। परिग्रह के लिए मनुष्य न जाने कितने-कितने हथकंडों को अपनाता है, कितने अनैतिक कार्य करता है। हिंसा कभी भी हिंसा के लिए नहीं होती। वह होती है शरीर के लिए, परिवार के लिए, सत्ता के लिए, सुख-सुविधा और ऐशो-आराम के लिए तथा धन संचय करने के लिए। ये सब परिग्रह के विविध रूप हैं। कोई अहिंसा की अनुपालना भी करना चाहे और परिग्रह का अर्जन भी करना चाहे—तो यह बात एक म्यान में दो तलवार रखने जैसी होगी। पर, परिग्रह के साथ हिंसा का अनुबंध निश्चित है। भगवान ने कहा है—**'ण एत्थ तवो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति'**[13]—जो परिग्रही है, उसमें न तप होता है, न दम होता है और न उसके लिए कोई नियम ही होता है। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि उसका येन-केन-प्रकारेण धन संचय का ही लक्ष्य रहता है। वह सोचता है—**'अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे।'**[14] मैं वह करूंगा जो आज तक किसी ने नहीं किया है। यह मानते हुए कि वह विपुल अर्थार्जन के लिए प्रवृत्त होता है, मनोविज्ञान ने इसे अहं-संबद्ध अभिप्रेरणा माना है।

यह एक सचाई है कि परिग्रह की चेतना को लोभ की वृत्ति संचालित कर रही है। जहां लाभ होता है, वहां लोभ रुक नहीं सकता। वह उसे और अधिक गति देता है, इसलिए भगवान ने कहा—**'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई'**[15]—जैसे लाभ होता है, वैसे ही लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। इस दुनिया में अनेक ऐसे लोग हैं, जिनके पास अपार धन-संपत्ति है। उनकी सुख-सुविधा धनकुबेरों से तुलित होती है, फिर भी वे लोग सुखी नहीं हैं। जो दुख को सुख मान कर उसी को अपना रहे हैं—वे दुख को खुला आमंत्रण दे रहे हैं। इसलिए आगमों में कहा गया—**'वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं।'**[16] धन दुख बढ़ाने वाला है। भगवान ने यह कभी नहीं कहा—तुम परिग्रह को अथवा धन को सर्वथा छोड़ दो। जो मुनि होता है उसके लिए 'अपरिग्रह' का सिद्धांत शाश्वत और सदा आचरणीय होता है। उसके लिए मिट्टी का ढेला और कंचन समान होते हैं। किंतु, जो एक गृहस्थ होता है, उसके लिए इच्छा का परिमाण एक स्थाई समाधान हो सकता है। इच्छा का अल्पीकरण परिग्रह और आरंभ को एक सीमा में बांध देता है।

आगमकारों ने परिग्रह के उन बीज तत्त्वों को भी खोजा जिनके कारण मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होता है। उन्होंने पहला कारण बताया कि जो मनुष्य सुखार्थी होता है, बार-बार सुख-सुविधा की आकांक्षा करता है—वह निश्चित ही हिंसा में प्रवृत्त होता है। दूसरा कारण है कि जो व्यक्ति मोहग्रस्त होता है, वह कभी अपना हित-

अहित, कार्य-अकार्य, वर्ज्य-अवर्ज्य का विभेद नहीं कर सकता। वह भी अपने सुख के लिए हिंसा को नहीं छोड़ सकता।

जिन साधनों से व्यक्ति को अधिक से अधिक अर्थार्जन होता है अथवा प्रसाधन सामग्री के निर्माण के लिए भी व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त होता है। प्रसाधन सामग्री को जुटाने के लिए मनुष्य कितने-कितने मूक और निरीह प्राणियों का वध करता है। वहां उसकी दया-मया परिग्रह को पाने के लिए पलायित हो जाती है। उसकी क्रूरता शरीर-विभूषा में समाहित हो जाती है। इसलिए भगवान ने कहा—'कुछ व्यक्ति शरीर के लिए या दांत पाने के लिए हाथी आदि को मारते हैं। कुछ व्यक्ति बलि आदि के लिए बकरे, भेड़, पाडा आदि को मारते हैं। कुछ व्यक्ति चर्म आदि को पाने के लिए सिंह, बाघ, चीता, हरिण आदि को मारते हैं। कुछ लोग मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पांख, पूंछ, केश, सींग, दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा आदि अवयवों को प्राप्त करने के लिए विविध जीवों का वध करते हैं।[17]

इस प्रकार चारों ओर हिंसा ही हिंसा फैली हुई है। उसका मुख्य कारण परिग्रह ही है। लोगों ने पशुओं के अवयवों को बेचने का भी एक बहुत बड़ा व्यवसाय बना लिया है। इससे उन्हें भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। इसलिए आज परिग्रह की समस्या हिंसा से भी अधिक जटिल बनी हुई है। यदि अहिंसक चेतना के साथ अपरिग्रह की चेतना जागृत हो जाती है, तो उससे आर्थिक समस्या को एक नया समाधान मिल सकता है। निरीह और मूक प्राणियों को नया जीवन मिल सकता है। अर्थ-संग्रह और इच्छाओं का परिसीमन हो सकता है। अनैतिक साधनों से अर्थार्जन करने का संयम हो सकता है। धन संचय की मनोवृत्ति पर अंकुश लग सकता है। उसका फलित होगा कि अहिंसा अपने आपमें और अधिक तेजस्वी बनेगी। यह सब तब होगा जब व्यक्ति की परिग्रह के प्रति मूर्च्छा कम होगी अथवा—**'जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं'**[18]—जो परिग्रह-बुद्धि का त्याग करेगा। ऐसा होने पर वह निर्ममत्व के पथ को सहज पा लेता है।

अहिंसा और मैत्री

अहिंसा का तीसरा महत्त्वपूर्ण और व्यापक तत्त्व है—मैत्री। आज सारे विश्व के प्राणीमात्र मैत्री की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं। हर मनुष्य मैत्री चाहता है। पड़ोसी पड़ोसी के साथ मैत्री चाहता है और राष्ट्र राष्ट्र के साथ मैत्री चाहता है। मैत्री का प्रतिपक्षी तत्त्व है—शत्रुता। मनुष्य के हृदय में जब-जब शत्रुता का कांटा चुभता है, उसकी कराह प्रतिशोध की भावना में बदल जाती है। प्रतिशोध लेकर वह अपनी शत्रुता को निकालना चाहता है।

कोई भी मनुष्य अपने आपमें अकेला नहीं है। वह पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय आदि अनेक स्तरों पर जीवन जीता है। जीवन-व्यवहार में साथ में रहना, सामुदायिक जीवन जीना और सद्भाव सबके साथ मैत्री-सूत्र में बंधे रहना बड़ा कठिन कार्य है। चलते-चलते, जाने-अनजाने अप्रियता की ऐसी कोई चिनगारी उछलती है, जो केवल स्वयं को ही नहीं जलाती, दूसरों के दिलों को भी जला देती है। वैर-विरोध की परंपरा वहीं से प्रारंभ हो जाती है। इसलिए भगवान ने कहा—**'वेरं वड्ढेति अप्पणो।'**[19]—मनुष्य अपने वैर को स्वयं ही बढ़ाता है।

शत्रुता और वैर कभी अकारण पैदा होते हैं, तो कभी सकारण। उनमें एक बड़ा कारण है—स्वार्थों का टकराव।

व्यक्ति किसी दूसरे से जो अपेक्षा रखता है, यदि वह अपेक्षा पूरी नहीं होती है—तो शत्रुता का भाव उत्पन्न हो जाता है। किन्हीं स्वार्थों के कारण जो मैत्री स्थापित होती है, वह कभी स्थाई नहीं होती। वहां आपसी संबंध कभी बिगड़ते हैं और कभी सुधरते हैं। स्वार्थ से ऊपर उठकर स्थापित होने वाली निःस्वार्थ मैत्री ही वास्तव में सच्ची मैत्री है।

अहिंसा और अहंकार

शत्रुता को बढ़ाने वाला दूसरा कारण है—

अहंकार। अहंकार किसी में प्रबल होता है, तो किसी में मंद। कोई व्यक्ति अहंकारमुक्त हो जाए, ऐसा वर्तमान में नहीं लगता। आज अहंकार परिवार, समाज, राष्ट्र और अंतरराष्ट्रीय स्तर तक चारों ओर व्याप्त है। एक राष्ट्र अपने अहंकार के कारण दूसरे राष्ट्र को देखना नहीं चाहता। अहंकार के ही कारण परिवार का एक सदस्य दूसरे सदस्य से मिलना नहीं चाहता। कभी बड़प्पन का उन्माद, कभी सत्तोन्माद और कभी अपने धन-वैभव का उन्माद व्यक्ति को उन्मत्त बनाता है। उस स्थिति में वह किसी के सामने झुकना नहीं चाहता, दूसरों को झुकाना चाहता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच पारस्परिक कलह उत्पन्न होता है। एक राष्ट्र के अहंकार के कारण दूसरे राष्ट्र को भी अनेक विभीषिकाओं को झेलना पड़ सकता है।

अहिंसा : प्रतिस्पर्धा

शत्रुता का तीसरा कारण है—प्रतिस्पर्धा। प्रत्येक व्यक्ति अथवा प्रत्येक राष्ट्र इस दौड़ में आगे निकलना चाहता है। आज आर्थिक विकास, प्रौद्योगिकी विकास, भौतिक विकास और आणविक शस्त्रों के विकास के लिए होड़-सी लगी हुई है। सबको भय है कि जब तक राष्ट्र शक्तिशाली नहीं बनता, कोई भी दूसरा राष्ट्र उस पर हावी हो सकता है। उसका अनिष्ट कर सकता है। वहां भी परस्पर शत्रुता और विरोध का भाव बना रहता है।

अहिंसा और संदेह

शत्रुता को उत्पन्न करने वाला चौथा कारण है—संदेह। चाहे कोई मनुष्य हो, चाहे कोई राष्ट्र हो, वह किसी न किसी के प्रति यदि सशंकित रहता है, तो शत्रुता की संभावना बनी रहती है। नीतिकारों ने कहा है कि जो संशयशील होता है, वह दूसरों के प्रति अपने मन में शत्रुता पालता है अथवा वैर भाव बढ़ाता है। संदेह के कारण वह अभय नहीं रह सकता। अकारण मानसिक कल्पनाएं मानसिक तनाव को व्यर्थ ही उत्पन्न करती हैं। उनसे निष्प्रयोजन वैर बढ़ता है। मानसिक अनिष्ट की संभावनाएं प्रबल होती हैं। यह सुनिश्चित है कि वैर अथवा शत्रुता का भाव किसी को त्राण नहीं दे सकता। व्यवहार जगत में भले ही कोई किसी का मित्र अथवा अमित्र हो सकता है, किंतु अध्यात्म जगत में स्वयं की आत्मा ही मित्र है और वही अमित्र है। इसलिए भगवान ने कहा—**'अप्पा मित्तममित्तं च'**।[20]—वह मित्र अमित्र कैसे है? इसके लिए भगवान ने कहा—**'दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ'**[21]—सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में रत आत्मा शत्रु है। आत्मा की पोथी को पढ़ने वाला मनुष्य दूसरों को कैसे मित्र-अमित्र मान सकता है? पुनः आगमकारों ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा—**'पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?'**[22]—हे पुरुष! जब तू ही तेरा मित्र है, फिर मित्र की खोज बाहर क्यों करता है? फिर भी मनुष्य मित्र पाने के लिए बाहर की ओर खोज कर रहा है। क्योंकि उसने अध्यात्म जगत में प्रवेश नहीं किया है। इसलिए वह किसी को मित्र मानता है और किसी को अमित्र। संभवतः शत्रु उतना बुरा न भी हो, जितना बुरा होता है—शत्रुता का भाव। वही अहर्निश मनुष्य को वैर की चक्की में पीस रहा है। अतीत के इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि इस वैर के कारण कितने-कितने राजा-महाराजाओं का मान-मर्दन हुआ, कितने-कितने शासकों ने प्रतिशोध की भावना से एक-दूसरे की सत्ता को पलटने के लिए विनाशकारी आक्रमण किए।

कहीं परिवार में कलह-झगड़ा चल रहा है, तो कहीं सामाजिक संबंधों में दरार आ रही है। कहीं कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को कुचलने के लिए दमनकारी नीति अपना रहा है, तो कहीं सत्ता को पाने के लिए संघर्ष किया जा रहा है। कहीं भाई भाई के खून का प्यासा बना हुआ है। ये सब वैमनस्य, प्रतिशोध, ईर्ष्या और शत्रुता के ही परिणाम हैं। मैत्री का महान मंत्र एक ऐसा वशीकरण मंत्र है, जो प्राणीमात्र को त्राण दे सकता है। भगवान महावीर मैत्री के मंत्रदाता थे। उन्होंने स्पष्ट कहा—किसी दूसरे का अनिष्ट करना अथवा दूसरों के अनिष्ट के विषय में सोचना स्वयं का ही अनिष्ट करना है। इसलिए हर व्यक्ति—**'मेत्तिं भूएसु**

कप्पए'[23]—सब प्राणियों के प्रति मैत्री का आचरण करे और '**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**[24]—स्वयं सत्य खोजे।'

यदि विश्व मैत्री का यह सूत्र प्राणीमात्र में घटित हो जाता है और स्वयं का हित अथवा अहित किसमें है—इस सत्य की खोज प्रारंभ हो जाती है, तो वहां **'वसुधैव कुटुंबकम्'** का आदर्श स्थापित हो जाता है। स्वयं के भीतर मैत्री स्थापित होने पर सारा जगत भी मैत्री की वेदी पर प्रतिष्ठित हो जाता है। भगवान ने मैत्री की अनुप्रेक्षा से चित्त को भावित करने वाले सत्य को खोजा और उसके आलोक में जगत के समस्त प्राणियों को देख कर कहा—

खामेमि सव्व जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ।।[25]

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के प्रति मैत्री है, किसी के साथ मेरा वैर नहीं है।

वैर भाव मिटाने का यह अमोघ मंत्र है और अहिंसा की प्रतिष्ठा का सशक्त साधन है। महर्षि पतंजलि ने भी कहा—'**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरपरित्यागः**—अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर वैर का त्याग स्वतः हो जाता है।' जब वैर का उपशमन होता है, शत्रुता का भाव क्षीण होता है—तो विश्व क्षितिज पर अहिंसा स्वतः प्रतिष्ठित हो जाती है। तब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण नहीं करता। जातीय, सांप्रदायिक तथा सामाजिक स्तर पर होने वाले संघर्षों का उन्मूलन हो जाता है। पारिवारिक कलह-झगड़े समाप्त हो जाते हैं और सबके मानस पटल से भय का भूत निकल जाता है। ये सब मैत्री भावना से फलित होने वाले परिणाम हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अहिंसा का प्राणाधार तत्त्व मैत्री है।

अहिंसा और पर्यावरण

अहिंसा का चौथा सूत्र है—पर्यावरण का संतुलन। आज सारा जगत पर्यावरण संतुलन को लेकर चिंतित है। यदि पर्यावरण-संतुलन बिगड़ता है, तो उसका परिणाम केवल एक मनुष्य को नहीं, सारे विश्व को भुगतना पड़ता है। इस भोगवादी युग में सारा ध्यान भी भोग की ओर ही केंद्रित है। इसलिए मनुष्य संयम को छोड़ कर असंयम की ओर प्रवृत्त हो रहा है। पर्यावरण का असंतुलन भी असंयम के कारण ही बढ़ रहा है। मनुष्य में कामना है और यही कामना भोग के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। इसलिए भगवान ने अपनी अनुभूत वाणी में कहा—**'भोगामेव अणुमोयंति'**[26]—कुछ मनुष्य भोग के विषय में ही चिंतन करते रहते हैं। वह कामना पदार्थ प्राप्ति के लिए भी हो सकती है और कामभोगों के लिए भी। कामना की परिधि में ही सारे भोग भोगे जाते हैं।

इस चेतन अथवा अचेतन जगत में कोई भी प्राणी अपने आप में अकेला नहीं है। वह दूसरों के अस्तित्व के साथ ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखे हुए है। यह एक सचाई है कि दूसरों के अस्तित्व को अस्वीकार करने पर अपना अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। भगवान महावीर ने पृथ्वी, अप्, तैजस, वायु, वनस्पति और त्रस—इन षड्जीवनिकायों का अस्तित्व स्वीकार किया है, उन सबमें जीवत्व का प्रतिपादन किया है। उन्होंने अचेतन जगत के अस्तित्व को भी स्वीकार किया और उसे पौद्गलिक माना। जैसे नदी और नाव का संयोग होता है, वैसे ही जीव और पुद्गल का संयोग होता है। प्रत्येक चेतनधारी सत्ता अचेतन की सत्ता से परिवेष्टित है। जीव जीव को प्रभावित करता है और अजीव को भी प्रभावित करता है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य पर्यावरण के क्षितिज में ही अपना श्वास ले रहा है।

कोई मनुष्य कहीं भी हो, वह अकेला नहीं है। पूरे संसार के साथ है। इस जगत में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसका अस्तित्व दूसरों के अस्तित्व से अनुस्यूत न हो। जिस प्रकार वस्त्र का एक छोर दूसरे छोर से अनुस्यूत है, जिस प्रकार एक छोर को छोड़ कर दूसरे छोर के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार दूसरों के अस्तित्व को नकार कर अपना अस्तित्व प्रतिस्थापित नहीं किया जा सकता। पर्यावरण विज्ञान

परस्पर सामंजस्य को स्थापित करने वाला विज्ञान है। यही अहिंसा का सूत्र है। भगवान महावीर ने अहिंसा के विविध रूपों को देखा, उसके अनेक पहलुओं को देखा। उनमें एक पहलू है—पर्यावरण।

आज का मनुष्य पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ रहा है। कहीं पृथ्वी का शोषण हो रहा है, कहीं जल का वीभत्स विलोड़न चल रहा है, तो कहीं आकाश को मथा जा रहा है। इच्छाएं आकाश को छू रही हैं, जबकि पदार्थ जमीं पर चल रहे हैं। पदार्थों का उपभोग बेहिसाब हो रहा है, पदार्थों की मात्रा अल्प है। सुख-सुविधाओं का अंबार आगे से आगे बढ़ता जा रहा है और पदार्थ उतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। उस स्थिति में प्रकृति भी असहाय-सी बनी हुई है। असीम भोग, असीम इच्छाएं और असीम सुविधाएं पर्यावरण के संतुलन को असंतुलित कर रही हैं। जब प्रकृति का संतुलन बिगड़ता है, तो पर्यावरण असंतुलित होता है। इसके कुछेक कारण इस प्रकार हैं—

नाभिकीय विस्फोट—आज के वैज्ञानिक मानते हैं और प्रलय की स्थिति दर्शाते हुए कहते हैं कि यदि किसी राष्ट्र के युद्धोन्माद के कारण नाभिकीय युद्ध हुआ तो विश्वस्तरीय भारी परिवर्तन हो जाएगा। सारी धरती और आकाश ऐसे लगेंगे कि मानो वे धूल से आच्छन्न हैं। तापमान में भी परिवर्तन आ जाएगा। कहीं तापमान कम होगा, तो कहीं तापमान बहुत अधिक। जल दूषित बन जाएगा। भूमि विषाक्त हो जाएगी। कोई भी जीव इस धरती पर नहीं रह सकेगा। उनका अस्तित्व नष्ट हो जाएगा। कहीं भयंकर सर्दी होगी, तो कहीं भयंकर गर्मी। सारे हिमखंड पिघल जाएंगे। समुद्र का जलस्तर भी ऊंचा चला जाएगा। समुद्रतट पर रहने वाली बस्तियां समुद्र जल में डूब जाएंगी और आसपास स्थित नगर ध्वस्त हो जाएंगे। वहां का सारा भूभाग जलमय बन जाएगा। केवल पानी ही पानी दिखाई देगा। यह सब नाभिकीय विस्फोट और अणुयुद्ध से होने वाली स्थिति है।[27]

वैज्ञानिक जगत द्वारा प्रलय के संदर्भ में प्रस्तुत इस भविष्यवाणी को भगवती सूत्र के संदर्भ में पढ़ें तो भगवान महावीर ने इसी सत्य को हजारों वर्ष पहले ही उद्घाटित कर दिया था। जब अवसर्पिणी काल का छट्ठा आरा आएगा, तब भरतक्षेत्र का स्वरूप बदल जाएगा और पर्यावरण भी दूषित हो जाएगा। वह काल हाहाकार-मय होगा। उसमें सायं-सायं की आवाजें होंगी। खर, परुष, धूलिमय, दुस्सह चक्राकार हवाएं चलेंगी। भयंकर प्रलयंकारी हवाएं चलेंगी। दिशाएं धूमिल, रजकणों से व्याप्त तथा धूलभरी आंधियों से अंधकारमय होंगी। चांद अधिक ठंडा हो जाएगा। सूरज और अधिक तपेगा। मेघ बार-बार बरसेंगे। मेघों का जल अरस और विरस होगा। वे मेघ क्षारीय, अधिक विद्युत वाले, विषमय और उल्कामय होंगे। उनका जल जीवन-निर्वाह के लिए उपयोगी नहीं होगा। वे मेघ व्याधि, रोग और वेदना को उदय में लाने वाले होंगे, अमनोज्ञ जल वाले होंगे। उनकी धारा प्रचंड वायु से प्रहत तीव्र वेगवाली होगी। उससे ग्राम, आकर, नगर, जनपद आदि विनष्ट हो जाएंगे। चतुष्पद प्राणी नष्ट हो जाएंगे। हिमालय को छोड़ कर शेष सभी पर्वत विदीर्ण हो जाएंगे। गंगा और सिंधु नदी को छोड़ कर शेष सभी झरने आदि सूख जाएंगे, समतल हो जाएंगे।[28]

भगवान महावीर ने आने वाले समय में जिस भौगोलिक स्थिति का जो चित्रण किया, उस स्थिति का निर्माण शायद मनुष्य अपने असंयम के कारण पहले से ही कर रहा है। यह प्रलयकालीन लीला कितनी भयावह होगी? अणुयुद्ध से होने वाले पर्यावरणीय परिवर्तन की आशंकाओं से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

वनों की अंधाधुंध कटाई—आज मनुष्य को लकड़ी की अति आवश्यकता है। फर्नीचर से लेकर घरों की साज-सज्जा के लिए तथा गृह-कार्य और कारखानों के लिए काष्ठ का ही अधिकतर उपयोग होता है। काष्ठ के लिए आज वन के वन काटे जा रहे हैं। जो वन वर्षा के लिए अति उपयोगी माने जाते थे, उनके कटने पर वर्षा का अभाव भी सामने दिखाई दे रहा है। विज्ञान मानता है कि वृक्ष 'ऑक्सीजन' छोड़ते हैं और 'कार्बनडायाक्साइड' ग्रहण करते हैं। जब वृक्ष ही इस धरती पर नहीं रहेंगे तो 'कार्बनडायाक्साइड' की मात्रा

बढ़ती जाएगी। वातावरण भयंकर होता चला जाएगा। एक दिन ऐसा आएगा कि ओजोन छतरी, जो हमारा सुरक्षा कवच है—को भी खतरा उत्पन्न हो जाएगा। वह फट जाएगी।

कारखाने और चिमनियां—आज पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले बड़े-बड़े कारखाने और जहरीली गैसें उगलने वाली चिमनियां सब ओर व्याप्त हैं। इनसे भी पर्यावरण संतुलन बिगड़ रहा है। जहरीली गैसों के कारण ओजोन छतरी पर निरंतर दबाव बढ़ रहा है।

खनन—आज के मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को इतना अधिक बढ़ा लिया है कि वह प्रतिदिन नई-नई खोजें कर रहा है। वह 'मारबल' पत्थर के लिए बड़े-बड़े पहाड़ों को विदीर्ण कर रहा है। तेल की आपूर्ति के लिए तेल-भंडारों को खोज रहा है। कोयला, लोहा, तांबा आदि खनिज पदार्थों को निकालने के लिए भी भूमि खोदी जा रही है। आवश्यकता से अधिक भूमि का खनन करना क्या पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ना नहीं है? इससे भूमि के नीचे धंस जाने के खतरे भी पैदा हो सकते हैं। और, हजारों-हजारों प्राणियों की उसमें जीतेजी ही समाधि हो सकती है। भूमि पर रहने वालों के लिए यह हमेशा-हमेशा का एक भयंकर खतरा बना हुआ है।

मनुष्य का असंयम, आवश्यकता से अधिक भूमि का शोषण, बिजली-पानी के दुरुपयोग आदि से यह प्राणी-जगत कहां पहुंचने वाला है—कहा नहीं जा सकता। पता नहीं प्रकृति के साथ मनुष्य ऐसा खिलवाड़ क्यों कर रहा है? स्पष्ट है कि वह लोभ की चेतना के कारण ऐसा कर रहा है। आज का अर्थशास्त्र भी कहता है—इच्छा को बढ़ाते जाओ, कृत्रिम आवश्यकताओं को पैदा करते जाओ और उनकी पूर्ति करते जाओ। एक अरब पचीस करोड़ की जनसंख्या वाले भारत में क्या सबकी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है? जब प्रकृति ही अपने ऊर्जा स्रोतों और खनिज पदार्थों से उपरत हो जाएगी, तब प्राणी की क्या गति होगी? इस असंतुलन में समस्त विश्व का विनाश छिपा हुआ है। यह हिंसा और मौत की चेतावनी है। इसी संदर्भ में भगवान महावीर ने कहा था—**'एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए'**[29]—हिंसा ग्रंथि है, मोह है, मृत्यु है और नरक है।

यदि जीवन में व्यक्तिगत संयम सध जाता है और पदार्थों के उपभोग की सीमा हो जाती है, आवश्यकताएं अल्प हो जाती हैं—तो पर्यावरण विज्ञान सुरक्षित रह सकता है। फिर न कोई भय होगा और न कोई अकाल मृत्यु। इसलिए पर्यावरण विज्ञान अपनी भाषा में कह रहा है—'तुम मेरी सुरक्षा करो, मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा। तुम मुझे अभय दो, मैं तुम्हें अभय दूंगा।'—यह लेने-देने की भावना जब फलित होगी, तब ही पर्यावरण का संतुलन बना रह सकेगा, मानव जाति सुरक्षित रह सकेगी।

अहिंसा और निःशस्त्रीकरण

अहिंसा का पांचवां महत्त्वपूर्ण सूत्र है—निःशस्त्रीकरण। आज चारों ओर युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं। राष्ट्रों में शस्त्र निर्माण की प्रतिस्पर्धा परस्पर चल रही है। कोई भी राष्ट्र भयमुक्त नहीं है। यदि किसी भी राष्ट्र से यह प्रश्न किया जाए कि आप शस्त्रों का निर्माण क्यों कर रहे हैं? उसका उत्तर होगा—शांति के लिए। शस्त्रीकरण और शांति—दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। फिर भी मनुष्य शस्त्र निर्माण को शांति का हेतु मानता है।

वध या हिंसा के साधन को शस्त्र कहा जाता है। भगवान महावीर ने दो प्रकार के शस्त्रों का निरूपण किया—द्रव्य-शस्त्र और भावशस्त्र। स्थानांगसूत्र में दस प्रकार के शस्त्रों का वर्णन है[30]—अग्नि, विष, लवण, स्नेह, क्षार, अम्ल, दुष्प्रयुक्त मन, दुष्प्रयुक्त वचन, दुष्प्रयुक्त काया और अविरति। इन शस्त्रों में दुष्प्रयुक्त मन, दुष्प्रयुक्त वचन, दुष्प्रयुक्त काया और अविरति—ये चार भावशस्त्र हैं, आत्म-परिणामात्मक शस्त्र हैं। शेष छह शस्त्र द्रव्यशस्त्र हैं। शस्त्र और हिंसा—दोनों में घनिष्ठ संबंध है। जहां शस्त्र हैं, वहां हिंसा है और जहां हिंसा है—वहां शस्त्र है।

द्रव्यशस्त्र पाषाण युग में भी थे। धीरे-धीरे उनका

विकास हुआ और आज वे शस्त्र अणुबम, हाइड्रोजन बम तथा लेजर बम तक पहुंच गए हैं। एक प्रश्न बार-बार मन में उठता है कि इतने ढेर सारे शस्त्रों का निर्माण आखिर किस प्रयोजन से किया जा रहा है? स्पष्ट है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना चाहता है, प्रभुसत्ता को बनाए रखना चाहता है और वह दूसरे शक्तिशाली राष्ट्रों से भी आतंकित रहता है कि कहीं आक्रमण न हो जाए। इसलिए अपनी सुरक्षा के लिए उसे तैयारी रखनी होती है।

युद्धोन्माद सर्वप्रथम मनुष्य के दिमाग में उत्पन्न होता है। अतः सबसे खतरनाक शस्त्र हैं—भावशस्त्र। यही शस्त्र अन्यान्य शस्त्रों का निर्माण करता है। यदि मनुष्य भावशस्त्र पर, अपने असंयम पर संयम कर लेता है, तो यांत्रिक शस्त्र अपने आप निरस्त हो जाएंगे।

भगवान महावीर ने अपने अनुयाइयों के लिए व्रतों की एक आचार-संहिता प्रस्तुत की। उसमें एक व्रत है कि श्रावक शस्त्रों का निर्माण नहीं करेगा। वह शस्त्रों के पुर्जों का भी संयोजन नहीं करेगा।[31] शस्त्रों का निर्माण और पुर्जों का संयोजन—एक प्रकार से महा-हिंसा है। यह श्रावक के लिए अनाचरणीय है। एक श्रावक की भांति यदि राष्ट्र के नेताओं को यह बात समझ में आ जाए कि वे शस्त्रों का निर्माण नहीं करेंगे, तो निःशस्त्रीकरण की बात फलित हो सकती है और जब एक राष्ट्र इस कार्य में संलग्न हो जाएगा, तो दूसरा राष्ट्र उसे क्यों नहीं अपनाएगा?

सब जानते हैं कि विज्ञान के निष्कर्ष प्रौद्योगिकी में ही घटित होते हैं। आधुनिक विज्ञान एक उन्नत तकनीक के साथ हमारे सामने आया है। इनमें एक है—साइबर तकनीक। साइबर-शस्त्र प्रकाश की गति से संचालित होते हैं। साइबर-युद्ध, इलेक्ट्रानिक-युद्ध प्रकाश की गति से संचालित किए जाते हैं। आणविक युद्ध का साइबर-युद्ध में परिवर्तन होना बहुत निकट है, यह बहुत ही खतरनाक है। यदि कालांतर में कोई युद्ध साइबर-शस्त्र से लड़ा गया तो वह युद्ध कितना विनाशकारी और कितना भयंकर होगा—इसकी कल्पनामात्र ही सिहरन पैदा करती है। वह युद्ध ऐसा होगा कि धरती पर कोई प्राणी बचेगा या नहीं—कहा नहीं जा सकता।

इसी संदर्भ में भगवान की वाणी कितनी यथार्थ है—**'अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं'**[32]—शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता है, अशस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण नहीं होता, वह एक रूप होता है। आज जो शस्त्रों के नए-नए विकल्प सामने आ रहे हैं, उनसे यही फलित होता है कि शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होते जा रहे हैं। यह शस्त्रीकरण मनुष्यजाति का संहारक है, भय का हेतु है, युद्ध को बढ़ाने वाला है। उस स्थिति में निःशस्त्रीकरण की मूल्यवत्ता और अधिक प्रासंगिक हो जाती है। यदि विश्वस्तर पर निःशस्त्रीकरण की बात मान्य हो जाती है तो उसका फलित होगा—मानव जाति सुख और शांति से रह सकेगी। इससे युद्ध के भय से मुक्ति मिलेगी, संयम का विकास होगा, पारस्परिक सौहार्द, मैत्री और सामंजस्य को बल मिलेगा। जैसे सब जीवों का आधार पृथ्वी है, वैसे ही सबका आधार शांति है।

अतः निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि भगवान महावीर ने अहिंसा के जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वे सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनीन हैं। वर्तमान में भी उन सिद्धांतों की सामयिकता, प्रासंगिकता और उपयोगिता बराबर बनी हुई है। बीसवीं शताब्दी में भारत में महात्मा गांधी, अमेरिका में मार्टिन लूथर किंग तथा दक्षिणी अफ्रीका में नेल्सन मंडेला ने इस सिद्धांत का व्यवहार में प्रयोग कर अपने-अपने देशों में जनक्रांति का मार्ग प्रशस्त किया।

वर्तमान समय में भी विश्व की इन युगीन समस्याओं का समाधान भगवान महावीर की अहिंसा की अवधारणा में निहित है। ❖

संदर्भ :

1. दसवेआलियं 6/8
2. दसवेआलियं 4/13
3. मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति, तं जहा सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं,

सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं (ठाणं वृ. 266)।

4. (क) एक्कं चिय एक्कं वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइ वायविरमण-सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा।।
—*पंचसंग्रहद्वार*

(ख) अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम्।।
—*हारिभद्रीय अष्टक 16/5*

5. अहिंसाशस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्
—*हारिभद्रीय अष्टक 16/5*

6. अहिंसा पयसः पालि भूतान्यन्यव्रतानि यत्····
—*योगशास्त्र,प्रकाश-2*

7. ठाणं 6/6
8. आयारो 1/39
9. दसवेआलियं 10/5
10. सूत्रकृतांग 1/10/3
11. आचारांगभाष्यम् 5/101
12. दसवेआलियं चूर्णि
13. आचारांगभाष्यम् 2/59
14. आचारांगभाष्यम् 2/15
15. उत्तरज्झयणाणि 8/17
16. उत्तरज्झयणाणि 19/98
17. आचारांगभाष्यम् 1/140
18. आचारांगभाष्यम् 2/156
19. आचारांगभाष्यम् 2/135
20. उत्तरज्झयणाणि 20/37
21. उत्तरज्झयणाणि 20/37
22. आचारांगभाष्यम् 3/62
23. उत्तरज्झयणाणि 6/2
24. उत्तरज्झयणाणि 6/2
25. आवश्यकसूत्र
26. आचारांगभाष्यम् 2/79
27. यह भविष्यवाणी इटली के वैज्ञानिक प्रो. टारी की है।
28. भगवती 7/118-123 सूत्र
29. आचारांगभाष्यम् 1/107
30. ठाणं 10/93
31. उवासगदसाओ 1/39
32. आचारांगभाष्यम् 3/82 ❖❖

विभिन्न धर्मों में अहिंसा की अवधारणा

❑ साध्वी कनकश्री

सबकुछ होते हुए भी वर्तमान में अहिंसा की शक्ति निस्तेज जैसी हो रही लगती है। समूचा विश्व हिंसा, आतंकवाद, उग्रवाद, जातीय उन्माद, सांप्रदायिक कट्टरता आदि विकराल समस्याओं से जूझ रहा है। करुणा, संवेदनशीलता जैसे नैसर्गिक स्रोत सूख रहे हैं। क्रूरता के रक्त बीज बढ़ रहे हैं। हिंसक शक्तियां संगठित हैं, सक्रिय हैं। हिंसा के प्रशिक्षण की व्यापक व्यवस्थाएं हैं। अहिंसक शक्तियां न संगठित हैं, न सक्रिय हैं और न अहिंसा के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है।

❑

श्रेष्ठ और उत्कृष्ट जीवन जीने की कला का नाम है—धर्म। समय, क्षेत्र, प्रवर्तन आदि की भिन्नता के कारण यद्यपि धर्म अनेक संप्रदायों में बंट गया है। धर्म-तत्त्व एक होते हुए भी उसके दो ध्रुव हैं—सिद्धांत और आचार। सैद्धांतिक मतभेद होते हुए भी सभी धर्म आचार-शुद्धि और व्यवहार-शुद्धि पर बल देते हैं। जीवन को निर्मल, दिव्य और भव्य बनाने के जितने भी विधि-विधान या उपाय हैं, वे सब धर्म के अंग हैं। समस्त प्राणी-जगत के योग-क्षेम का संवाहक है। धर्म मंगलमय है। भारतीय संस्कृति विभिन्न धर्मों का संगम है। यहां वैदिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई, सिक्ख आदि जितने भी धर्म-संप्रदाय हैं, वे सभी व्यक्तिगत सुख, शांति और समृद्धि के लिए तथा सामाजिक चेतना के विकास और संबंधों की स्वस्थता के लिए हैं। अहिंसा, करुणा, मैत्री, सेवा, सहयोग आदि मानवीय मूल्यों की महत्ता को सभी धर्म स्वीकार करते हैं और उस दिशा में जन-चेतना को अभिप्रेरित करते हैं। जीवन-मूल्यों की शृंखला में अहिंसा एक व्यापक और सर्व-सम्मत मूल्य है। सभी धर्मों में अहिंसा की प्रतिष्ठा है।

अहिंसा के संबंध में विभिन्न धर्मों की अवधारणाएं क्या हैं? प्रस्तुत आलेख का मुख्य विवेच्य विषय यही है। इसी की परिक्रमा करते हुए हमें अहिंसा और उसकी भूमिका को समझना है।

यद्यपि अहिंसा समस्त धर्मों में मान्य, आदृत और स्वीकृत है—तथापि अहिंसा-प्रधान धर्म के रूप में पहचान मात्र जैन धर्म ने ही निर्मित की है। वह महान अहिंसावादी धर्म के रूप में प्रख्यात है। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने कहा—**अहिंसा सव्वभूय खेमंकरी**—अहिंसा सब प्राणियों

के लिए क्षेमंकर है, आरोग्य दायिनी है, संरक्षक व संपोषक है। अहिंसा की यात्रा का प्रथम चरण है—प्राणातिपात विरमण व्रत। यानी जीव हत्या न करने का संकल्प। भगवान महावीर ने कहा—संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता। अतः प्राणवध घोर कष्टकर है, उसका वर्जन करो। अहिंसा की दूसरी दृष्टि है—प्रत्येक प्राणी में सुख-दुख की अनुभूति एक समान है। अतः आत्मतुला का अनुभव करो, समत्व का विकास करो। समता ही धर्म है। जगत में कोई भी प्राणी हंतव्य नहीं है। अहिंसा धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। अहिंसा दृष्टि को व्यापकता प्रदान करते हुए भगवान ने सर्वथा नई परिभाषा दी—**अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो**—संपूर्ण अस्तित्व या समस्त जड़-जीव जगत के प्रति अपना संयम ही अहिंसा है। वस्तुतः अहिंसा और संयम की चेतना का जागरण ही युग-युग की समस्याओं का सही समाधान है।

भगवान महावीर की अहिंसा का सकारात्मक पक्ष है—अभय और मैत्री। अहिंसक व्यक्ति कभी भयभीत नहीं होता। अहिंसा के विकास का परिणाम अभय है। जो स्वयं अभय होता है, वही दूसरों को अभयदान दे सकता है। जैन-दर्शन के अनुसार डरना और डराना, दोनों हिंसा है।

अहिंसा के प्रखर चिंतक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की अनुचिंतना में मैत्री का असीम विस्तार ही अहिंसा है। **अनंता मैत्री अहिंसा**। मैत्री की धरती पर ही अहिंसा की हरियाली पनप सकती है। अहिंसा की पराकाष्ठा है—वीतरागता। हिंसा के बीज हैं—राग-द्वेष। राग-द्वेष का सर्वथा विलय ही वीतरागता है। परम समता में ही अहिंसा है। कहा है—

अप्रादुर्भावः खलुरागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

जैन आगमों का यही सार-संक्षेप है कि राग-द्वेष का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है तथा उनका प्रादुर्भाव ही हिंसा है।

अहिंसा की व्यापक स्वीकृति

महर्षि पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट अष्टांग योग में भी अहिंसा का पहला स्थान है। वृत्तियों का नियमन करने वाले पांच यमों में पहला यम अहिंसा है। इसको परिभाषित करते हुए पातंजल योगदर्शन में लिखा है—

तत्राहिंसा सर्वदा सर्व भूतेष्वनभिद्रोहः।।

सर्वदा सब भूतों के प्रति अद्रोह की भावना ही अहिंसा है।

यजुर्वेद में लिखा है—जो व्यक्ति सब भूतों को अपने में देखता है तथा सर्व-भूतों में स्वयं को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता। घृणा हिंसा है। यजुर्वेद के अनुसार सभी प्रकार के पापों, निषेधात्मक भावों का समावेश हिंसा में हो जाता है। वहां लिखा है—अंतःकरण की मलिनता आत्महनन है। आत्महंता गहरे अंधकार में डूब जाता है। सभी प्रकार के नकारात्मक भाव और प्रवृत्तियां आत्महनन हैं। आत्महंता हिंसक है।

जैन-दर्शन में मन, वचन और काय की दुष्प्रवृत्ति को दंड माना गया है। दंड का अर्थ होता है—हिंसक शस्त्र। महाभारत भी इसी ओर इंगित करता है। सब धर्मों में अहिंसा की प्रतिष्ठा को उजागर करते हुए लिखा गया है—

नैतादृशः परो धर्मः नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।
न्यासो दंडस्य भूतेषु, मनोवाक्कायजस्य च।। *(महाभारत)*

सद्धर्म के इच्छुक व्यक्तियों के लिए प्राणियों के प्रति दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काय से उत्पन्न दंड के त्याग से बढ़ कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा ही परम धर्म है।

भागवत कहता है—**दंडन्यासः परंदानम्**—हिंसा का त्याग ही श्रेष्ठ दान है। भगवान महावीर कहते हैं—**दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं**—अभयदान श्रेष्ठदान है। यानी अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ है।

अहिंसा को दुखमुक्ति का एकमात्र उपाय बताते हुए महाभारत का संदेश है—

एको धर्मः परंश्रेयः, क्षमैका शांतिरुत्तमा।
विद्यैका परमा तृप्तिः, अहिंसैका सुखावहा।।

(महाभारत, उ.प. 33/52)

धर्म ही एकमात्र परम श्रेयस्कर है, क्षमा ही एकमात्र उत्तम शांति है। विद्या ही एकमात्र परम तृप्ति है और अहिंसा ही एकमात्र सुख का रास्ता है।

बौद्ध धर्म के पंचशील—सदाचार के पांच नियम—में भी अहिंसा का प्रमुख स्थान है। तथागत बुद्ध का शिक्षापद मननीय है—

पाणे ण हणे, न घातयेय,
ण चानुमन्या हनतं परेसिं।
सव्वेसु भूतेसु निधाय दंडं,
ये थावरा ये च तसंति पाणा।।

(सुत्तनिपात)

जगत में जो भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी हैं, उन सब के प्रति दंड का त्याग करो। प्राणवध मत करो, न दूसरों से कराओ और न प्राणवध का अनुमोदन करो।

सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानक साहब ने कहा—सब जीवों के प्रति दयावान रहो। उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि दया से शून्य कोई बड़ा कहलाने वाला संत भी कसाई के समान है। जो व्यक्ति हत्या करते हैं, उन पर परमात्मा कभी प्रसन्न नहीं होता।

इस्लाम धर्म में भी सिद्धांततः प्राण-वध निषिद्ध है। इस्लाम के महान उपासक व चिंतक मौलाना रूसी का कथन कितना मार्मिक है—

हजार कुंजे इबादत, हजार गंजे करम;
हजार ताइद, शब्ह हजार बेदारी।
हजार सिजदा बहर, सिजदा हजार नमाज,
कबूल नेस्त मर ताइद व्यापारी।।

इसका तात्पर्य यह है कि—तू हजारों के साथ बैठ कर प्रार्थना करता है, हजारों का दान देकर अपना खजाना खाली करता है, भक्ति से खुदा का गुणगान करने में हजारों रातें पूरी करता है। इतना करके भी यदि तू किसी का प्राण-हरण करता है, तो खुदा के दरबार में तेरी एक भी इबादत मंजूर नहीं होगी।

मुहम्मद साहब ने भी रंग, नस्ल और ऊंच-नीच की खाई को पाटने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण निर्देश दिए हैं। उन्होंने कहा—प्रेम, दया, सब्र और सहानुभूति ही इंसानियत की पहचान है। **तू जमीन वाले पर रहम कर, ऊपर वाला तुझ पर रहम करेगा**—यह तालीम उनके गहरे दयाभाव को प्रकट करती है। यहां दया और अहिंसा को अलग नहीं किया जा सकता।

सूफी परंपरा में भी दया को साधना का अनिवार्य तत्त्व माना गया है। ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती ने अपने अंतिम समय में शाहबजादे ख्वाजा फखरुद्दीन को अपने पास बुलाया और कहा—बेटा! यह दुनिया दिल लगाने जैसी जगह नहीं है। यहां हौसले और हिम्मत से काम लेना। याद रखना जिस आदमी में दरिया की सी सखावत (दानशीलता), आफताब की सी शफकत (दयालुता) और जमीन की सी तवज्जो (खातिरदारी) है—तो खुदा उसको अपना दोस्त समझेगा।

ईसाई धर्म भी प्रेम, करुणा और सेवाभावना के आधार पर ही पल्लवित हुआ है। महात्मा ईसामसीह के दो प्रमुख सिद्धांत हैं—तुम जीव हत्या नहीं करोगे, अपने पड़ोसी से प्यार करोगे। उन्होंने कहा—यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर चांटा लगाता है, तो तुम दूसरा भी उसकी तरफ कर दो। यह सहिष्णुता का भाव अहिंसा के बिना पुष्ट हो नहीं सकता। अहिंसा और मैत्री एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

सभी तथ्यों के आकलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष तक पहुंचे हैं कि अहिंसा सार्वभौम धर्म है। ऐसा कोई भी धर्म, संप्रदाय या संगठन नहीं है, जो हिंसा को मान्यता देता हो। अहिंसा की व्याख्या, सीमा और अवधारणा में भिन्नता हो सकती है, पर कोई भी धर्म अहिंसा को उपेक्षित कर अपना अस्तित्व सुरक्षित नहीं रख सकता।

आहार और अहिंसा

हिंसा की उत्पत्ति के संबंध में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का स्पष्ट अभिमत है कि हिंसा के भाव, संस्कार और विचार पहले मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं, उसके बाद व्यवहार में उतरते हैं। मस्तिष्क और भोजन का गहरा संबंध है। व्यक्ति जैसा आहार लेता है, वैसे ही मस्तिष्कीय 'न्यूरोंस' निर्मित होते हैं। 'न्यूरोंस' ही मानवीय विचारों तथा व्यवहारों के उत्प्रेरक या नियामक होते हैं। यही कारण है कि धर्म के क्षेत्र में भोजन पर विशेष ध्यान दिया गया है। श्रेष्ठ जीवन, ऊंचे विचार और ऊंचे आचार की परिकल्पना अहिंसा और संयम प्रधान जीवन-शैली द्वारा ही यथार्थ के 'केनवस' पर चित्रित हो सकती है। संभव है—इसी दृष्टि से लगभग सभी धर्मों में शाकाहार पर बल दिया गया है।

शाकाहार की प्रतिष्ठा में जैन धर्म अग्रणी रहा है। भोजन-विज्ञान में पशु वध से निष्पन्न मांसाहार किसी भी स्थिति में सम्मत नहीं माना गया है। यह मानना भी असंगत नहीं होगा कि मांसाहार के विरुद्ध बगावत करने वालों में पहला नाम जैन तीर्थंकरों का रहा है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के विवाहोत्सव पर बरातियों के भोजन हेतु वध्य प्राणी बड़ी संख्या में बाड़ों में बंद थे। उन निरीह पशुओं के करुण-क्रंदन ने नेमिकुमार के कोमल अंत:करण को उद्वेलित कर दिया। उन्होंने कहा—

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मिहिंति सुबहुजिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, पर लोए भविस्सइ।।

यदि मुझे निमित्त बना कर, ये इतने सारे प्राणी मारे जाएंगे तो यह जीव-वध परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।

इसी करुणा-पूरित चिंतन ने अनुराग की दिशा में गतिशील उनके रथ को विराग की दिशा में मोड़ दिया और उनके चरण संयम के महापथ पर प्रस्थित हो गए।

भगवान महावीर की अहिंसक क्रांति ने मांसाहार के विरुद्ध जन-चेतना को जगाने में सशक्त वातावरण का निर्माण किया और शाकाहार सात्त्विक आहार के रूप में स्वीकृत हुआ। हिंदू धर्म में भी यह घोषणा की गई कि दूसरे का मांस खाकर जो अपना शरीर पुष्ट करता है—वह पापी है, निर्दयी है। धर्मशास्त्रों ने स्पष्ट निर्देश दिया—एक व्यक्ति मांसाहार करता है, दूसरा मांस का व्यापार करता है तथा तीसरा मांस के लिए जीवों का वध करता है—ये तीनों ही समान रूप से दोषी हैं। बौद्ध धर्म में भी वही भोजन उचित माना गया है, जिसमें रक्त और मांस का अंश भी न हो। गुरु नानकदेवजी ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा—मद्य और मांस भक्षण से दूर रहो। इस अहिंसा भावना का ही प्रभाव है कि गुरुद्वारों में होने वाले लंगर में अनिवार्यत: शाकाहार ही बनता है।

इस्लाम धर्म के संस्थापक पैगंबर मुहम्मद साहब ने अपने अनुयाइयों को बार-बार आगाह किया कि—अल्लाह के पास न पशुबलि का मांस पहुंचता है और न खून, बल्कि वहां वही पहुंचता है, जो उसके पास शुद्ध है, पवित्र है। आंतरिक पवित्रता के विकास हेतु उन्होंने यहां तक कह दिया कि—यदि तुम्हें बलि देनी है, तो अपने अहं भाव और अभिमान की बलि दो। उन्होंने यह भी कहा था—पशु मनुष्य के छोटे भाई हैं, उन पर रहम करो। सूफी संतों ने भी नेक जीवन जीने के लिए दया और सादे शाकाहारी भोजन पर बहुत बल दिया है।

शाकाहार के संदर्भ में ईसामसीह की शिक्षाएं भी गंभीरता से मनन करने योग्य हैं। उन्होंने कहा—पशु का रक्त बहाना छोड़ दो। अपने मुंह में मांस मत डालो। ईश्वर बड़ा दयालु है, उसकी आज्ञा है कि मनुष्य पृथ्वी से उत्पन्न शाक, फल और अन्न से ही अपना जीवन निर्वाह करे। पारसी धर्म के विद्वान जोरास्टर ने लिखा है—कत्लखाने पाप-आकर्षण के शक्ति केंद्र होते हैं। जिस व्यक्ति के हाथ निर्दोष प्राणी के खून से रंगे हों, उसे ईश्वर की प्रार्थना कर उसकी दया पाने का कोई अधिकार नहीं है। यहूदी धर्म के अनुसार ईश्वरीय कथन है कि पृथ्वी के हर पशु को, उड़ने वाले पक्षियों को तथा उस हर प्राणी को—जो धरती पर रेंगता है, जिसमें जीवन है—उन सबके लिए मैंने मांस की जगह हरी पत्ती की व्यवस्था की है। जब तुम प्रार्थना करते हो तो मैं नहीं सुनता—यदि तुम्हारे हाथ खून से रंगे हैं।

इन सब तथ्यों का निचोड़ यही है कि सब धर्मों तथा सभी धर्मों के उपदेशकों के विचारों में, शिक्षाओं में अद्भुत समानता है। सभी ने प्राण-वध का निषेध किया है। करुणा, दया और सद्भावना को मानवीय विशिष्ट गुण के रूप में सुप्रतिष्ठित किया है। सभ्य, शिष्ट और अहिंसक समाज की संरचना का नाभि-केंद्र यह अहिंसक चेतना ही है।

अहिंसा दर्शन की फलश्रुति

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का प्राण तत्त्व है—संयम। तथागत बुद्ध की अहिंसा का सार है—करुणा। गीता के अहिंसा-सिद्धांत की फलश्रुति है—अनासक्ति। ईसामसीह के उपदेश का केंद्र बिंदु है—प्रेम और मैत्री। मुहम्मद साहब के संदेश का सार है—भाईचारा। अहिंसा और संयम प्रधान जीवन-शैली के विकास तथा स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु महावीर ने व्रती समाज की संरचना की। उस व्रती समाज ने आक्रामक हिंसा, अनावश्यक हिंसा और क्रूरतापूर्ण व्यवहार न करने का संकल्प किया। इससे याज्ञिकी हिंसा, पशुबलि, जातिवाद, दासप्रथा आदि की जड़ें हिल गईं।

- बुद्ध की करुणा के आधार पर सामाजिक विषमता का उन्मूलन हुआ। गीता के अनासक्त योग ने निष्काम कर्म की अभिप्रेरणा दी। इससे आचार-विचारगत पवित्रता की मूल्य प्रतिष्ठा हुई। ईसामसीह के मानवीय प्रेम से उपजी सेवा-भावना ने आपसी संबंधों को प्रगाढ़ता दी। मुहम्मद साहब के भाईचारे ने संगठन को मजबूती दी। संगठित समाज शक्ति संपन्न होता है—यह एक सचाई है।

महात्मा गांधी ने राजनीति के मंच से अहिंसा की एक ऐसी गूंज पैदा की थी, जिसकी शक्तिशाली ध्वनि तरंगों ने विदेशी हुकूमत को पछाड़ दिया। उन्होंने सत्याग्रह आदि विभिन्न प्रयोगों द्वारा अहिंसक शक्ति से विश्व-मानव को परिचित कराया।

इतना सबकुछ होते हुए भी वर्तमान में अहिंसा की शक्ति निस्तेज जैसी हो रही लगती है। समूचा विश्व हिंसा, आतंकवाद, उग्रवाद, जातीय उन्माद, सांप्रदायिक कट्टरता आदि विकराल समस्याओं से जूझ रहा है। करुणा, संवेदनशीलता जैसे नैसर्गिक स्रोत सूख रहे हैं। क्रूरता के रक्त बीज बढ़ रहे हैं। हिंसक शक्तियां संगठित हैं, सक्रिय हैं। हिंसा के प्रशिक्षण की व्यापक व्यवस्थाएं हैं। अहिंसक शक्तियां न संगठित हैं, न सक्रिय हैं और न अहिंसा के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है।

महान दार्शनिक, अध्यात्म और अहिंसा के शिखर पुरुष आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अहिंसक शक्ति के विकास हेतु उसके प्रशिक्षण और प्रयोग की महती अपेक्षा महसूस की। इसके लिए उन्होंने **अहिंसा समवाय** और **अहिंसा सार्वभौम** जैसे शक्तिशाली मंच प्रदान किए। ये मंच अहिंसा, मैत्री व विश्वशांति की संकल्पना के साथ उसके प्रयोग और प्रशिक्षण की दिशा में आज भी सक्रिय हैं। राष्ट्रव्यापी अहिंसा यात्रा का नेतृत्व करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने हिंसा के कारणों की खोज, नैतिक चेतना के जागरण और अहिंसा-चेतना के विकास हेतु भगीरथ प्रयत्न किया। उनकी प्रेरणा से स्थापित अहिंसा प्रशिक्षण केंद्रों पर आज भी लोग अहिंसा का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। उनका चिंतन और संदेश था कि विश्व की समस्त अहिंसक शक्तियां संगठित होकर अहिंसक क्रांति का सूत्रपात करें। मानवता को आश्वस्त करें।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के ही उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमणजी एक शांतिदूत के रूप में अभी भी अहिंसा यात्रा द्वारा जन-जन में अहिंसा-चेतना को जगाने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। उनकी अहिंसा यात्रा के चार सूत्र हैं—सांप्रदायिक सौहार्द, पारिवारिक सामंजस्य, आवेशमुक्त जीवन और नशामुक्त जीवन-शैली। वे प्रामाणिक व्यवहार पर भी समान बल देते हैं। वे कहते हैं—अहिंसा कोरा सिद्धांत नहीं है, वह जीवन-दर्शन है, जीवन-शैली है। अपेक्षा है कि हर एक व्यक्ति अहिंसा को व्यवहार के धरातल पर प्रयोग और प्रशिक्षण का विषय बनाए। स्वस्थ समाज के निर्माण का यही प्रशस्त मार्ग हो सकता है। ❖

अहिंसा : सृजनात्मक शक्ति का पर्यायार्थक

□ डॉ. भागचंद्र जैन भास्कर

जब तक सहअस्तित्व और आत्मतुला की भाषा में हम विचार नहीं करेंगे, तब तक अहिंसा के दर्शन को न समझा जा सकता है और न उसे व्यवहार में उतारा जा सकता है। पदार्थ जगत के साथ अहिंसा के संबंध को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। स्वार्थ परायण वृत्ति का परित्याग कर 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के सिद्धांत का जब तक परिपालन नहीं होता, मानवीय संबंधों में परिष्कार नहीं आ सकता। □

अहिंसा एक नकारात्मक शब्द है, पर वह विधेयात्मक रूप से भी अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यह अभिन्न और प्रच्छन्न रूप है—प्रेम और सहअस्तित्व की प्रबल भावना, जिसके बिना अहिंसा नितांत पंगु हो जाती है, निश्शेष बन जाती है। सृष्टि और उसमें रहने वाले जीवों में स्वयं को देखना, उनका वध स्वयं का वध मानना, उन पर दया स्वयं पर दया करना ही स्वीकारना—अहिंसा है। कहा है—

जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणोदया होइ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिवत्ता अत्तकामेहि।।

इसी तरह दूसरे को दुख देने की आकांक्षा और परपीड़न में रस लेना हिंसा है। ऐसी हिंसा के लिए उत्तरदायी व्यक्ति स्वयं है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा किसी को सुख-दुख देने वाला नहीं होता। वह तो आत्मा की ही विशुद्ध परिणति है। श्रमण महावीर ने स्पष्ट कहा है कि—जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है और जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह भी तू ही है—वस्तुतः रागादि की उत्पत्ति हिंसा है, जो प्रमादजन्य होती है और रागादि की अनुत्पत्ति अहिंसा है, जिसमें अप्रमाद, वीतरागता और निर्ग्रंथता पनपती है, प्रतिबिंबित होती है। देखें—

तुमं सि नाम स चेव, जं हंतव्वं त्ति मन्नसि।
तुमं सि नाम स चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।।
रागादीणमनुप्पासो, अहिंसकत्तं ति देसियं समये।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा।।

अहिंसा-हिंसा पर उपर्युक्त विचार जैन धर्म की आधारशिला

पर प्रतिष्ठित है। इसके अनुसार स्वस्थ और आत्मस्थ व्यक्ति कभी भी हिंसक नहीं हो सकता। हिंसक तत्त्व एक बड़ा वर्तुल लेकर आता है और कई गुणा दुख देता है। इसलिए जैन धर्म में ऐसा कर्मवाद है, जिसका समूचा उत्तरदायित्व स्वयं पर आता है। ईश्वर जैसा कोई तत्त्व वहां नहीं है। वासना और आकांक्षा हिंसा के मूल कारण हैं। जीव मरे या न मरे, हिंसा करने का अध्यवसाय ही कर्म का बंध करता है। मूर्च्छा या परिग्रह ही हिंसा है और अमूर्च्छा ही अहिंसा है। यही अहिंसा यथार्थ धर्म है, सत्य की प्रतीति है। समता की अनुभूति है। अहिंसा का अर्थ ही है कि—ऐसी अनुभूति होने लगे कि सारे संसार में दूसरा भी मेरे जैसा ही है। जो मैं अपने लिए ठीक समझता हूं, वही मैं दूसरे के लिए भी ठीक समझूं। यह आध्यात्मिक शक्ति सृजनात्मकता का निर्माण करती है। इसलिए जैन धर्म में अहिंसा को सभी आश्रमों का हृदय, सब शास्त्रों का रहस्य और सभी व्रतों और गुणों का पिंडभूतसार माना गया है। संयम और रत्नत्रय की साधना भी अहिंसा के परिपालन से हो पाती है—

सव्वेसिमासमाणं, हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
सव्वेसि वदगुणाणं, पिंडो सारो अहिंसा हु।।

जैन धर्म की गोद में सृजनात्मकता पलती है। अहिंसा उसी सृजनात्मक शक्ति का पर्यायार्थक है। उसी से जीवन में संगीत लहराता है, गीत गुनगुनाता है और अंतर वीणा से मधुर स्वर झंकृत होने लगते हैं। हिंसा की विध्वंसात्मक वृत्ति समाप्त हो जाती है और जीवन में ऐसे फूल खिलने लगते हैं, जिनकी सुगंध से मानवता का पुनीत प्रांगण सुसज्जित हो जाता है, प्रेम की उत्ताल तरंगें हर व्यक्ति को आह्लादित कर देती हैं।

जैन धर्म की अहिंसा शाकाहार और पर्यावरण संतुलन से आत्मक्रांति की ओर बढ़ती है और मन को पवित्र बनाकर वीतरागता तक पहुंचाती है।

यहां हम अहिंसा को कुछ और गहराई से समझने का प्रयत्न करेंगे और साथ ही शाकाहार और पर्यावरण संतुलन की भी भूमिका को देखेंगे कि किस तरह उनसे अहिंसा पल्लवित होती है और अहिंसा से उनका किस तरह परिपालन होता है। इन तीनों की युति वस्तुतः रत्नत्रय का शृंगार है, इंद्रिय संयमन का आधार है, सांसारिक आपदाओं और दुखों से मुक्त होने का द्वार है और सही धार्मिक होने का सुखद प्रमाण है।

अहिंसा

अहिंसा मानवता का आंतरिक शृंगार है और दया उसकी बाह्य परिणति है, संवेदना के धरातल पर पलने-पुसने वाली सुगंधित पुष्पलता है। संयम, मैत्री, आत्मतुला, सद्भाव, सदाचार जैसे सकारात्मक शब्दों का परिधान है, और है—एक ऐसी नौका जिससे भवसागर को पार किया जाता है, आत्मिक और वैश्विक अभ्युदय पाया जाता है, निर्भय होकर जीया जाता है और निरामय रह कर जिंदगी बसर की जाती है। अहिंसात्मक जीवन को निष्कांक्ष और निराबाध रहने का एक महापथ देता है, जिस पर यात्रा करना एक साधारण व्यक्ति का काम नहीं होता। सांसारिकता से जूझना, राग-द्वेष और मोह के संवेगों-आवेगों को पार करना बड़ा जटिल है, वह सरल नहीं होता। इसीलिए अहिंसा को सभी धर्मों का सार माना जाता है, जीवन का निस्यंद कहा जाता है, जहां सारी समस्याएं शांत हो जाती हैं और वातावरण स्व-पर को त्राण देने के लिए आह्वान करने लगता है।

अहिंसा का यह रूप जैनदर्शन में अपेक्षाकृत अधिक गहराई से उपलब्ध होता है। उसकी परंपरा को यदि देखा जाए, तो हमें हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह जैसे कृत्यों से बचने के लिए एक अहिंसक जीवन की दिशा मिली है—ऐसा मानना चाहिए। इसी को हमने विकास की रूपरेखा के रूप में देखा है। भले ही यह पारस्परिक विरोधी धारा प्रतीत होती हो, पर सामाजिक विकास की यही कहानी है, जिसमें अहिंसा-हिंसा-अहिंसा के पहिए घूमते रहते हैं। सामाजिक और आत्मिक विकास के बीच यह कहानी चलती रहती है।

यौगलिक पद्धति के परिपार्श्व में हम अहिंसा को ही आदि रूप कह सकते हैं। सामाजिक विकास होने पर उसी अहिंसा ने हिंसक रूप ले लिया और फिर उस हिंसा से बचने के लिए 'इच्छा-परिमाण'

की बात आई। विविध विचारधाराओं के कारण धर्मों ने जन्म लिया, जीवन की दिशा बदली, महापुरुषों की आहट हुई और आत्मतंत्र का विकास हुआ। समाजतंत्र भी उसी के साथ चलता रहा। पंच-पापों से विरति की बात आई, हिंसा-अहिंसा की परिभाषाएं बनीं। सामाजिक सूत्र का उद्‌गम हुआ और मुक्ति पथ का सूत्रपात भी हुआ।

तीर्थंकर ऋषभदेव इस सूत्रपात के आधार स्तंभ हैं। इसीलिए उन्हें युगप्रवर्तक कहा जाता है। चतुर्विध संघ के भी स्थापक वही हैं। उन्होंने प्रारंभ में त्रियाम की स्थापना की—अहिंसा, सत्य और बहिद्धान [आचारांग 8.15]। तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने उसमें कदाचित अचौर्य और जोड़ा, जिसे चातुर्याम कहा गया [दीघनिकाय] और महावीर ने उसमें ब्रह्मचर्य जोड़ कर उसे पंचयाम की संज्ञा दे दी [उत्तराध्ययन 21.22]। इन यामों में अहिंसा मूल है और शेष उसके विस्तार हैं, रक्षक हैं। आचार्य हरिभद्र ने अहिंसा को धान कहा और शेष व्रतों को उसके वाड़े के रूप में कल्पित किया। [अहिंसाशस्य संरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादि व्रतानाम्—षोडशप्रकरण 17.5]।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अहिंसा को तत्त्वज्ञान के रूप में स्थापित किया और उसे व्यावहारिक रूप दिया, समाज व्यवस्था का एक अंग बनाया। वैदिक संघ भी पार्श्व परंपरा से प्रभावित था और महात्मा बुद्ध का परिवार भी उसका अनुयाई था। महावीर ने पार्श्व परंपरा को ही तात्कालिक परिवेश में गति दी। उसे श्रावक संघ के स्तर पर नया रूप दिया। हिंसा और परिग्रह का 'इच्छा-परिमाण' कर अल्पीकरण किया और उसी आधार पर अहिंसादि व्रतों को व्रत और महाव्रत का अभिधान दिया। बारह व्रतों के अतिचारों की व्यवस्था ने तो अहिंसा की जो सूक्ष्म व्याख्या की है, वह गृहस्थ और मुनिधर्म की दृष्टि से बड़ी उपादेय है। गृहस्थ धर्म का पालन न करने वाला व्यक्ति अहिंसा धर्म की सीमा से बहुत दूर खड़ा रहता है। हिंसामय जीवन जीवन नहीं है। व्यवहार में उसे यथाशक्य परिसीमित करना अत्यावश्यक है।

परिसीमन को ही धर्म की भाषा में संयम कहा जाता है। इसलिए संयमपूर्ण व्यवहार ही अहिंसा है। मन, वचन, काय से प्राणी हिंसा से दूर रहने को ही अहिंसा कहा जाता है। व्यवहार में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीवों की विराधना अधिक होती है। इसलिए आचारांग शास्त्र का प्रारंभ ही उस विराधना से बचने के उपदेश से हुआ है। अहिंसा का मूलमंत्र इस चिंतन से शुरू होता है कि कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता, जीना चाहता है। इसलिए किसी भी प्राणी का वध नहीं किया जाना चाहिए। निर्ग्रंथ किसी का वध नहीं करते।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मिरिज्जउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, णिगांथा वज्जयंति णं।।

सूत्रकृतांग शास्त्र में इसी आधार पर आत्मतुला का सिद्धांत दिया कि प्राणी-मात्र को आत्मतुल्य समझना चाहिए [**आय तुले पयासु**—1.10.3]। आत्मतुला सिद्धांत को अंतर में उतारने के दो मार्ग हैं—एक तो प्राणी-वध न करना-कराना और दूसरा स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि के माध्यम से इस वृत्ति को स्थाई बनाना, अंतरंग पवित्र करना। प्रथम मार्ग निषेधात्मक है और दूसरा मार्ग विधेयात्मक है। दोनों मार्ग एक-दूसरे के परिग्रह हैं। इसी आधार पर जीवों के प्रति संयम भाव जाग्रत होता है—**अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूयेसु संजमे।**

सभी प्राणियों के वध से पूर्ण निवृत्ति जीवन का यदि लक्ष्य बनता है, तो इसे आचार्यों ने पूर्ण अहिंसा का रूप माना है। ऐसा व्यक्ति आत्मकेंद्रित है, आत्मा में रमण करने वाला होता है। उसे न शरीर से मोह रहता है और न किसी प्रकार की सांसारिकता की आकांक्षा रहती है। पूरी तरह निराकांक्ष और निराकुल वीतरागी जीवन-साधना ही उसका ध्येय रहता है। यह जीवन साधना विरल होती है, असाधारण होती है। इसलिए अहिंसा को सार्वजनिक और व्यावहारिक बनाने के लिए आचार्यों ने उसके दो रूपों पर विचार किया। एक रूप तो यह है कि जिसके बिना जीवन प्रक्रिया चल न सके। जीवन रथ को

चलाने के लिए आवश्यक हिंसा का त्याग नहीं किया जा सकता। जितनी हिंसा अनिवार्य है, उससे नहीं बचा जा सकता। इसे व्यवहार्य अहिंसा कह सकते हैं। व्यक्ति को औचित्य की सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। देशरक्षा, आत्मरक्षा, पररक्षा आदि कार्यों में हिंसा होना स्वाभाविक है। पर, यह हिंसा विवशता का परिणाम होता है। उसमें साधक लिप्त नहीं होगा। हिंसक के प्रति अहिंसक साधनों का अधिकाधिक उपयोग किया जाना चाहिए। यह श्रावक व्रत की परिसीमा है। अहिंसा का दूसरा रूप है—निरर्थक हिंसा न करना। ऐसी हिंसा नहीं करना जिसका जीवन की यथार्थता से कोई संबंध न हो। इसे अनर्थ दंड व्रत कहा गया है। यह भी श्रावक व्रत से जुड़ा हुआ है। शिक्षाव्रत अहिंसादि व्रतों के सहायक हैं और सामाजिकता को निबाहने वाले हैं। कुतूहल मात्र के लिए जीवों की विराधना करना या उन्हें कष्ट पहुंचाना अनर्थ दंड की परिसीमा में आता है।

जैन परंपरा में हिंसा-अहिंसा पर गंभीर विचार किया गया है। मोटे रूप में निश्चयनय और व्यवहारनय का आधार लेकर उस पर चिंतन किया गया है। निश्चयनय दृष्टि से आत्मा ही अहिंसा है। उसकी अप्रमत्त अवस्था को ही अहिंसा माना जाता है। [*आयाचेव अहिंसा हरिभद्र, अष्टक 7वीं वृत्ति*]। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमत्त अवस्था हिंसा है। राग-द्वेष ही आत्मा की प्रमत्त अवस्था है, जहां व्यक्ति निरंतर प्राणी-वध करता रहता है। [*पुरुषार्थ सिद्धुपाय 42-48*]। इन दो शब्दों में ही अहिंसा का समूचा दर्शन भरा हुआ है। प्रमत्त का तात्पर्य है—आत्मगुण का हनन करने वाला। आत्मा का मूल गुण है—ज्ञान-दर्शन मय होना, विशुद्ध अवस्था। राग-द्वेष-मोहादि विकार भावों से यह आत्मा कर्माच्छादित हो जाती है और संसार में परिभ्रमण करती रहती है। इसी प्रमत्त भरे जीवन से हिंसा होती है। अप्रमत्त हो जाने पर हिंसा का यह रूप समाप्त हो जाता है और साधक जीव संसार से निवृत्त हो जाता है। जीवन के अथ से इति तक वस्तुतः इसी प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था की कहानी है। मुक्त अवस्था में आत्मा का विशुद्ध रूप रह जाता है। वही यथार्थ अहिंसा है, पूर्ण अहिंसा मुक्ति का रूप है। अहिंसा नकारात्मक है, इसलिए धर्म की परिभाषा भी नकारात्मक होती है। शरीर की सुरक्षा के लिए हिंसा आवश्यक होती है। इसलिए मुक्ति प्राप्ति के लिए शरीर मोह का त्याग भी आवश्यक होता है। मोह प्रबलतम कर्म है, जो हिंसा का ही प्रमुख अंग है।

हिंसा के प्रमुख निमित्त हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ—जिन्हें कषाय कहा जाता है। सारा व्यापार-व्यवहार कषायजन्य होता है, जो त्रसकायिक है। त्रसकायिक जीवों की हिंसा से ही अधिकांश व्यापार चला करते हैं। कृषि, गृहादि निर्माण में स्थावर जीवों की हिंसा होती है। त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा में अज्ञान कारण होता है। विषयासक्त अवस्था में अज्ञान ही समस्त पापों का जनक है। पाप करने वाले की कषाय की परिणति और भावों की न्यूनाधिकता के अनुसार ही पापों की सघनता और बंधावस्था होती है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से पाप बंध होता रहता है। इनसे विरत रहना और शुद्ध भाव बनाए रखने से अहिंसा का परिपालन हो पाता है। यह प्रवृत्ति-मूलक चित्तवृत्ति जीव के सदैव बनी रहती है, इसलिए कर्म बंधावस्था भी चलती रहती है। कर्मबंध की यह निमित्तात्मक क्रिया शरीर से होती है, हिंसा के साधनों से होती है [*अधिकरणिकी*], द्वेषजन्य होती है [*प्राद्वेषिकी*], स्व-पर को कष्ट देने से होती है [*पारितापनिकी*] और प्राणीघातजन्य होती है। यह क्रिया अविरतजन्य होती है। सर्वविरति प्रत्याख्यानीय चरित्र मोह के विलय से ही प्राप्त होती है। यही संवर-निर्जरा है, जो मोक्ष का कारण है।

मैत्री, सद्भाव, संतोष, समता आदि सकारात्मक भाव अहिंसा-मूलक हैं, जो हमारी स्वाभाविक प्रक्रिया है। हिंसा में विवशता होती है, परवशता होती है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए, परिवार का भरण-पोषण करने के लिए, शासन करने के लिए हिंसा करनी पड़ती है। हिंसा के बिना जीवन की गति नहीं है और अहिंसा के बिना मानवीय गुणों की प्राप्ति नहीं होती। अतः जैन धर्म में मध्यम मार्ग है—अहिंसाणुव्रत, जो हमारी मानसिक क्रियाओं पर आधारित है। इस दृष्टि से हिंसा के चार

प्रकार होते हैं—(1) **संकल्पी**—दूसरों का स्वत्व छीनना, प्राणीवध करना, (2) **आरंभी**—परिवार चलाना, गृहादि बनवाना, (3) **उद्योगी**—कृषि आदि व्यापार करना, और (4) **विरोधी**—आतंकवाद से निबटना। गृहस्थ आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता, अतः उसे यथासंभव उसका त्याग करना चाहिए। जबकि संकल्पी हिंसा का उसे पूर्णतः त्याग करना चाहिए, क्योंकि उसका उद्देश्य ही हिंसा करना है। अतः गृहस्थ के लिए वह सर्वतः वर्जनीय है।

अहिंसा के इस विशाल प्रांगण में आत्मतत्त्व की विशुद्ध अवस्था प्राप्त करना ही साध्य माना जाता है। इस साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी शुद्ध होना चाहिए। साध्य-साधन की पूर्ण पवित्रता जीवन का आधार है। निश्चय दृष्टि तत्त्वदर्शी होती है और व्यवहार दृष्टि स्थूल होती है। वृत्ति, क्रिया और परिणाम एक सूत्र से बंधे रहते हैं। जैसी वृत्ति होगी, वैसी क्रिया होगी और जैसी क्रिया होगी, वैसा परिणाम होगा। वृत्ति बुरी हो और परिणाम अच्छा हो—यह संभव नहीं। यदि होता भी है, तो वह तात्कालिक और प्रासंगिक मात्र होता है, आभास मात्र होता है। जिसके जाल में फंस कर जीव मोहादि के वशीभूत होकर हिंसक कार्यों में संलग्न हो जाता है। यह वस्तुतः उसका मिथ्याभ्रम है, अस्थायी लाभ है। आत्मशुद्धि तो बिना अहिंसा-परिपालन के होती ही नहीं है। सापेक्षभाव को समझना अत्यावश्यक है। धर्म-अधर्म वस्तुतः हमारी आत्मा की मुख्य प्रवृत्ति पर आधारित है। प्रासंगिक प्रवृत्ति धर्म-अधर्म के कारण नहीं बनती। तपादि की व्याख्या भी इसी आधार पर हुई है। सम्यक्दर्शन और मिथ्यादर्शन की मीमांसा जैन धर्म में बड़ी गहराई से की गई है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण में इसी वस्तु-स्थिति का अन्वेषण होता है। द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के विवेचन की भी यही आधारभूमि होती है।

अहिंसा के विवेचन में एक प्रश्न उभर कर सामने आता है कि क्या आध्यात्मिक दृष्टि व्यावहारिक है? इस प्रश्न का उत्तर सापेक्ष दृष्टि से दिया जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि को अव्यावहारिक वे लोग मानते हैं, जो मात्र सामाजिक सुख-सुविधा की बात करते हैं। अध्यात्म और सुख-सुविधा में कोई मेल नहीं होता। यह बात सही है कि अध्यात्मवाद और समाज व्यवस्था एक प्रकार से विरोधी तत्त्व हैं। समाज व्यवस्था जिस तत्त्व में हिंसा आदि को व्यवहार्य मानती है, अध्यात्मवाद उसे अस्वीकार करता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि अध्यात्मवाद शतशः अव्यवहार्य है। हमें अतिवाद में न पड़ कर मध्यम मार्ग को अपनाना होगा और सापेक्षता की दृष्टि से प्रश्न का उत्तर खोजना होगा। अनिवार्य हिंसा को समाज व्यवस्था में भुला दिया जाता है और अध्यात्मवाद उसे किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकता।

उन्मुक्त यौनाचार, हत्या, चोरी आदि कुकृत्य समाज व्यवस्था में भी मान्य नहीं हैं। विवाह व्यवस्था और व्यापार आदि के रूप में उन्हें सीमित कर दिया जाता है। अध्यात्मवाद परिपूर्णता की ओर देखता है, पर समाज व्यवस्था हिंसादि को संयमित रूप में स्वीकार करती है। समाज व्यवस्था एक प्रकार से गृहस्थ धर्म है, जो नैतिकता की भित्ति पर खड़ा है। उदाहरण के तौर पर एक गृहस्थ का नैतिक कर्तव्य है कि वह अपने आश्रित मनुष्यों और पशुओं का वध-बंधन न करे, मारे-पीटे नहीं, अपशब्द न कहे, पशुओं पर अधिक बोझ न लादे, उन्हें समय पर भोजन-पान दे। क्रय-विक्रय में झूठ न बोले, जालसाजी न करे, झूठी लिखा-पढ़ी न करे, झूठी गवाही न दे, चोरी न करे, चोरी का धंधा न करे, माप-तौल में अप्रामाणिकता न हो, राजकीय नियमों का उल्लंघन न करे, मिलावट न करे, परस्त्री-पुरुष के साथ सहवास न करे, धनसंग्रह को सीमित करे, अनर्थ दंड न करे—इत्यादि रूप से अतिचारों से बचा जाना चाहिए। गृहस्थ धर्म में हिंसा और परिग्रह का अल्पीकरण होना एक अनिवार्य तत्त्व है, जो अध्यात्मवाद को स्वीकार्य नहीं होता।

अध्यात्मवाद महाव्रती के लिए होता है, जहां अल्पीकरण के स्थान पर पूर्ण निवृत्ति होती है। इसलिए साधु को उस रूप में समाज व्यवस्था का अंग नहीं माना जाता। फिर भी स्थूल-सूक्ष्म सत्य की दृष्टि से

जीवन अहिंसा से जुड़ा हुआ रहता है। उसे समन्वित किया जाता है। लौकिक जीवन प्रवृत्ति जहां समाप्त होती है, वहां आध्यात्मिक जीवन प्रारंभ होता है। एक ओर प्रवृत्ति है, दूसरी ओर निवृत्ति है। इस प्रवृत्ति और निवृत्ति में समन्वित दृष्टि का होना नितांत आवश्यक है। अत: गृहस्थावस्था में हिंसा और अहिंसा को सीमित रूप में स्वीकारा गया है और यह हमारे विवेक पर निर्भर करता है। हिंसा को भले ही गृहस्थ पूरी तरह न छोड़ सके, पर उसका परिसीमन तो करना ही होता है। शाकाहार और पर्यावरण संतुलन भी इसी सीमा में संयोजित हैं। इसे हम सामाजिकता कह सकते हैं।

अहिंसा के संदर्भ में यह तथ्य भी समझ लेना आवश्यक है कि भाव शुद्धि का बहाना कर कोई हिंसा कार्य से मुक्त नहीं हो सकता। अप्रमत्त व्यक्ति से यदि हिंसा होती है तो वह उतना बंध का कारण नहीं होता, जितना प्रमत्त द्वारा की गई हिंसा बंध का कारण होती है। प्रमत्त व्यक्ति द्रव्य हिंसा करे या न करे, उसकी भाव हिंसा तो होती ही रहती है। हिंसा का मूल कारण है राग-द्वेष जन्य प्रवृत्ति, अविरत और असंयमित स्थिति। अत: अहिंसा के परिपालन के लिए वीतराग भाव की आवश्यकता होती है। अनुकंपा प्रशस्त और अप्रशस्त, दोनों तरह की होती है। मोहजन्य अनुकंपा लौकिक और अप्रशस्त होती है तथा आध्यात्मिक अनुकंपा प्रशस्त और आत्मपरक होती है। लोकदृष्टि से विचार करने पर अनुकंपा को प्रशस्त भी कहा जाएगा, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में उसे प्रशस्त नहीं कह पाएंगे। फिर भी वह अध्यात्म के लिए कारण तो होती ही है।

अहिंसा और दया समानार्थक शब्द हैं। 'प्रश्न व्याकरणांग' में अहिंसा के साठ पर्यायवाची शब्द दिए हुए हैं। उनमें दया भी एक है। अहिंसा को सभी धर्मों ने स्वीकारा है, पर उसकी परिभाषा में अंतर हो गया है। अपराधी को मारना हिंसा नहीं है। देव, गुरु और धर्म की रक्षा करने के लिए जो हत्या की जाती है—उसे भी हिंसा की कोटि में नहीं रखा जाता, ऐसा माना जाता है। पर, जैन धर्म इसकी व्याख्या बड़ी गंभीरतापूर्वक करता है। उसके अनुसार अहिंसा प्राणी-मात्र के प्रति एक संयत वृत्ति है। उसका संबंध मात्र परिवार, समाज या राष्ट्र ही नहीं है। उसका कैनवस बहुत विशाल है। वहां अहिंसा के दो भेद किए गए है—अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा। अर्थ या आवश्यक हिंसा में दृष्टिकोण का ध्यान रखा जाना आवश्यक है। एक साधारण व्यक्ति के लिए यह हिंसा अनिवार्य हो सकती है, पर उसे अहिंसा की परिभाषा का ध्यान रखना आवश्यक है। श्रावक के लिए वह विधेय है। निरर्थक हिंसा भी नहीं होनी चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्र में हिंसा को किसी रूप में अहिंसा नहीं माना जा सकता, पर लौकिक क्षेत्र में हिंसा को किसी सीमा तक विधेय कहा जा सकता है। उसे हिंसा करते समय अपने भावों की शुद्धि का ध्यान और उसकी समझ रखना जरूरी है। यह स्थिति अणुव्रत की परिसीमा में आती है। विवेक चेतना सदैव जाग्रत रहनी चाहिए।

अहिंसा का विवेचन और उसका परिपालन वस्तुत: बड़ा जटिल है। मानवीय संस्कृति का पल्लवन अहिंसा की भूमिका पर ही होता है। अहिंसा योगक्षेत्र है। भय, आशंका और असुरक्षा के समय एक अनुपम शरण है।—**सव्वे पाणा ण हंतव्वा, एस धम्मे धुवे णिइए सासए**—अर्थात् संसार का कोई भी प्राणी हंतव्य नहीं है। यह अहिंसा धर्म ही ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। इसका विवेचन लौकिक और आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है। परिग्रह हिंसा है, पर परिग्रह की रक्षा के लिए हिंसा भी विधेय है। दूसरे शब्दों में जैन धर्म के अनुसार अहिंसा परिवार पालन या सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के निर्वाह करने में बाधक नहीं बनती। वह तो व्यक्ति का कर्तव्य है। इसे ही अणुव्रतों का पालन कहा गया है, जो महाव्रत पालन का प्रारूप है, भूमिका है। महाव्रती किसी भी स्थिति में हिंसा नहीं करता। पर, गृहस्थ हिंसा से बच नहीं सकता। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि वह किसी भी तरह की अपरिमित हिंसा करता चला जाए। प्रसाधन सामग्री में जिस क्रूर हिंसा का उपयोग होता है, उसे कैसे विधेय माना जा सकता है? बंदर, खरगोश, चूहे, विज्जू, बिल्ली, सूअर आदि पशु-पक्षियों के करुण क्रंदन पर पलने वाले इस प्रसाधन का उपयोग कौन मानवीय दृष्टिवाला करना

चाहेगा? वनस्पति जगत के प्रति कौन संवेदनशील नहीं होगा?

अहिंसा का प्रशिक्षण इस दृष्टि से अब आवश्यक हो गया है। जब तक सहअस्तित्व और आत्मतुला की भाषा में हम विचार नहीं करेंगे, तब तक अहिंसा के दर्शन को न समझा जा सकता है और न उसे व्यवहार में उतारा जा सकता है। पदार्थ जगत के साथ अहिंसा के संबंध को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। स्वार्थ परायण वृत्ति का परित्याग कर 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के सिद्धांत का जब तक परिपालन नहीं होता, मानवीय संबंधों में परिष्कार नहीं आ सकता। सामाजिक संबंधों में स्वार्थ बाधक न बने। वह तो परार्थ कल्याण है। उदात्त धरातल पर परार्थ कल्याण की बात होनी चाहिए। पर्यावरण संतुलन की चेतना का विकास भी इन्हीं मानवीय संबंधों के आधार पर होता है। युगीन समस्याओं का समाधान भी इसी आधार पर संभव है। समन्वय और भावात्मक परिवर्तन की दिशा में स्वानुभूति की चेतना जाग्रत होती है। अहिंसा की चेतना का विकास भी उसी की गोद में हो पाता है। सामाजिक विकास के साथ ही आत्मिक विकास का भी वही महापथ है। सम्यक्दर्शन ही उसकी आधारशिला है।

शाकाहार

शाकाहार वस्तुतः आध्यात्मिकता का एक अंग है। मानवता पर टिकी एक जीवन पद्धति है—जिसमें न किसी का शोषण है, न लूटपाट है, न दमन है, न हिंसा है, न उत्पात है। उसमें तो सहानुभूति, संयम, सहजता, सहिष्णुता और सामुदायिकता है, निश्चैन्हिक धर्म का परिपालन है। किसी धर्म विशेष से इसका संबंध नहीं है। भले ही किसी धर्म विशेष ने उसे अपना अभिन्न अंग स्वीकार कर लिया है। वह तो एक ऐसा दर्शन है, जिसमें विश्व कौटुंबिक अवधारणा पली-पुसी है। यह पर्यावरण को सुरक्षित रखने का अहिंसक साधन है और खुशहाली को स्थापित करने का एक सुनियोजित विशुद्ध मार्ग है। उसमें परम शांति है, क्रांति का सिंहनाद है और हृदय परिवर्तन होने का मनोरम अहिंसक रक्षाकवच है।

लगता है, शाकाहार का जन्म मांसाहार की कोख से हुआ है। मांसाहारी समुदाय हिंसा की आग में जला और पाया कि हिंसा करने में कोई औचित्य नहीं है। इसलिए हिंसा त्याज्य है। इसी उदात्त भाव से अहिंसा और अहिंसा से शाकाहार का जन्म हुआ। उसमें कायरता नहीं है। मानवता है। प्रेम का विस्तार है।

आज के बहु-आयामी जीवन में बढ़ती हुई हिंसक पद्धतियों ने व्यक्ति को इतना आत्मकेंद्रित कर दिया है कि वह हेयोपादेय का विवेक किए बिना ही अपने वित्ताधारित लक्ष्य को पूरा करने में जी-जान से लगा हुआ है। कीटनाशक दवाओं ने उसके हर कदम पर प्रश्नचिह्न खड़े कर दिए हैं। संवेगों-आवेगों पर नियंत्रण किए बिना ही व्यक्ति अपने उदर को कचराघर बनाए जा रहा है। तामसिक और राजसिक आहार ने उसके मन पर अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा आघात किया है, जो कुसंस्कार बन कर जन्म-जन्मांतर तक साथ नहीं छोड़ता। सात्त्विक भोजन में जो सादगी, समरसता और कारुणिकता रहती है, वह मांसाहार में कहां मिल सकती है। शाकाहार तो एक सुखद, अहिंसामूलक और प्राकृतिक आहार है। जिसमें मानवीय संवेदनाओं का जुड़ाव है।

हमारा इतिहास युद्धों और संघर्षों से भरा हुआ है। इनमें क्रूरतापूर्वक मारे गए लोगों की गणना की जाए तो यह करोड़ों पर पहुंचेगी। उसमें वधशालाओं में मूक जीवों की हत्याओं को और जोड़ दें तो निश्चित ही यह संख्या अरबों तक पहुंच जाती है। नई-नई तकनीकों का प्रयोग करके भी यह संख्या बढ़ाई जा रही है। यह मात्र द्रव्यार्जन के लिए है। वधकों और उद्योगपतियों के मन में कभी यह करुणा का भाव नहीं आता कि जैसे वे इन मूक पशुओं का वध कर रहे हैं और उनके असहाय क्रंदन का बोझ उठा रहे हैं, वैसी ही आपदा यदि उनके प्राणों के साथ होती, तो क्या होता? दुर्लभ पशु-पक्षी भी इस बलिवेदी पर स्वाहा हो जाते हैं।

प्रसन्नता का विषय है कि अब विचार करवट ले रहे हैं। अभी तक यही सोचा जाता था कि शाकाहार में कोई विटामिन नहीं है। रोगों से मुक्त होने के लिए उनमें कोई प्रतिरोधक शक्ति नहीं है। पर, अब जो शोध

हो रहे हैं और प्रयोगों के माध्यम से जो वस्तुस्थिति सामने आ रही है, उससे इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि शाकाहार में किसी भी तत्त्व की कमी नहीं है, जो हमारे स्वास्थ्य को बिगाड़ दे। बल्कि, उसमें मांसाहार की अपेक्षा प्रतिरोधक क्षमता अधिक है। जिन पशुओं को मार कर मांस तैयार कराया जाता है, उनकी अर्थ-मीमांसा की जाए तो उन्हीं पशुओं से इतना पैसा मिलता है, जो उनको मारने की तुलना में बहुत अधिक होता है। फिर भी किसी में इतनी मानवीय संवेदना न हो, तो वह मानव कहलाने का हक खो देता है।

यही नहीं, प्राकृतिक संतुलन बनाए रखने के लिए भी शाकाहार एक अनिवार्य जीवन पद्धति है। 'जीवो जीवस्य भोजनम्' कह कर मांसाहार का समर्थन किया जाता है, पर इस उक्ति का समर्थन करने वाले यह भूल जाते हैं कि इससे वे भूमि की उर्वरा शक्ति को मटियामेट कर रहे हैं। वृक्ष और पशु-पक्षी ही भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करने वाले तत्त्व हैं। जिन्हें यह क्रूर मानव पैसे और उदर की भूख मिटाने के लिए नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। उसे जैन धर्म के सूत्र 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' पर कभी विचार करने का अवसर नहीं मिला। 'वसुधैव कुटुंबकम्' का आधार लेकर यदि कभी ये मांसाहारी करुणा, स्नेह, प्रेम और संवेदना जैसे मानवीय भावों पर विचार करें, तो समूची मानव जाति का कल्याण हो जाए। अहिंसा का एक भी पाठ उनके हृदय को छू ले, तो वे पारिस्थितिकी तंत्र का भी बहाना छोड़ देंगे और यह अनुभव करने लगेंगे कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और मनुष्य—सभी का इस क्षमा-धारित्री वसुधा के साथ अंत:संबंध है। जिसे तहस-नहस करने का हमारा कोई अधिकार नहीं है। उन्हें नष्ट कर हम नई-नई विपदाओं को ही आमंत्रित कर रहे हैं।

शाकाहार वस्तुत: एक ऐसी जीवन पद्धति है, जिसमें मां की ममता और पिता की भरण-पोषणता भरी हुई है। सुख, समता, साहचर्य, सहिष्णुता, शांतिमय सहअस्तित्व से आपूरित—यह एक ऐसी अहिंसक जीवनशैली है, जिसमें खोने के लिए कुछ भी नहीं है। पाना ही पाना है। संवेगों और आवेगों से बचने के लिए और सांसारिकता के पंक से मुक्त रहने के लिए भी शाकाहार के सूत्र निश्चित ही अत्यंत उपयोगी हैं। विश्व शांति की प्रस्थापना में भी इसके संयोजन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अहिंसक समाज की रचना तब तक नहीं हो पाएगी, जब तक विश्वपटल से युद्ध और संघर्ष समाप्त नहीं होंगे। शाकाहार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अपना सहयोगी कदम इस यज्ञ में दे सकता है।

आज परिस्थितियां इतनी भयावह हो गई हैं कि शुद्ध अहिंसक और शाकाहारी बने रहना सरल नहीं है। खाने-पीने की चीजों को अधिक स्वादिष्ट और स्थाई बनाने के लिए ऐसे हिंसक पदार्थ मिला दिए जाते हैं, जो हमें तो अज्ञात रहते हैं, पर हैं घातक। आचार और विचार की गिरावट ने अहिंसा और शाकाहार की मूल अवधारणा को एक दकियानूसी विचार की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है।

इसके बावजूद जैन परंपरा और शैली लोगों को आज भी आकर्षित कर रही है। गिरावट के इस युग में नए ढंग से परिणामों के अध्ययन किए जा रहे हैं। दुष्प्रभावों से जागरूक किया जा रहा है। क्रूरता और अमानवीयता को रोकने के लिए कानून बनाए जा रहे हैं। इसलिए अहिंसा और शाकाहार के लिए सुबह की किरणें दिखाई दे रही हैं। लोग पुन: शाकाहार की ओर आकर्षित हो रहे हैं। पशुओं की यातनाएं कानूनन कम हो रही हैं। दूसरी ओर मांसाहार विविध बीमारियों की जड़ है—इस तथ्य को अब लोग समझने लगे हैं। अंडा भी मांसाहार है, इसे लोग मानने लगे हैं।

परिस्थितियों ने यह यक्ष प्रश्न खड़ा किया है और परिस्थितियां ही इस प्रश्न का समाधान करने में जुटी हुई हैं। प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि निरोगी होकर शतायु तक पहुंचना है तो शाकाहारी और निर्व्यसनी बनो। **'सर्वे भवंतु सुखिनः'** और **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के आधार पर सभी जीवों से प्यार करो, मांसाहार से बिल्कुल दूर रहो। महावीर के आत्मतुला सिद्धांत को गहराई से समझो और अनर्थक हिंसा से बचो। मानवीय भावों के स्रोतों से आपूरित रहे बिना

स्वस्थ रहा नहीं जा सकता। सारी पृथ्वी वनस्पति पैदा कर शाकाहारी भोजन देने में सक्षम है, फिर दूसरों के प्राणों की आहुति लेकर अपने शरीर को बलिष्ठ बनाने की अज्ञान चेतना से अपने ही प्राणों का बलिदान करने की ओर व्यक्ति क्यों आगे बढ़ रहा है? क्रोधादि कषायों को बढ़ावा देने वाला मांसाहार क्यों नहीं छोड़ा जा सकता? **'अहिंसा परमो धर्मः'** का उद्घोष क्यों लोकप्रिय नहीं हो रहा है। पर्यावरण को प्रदूषित होने से क्यों नहीं बचाया जा रहा है? ये सारे प्रश्न उठ रहे हैं और उनका उत्तर भी खोजा जा रहा है—अहिंसा, शाकाहार और पर्यावरण।

यह तो स्पष्ट है कि शाकाहार और पर्यावरण दोनों का मूलाधार अहिंसा है और **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** की भावना पर ही तीनों दर्शन पल्लवित हुए हैं। वाल्मीकीय रामायण का यक्ष संवाद [महाभारत, वनपर्व] उल्लेखनीय है—जहां युधिष्ठिर से यक्ष ने प्रश्न किया कि इस धरातल पर सर्वाधिक सुखी कौन है? उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा—**'शाक पचति वै गृहे'**—अर्थात् वही घर सुखी है, जहां शाक पकती है। दूसरे शब्दों में शाकाहारी ही सुखी है। यजुर्वेद [अ. 17-18] और छांदोग्योपनिषद् [7.26.2] आदि प्राच्य ग्रंथों में—**'यो शाकी शक्ति मानै'**—जैसे शाकाहार को पुष्ट करने वाले उद्धरण मिलते हैं। बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम, सिक्ख आदि सभी धर्म अहिंसा, शाकाहार और पर्यावरण संरक्षण के पक्षधर हैं।

शाकाहारी अहिंसक होता है और अहिंसा से ही पर्यावरण की सुरक्षा होती है। शाकाहारी व्यक्ति पेड़-पौधों को अनावश्यक रूप से हानि नहीं पहुंचा सकता। वह उसकी रक्षा के लिए हर संभव प्रयत्न करता है। वनस्पतियों के ऊपर लगने वाले फूल-फलों का उपयोग होने के साथ ही उनके बीजों का वितरण भी हो, जो उनकी संतति के संवर्धन में सहायक होता है। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि शाकाहार को व्यवहारतः हिंसक कार्य की सीमा के अंतर्गत नहीं रखा जाता। इसे वस्तुतः सहअस्तित्व की भावना कहा जा सकता है।

जैन धर्म प्रारंभ से ही वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को स्वीकार करता आया है। आचारांग सूत्र [1.1-5], पण्णवणा, जीवाजीवाभिगम, मूलाचार, गोम्मट्टसार जीवकांड आदि अनेक ग्रंथ इस तथ्य के प्रमाण हैं। प्रयोगों से भी यह सिद्ध हो गया है कि पौधों में संवेदनशीलता होती है, मन के भाव समझने की शक्ति होती है। प्रयोगों से यह पता चलता है कि पौधों में भय, प्रसन्नता, दयार्द्रता आदि गुण होते हैं। सर जगदीशचंद्र वसु ने अपने प्रयोगों से ये तथ्य स्थापित किए हैं। प्रो. टी.एन. सिंह ने संगीत का प्रयोग कर यह सिद्ध किया है कि पौधे संगीत की मधुर ध्वनि से प्रसन्न होकर अधिक बढ़ जाते हैं और भय से कुम्हला जाते हैं। जैन परंपरा में इसीलिए वनस्पति आदि को छेड़ते भी नहीं हैं, ताकि उन्हें कष्ट न हो। माना गया है कि वनस्पतिकायिक जीवों में मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान रूप दो प्रकार का साकारोपयोग होता है। उनमें मस्तिष्क न होने के बावजूद दूरदर्शिता होती है। सोना या निद्रा लेना दर्शनावरणीय कर्म का उदय माना जाता है, जो वनस्पतियों में होता है।

अतः शाकाहार न केवल आहार है, बल्कि एक भावना, संवेदना और आंदोलन भी है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के आधार पर विश्व शांति का सूत्रधार है। वह एक सात्त्विक आहार है, जिससे सम्यक् चिंतन और बौद्धिक विकास होता है। वह ऐसा आदर्श भोजन है—जिससे सदाचार, सद्व्यवहार और संयम-साधना की खेती होती है। मन तनाव मुक्त रहता है, बीमारियों का अंदेशा कम हो जाता है, क्रूर भावों का पलायन हो जाता है और सामाजिक समता की कोंपल फूट पड़ती हैं। अहिंसा की गोद में ही शाकाहार पलता-पुसता है। पर्यावरण संतुलन भी इसी के माध्यम से होता है। जैन धर्म ने इसकी मीमांसा करते हुए स्पष्ट कहा है कि कोई भी जीव मरना नहीं चाहता, जीवित रहना चाहता है। इसलिए निर्ग्रंथ लोग प्राणी-वध नहीं करते—

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीवितं न मरिज्जउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्ज यंतिणं।।

मानव प्रकृति से शाकाहारी है। उसकी शारीरिक

रचना भी मांसाहारी पशुओं से बिल्कुल भिन्न है। शेर, कुत्ता, बिल्ली आदि मांसाहारी पशुओं के दांत नुकीले और तेज नाखून होते हैं। ये पानी को चाटते हैं, इनकी जीभ खुरदरी होती है, जिगर व गुर्दे बड़े होते हैं। उनके पाचन अंगों में मनुष्य के पाचन अंगों की अपेक्षा दस गुना अधिक 'हाइड्रोक्लोरिक एसिड' होता है, जबकि शाकाहारी जीवों की विशेषताएं इनसे बिल्कुल भिन्न है।

'हदीस' में पैगंबर साहिब ने लिखा है कि—'सभी प्राणियों के प्रति करुणा भाव रखो, क्योंकि खुदा ने तुम पर मेहरबानी की है।'—जानवरों के साथ आदमी का सुलूक प्यार, रहम, मुहब्बत और इज्जत का होना चाहिए। इस्लाम में रक्त के उपयोग पर सख्त मनाही है। इसी तरह ईसाई धर्म में भी करुणा, प्यार, दया और ममता के लिए विशिष्ट स्थान है। कुरान शरीफ खूरेबकर में हज के वर्णन में लिखा है—जानवरों को मारना बंद करो—**'हर हम मनफिर अर्देयरहम नुकुमर्रहमान'**—अर्थात् दुनिया वालों पर तुम रहम करो, क्योंकि खुदा ने तुम पर बड़ी रहम की है।—**'वे इजा तवल्ला सआ फिल अरदे लयुक सेदा फीहा व युह लिकल हरसा बन्नसल वल्लाहुला युहिब्बल फसाद'**—अर्थात् जानवरों को मारना और खेती को बरबाद करना जमीन में खराबी फैलाता है। अल्लाह खराबी को पसंद नहीं करते।

पशु जगत की सुरक्षा और उनके प्रति ममता का जैन धर्म प्रारंभ से ही पक्षधर रहा है। 'जसहर चरिउ' में प्राणीवध को आत्मघात तुल्य माना गया है। नेमिनाथ-राजीमती के विवाह के प्रसंग पर निरीह प्राणियों की हत्या को रोकना जैन धर्म की अहिंसा और शाकाहारी वृत्ति का पवित्र निदर्शन है। सोमदेव ने भी 'यश स्तिलकचंपू' में इसी तथ्य का उद्घाटन किया है। इसका आगमिक आधार रहा है। आचारांग सूत्र के प्रारंभिक भाग में शस्त्र-हिंसा के प्रसंग में वनस्पति आदि त्रसकायिक जीवों के विघातन से मुक्त रहने का उपदेश दिया गया है। ठाणांग में मधु, मांस, मद्य और नवनीत को महा विकृतियों के रूप में गिना गया है। इसी तरह उत्तराध्ययन का अरिष्टनेमि प्रकरण (22 वां अध्ययन) भी इसी का समर्थक है। मूलाचार, प्रवचनसार, भगवती आराधना आदि प्राचीन जैन आगम ग्रंथ भी मांस-भक्षण का निषेध करते हैं।

पर्यावरण

जैसे शाकाहार अहिंसा का अभिन्न अंग है, वैसे ही पर्यावरण भी अहिंसा से पृथक नहीं किया जा सकता। अहिंसा, शाकाहार और पर्यावरण—परस्पर में गुंथे हुए हैं और एक ही सूत्र में पिरोए गए मणिमाला के मोती हैं। पर भारतीय संस्कृति—विशेष रूप से जैन परंपरा में प्रारंभ से ही इस पर ध्यान दिया गया है। इसमें प्रकृति का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। आज तो यह परिपक्व विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है।

अहिंसा, शाकाहार और पर्यावरण एक-दूसरे से समन्वित तत्त्व हैं, जो मानवीय जीवन पद्धति की आधारशिला है। यद्यपि सभी दर्शनों में अपने-अपने ढंग से इन तत्त्वों पर विचार किया गया है, पर जैन दर्शन ने जितनी सूक्ष्मता और तलस्पर्शिता से चिंतन दिया है, वह अन्यत्र दिखाई नहीं देता। वस्तुतः जैन परंपरा विशुद्ध मानवतावादी परंपरा है।

इन तीनों तत्त्वों में अहिंसा यद्यपि मूल स्तंभ है, पर आज उसकी फलश्रुति पर्यावरण संरक्षण के रूप में अधिक दिखाई दे रही है। लगता है, पर्यावरण के विस्तृत 'कैनवस' में अहिंसा और शाकाहार समाहित हो गए हैं।

जैन परंपरा ने पर्यावरण संतुलन और संरक्षण पर इतना अधिक ध्यान दिया है कि सभी तीर्थंकर के चिह्न और चैत्यवृक्ष पशु-पक्षी और वनस्पति जगत से अधिगृहीत किए और यक्ष-यक्षिणियों को उनका रक्षक घोषित कर दिया। संभव है, पर्यावरण को तहस-नहस करने वालों को यक्ष-यक्षिणियों का भय दिखाया हो और उन्हें कलात्मक रूप से सम्मिलित किया हो। ये यक्ष-यक्षिणियां पूर्णतः अहिंसक हैं। व्यवहारतः वे किसी को भयभीत भी नहीं करतीं, पर कदाचित पर्यावरण को नष्ट करने वालों पर अप्रत्यक्ष रूप से अंकुश रखती हों। जैनाचार्यों ने इसी तरह पर्यावरण को सुरक्षित और संतुलित रखने के लिए पर्वत, नदियों और वनों पर

विशेष ध्यान दिया है, जिनका वर्णन समूचे जैन वाङ्मय में दृष्टिगत होता है।

आज मानव प्राकृतिक संपदा को विनष्ट कर रहा है और प्रदूषण की समस्या पनप रही है। आज पर्यावरण का क्षेत्र भी असीमित हो गया है। उसके साथ समूचा समाजशास्त्र जुड़ा हुआ है। पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण, वन्य संरक्षण, सामाजिक भावनाओं का विकास, व्यसन मुक्ति, अहिंसा का पाठ, जीवन मूल्य आदि सभी क्षेत्र पर्यावरण से जुड़े हुए हैं।

जैनाचार पर्यावरण का मुख्य संरक्षक है। उसका श्रावकाचार पर्यावरण की आधाभूमि है। अष्टमूल गुण (मद्य, मांस, मधु और पंचोदुंबर फलों का त्याग) का परिपालन और सम व्यसनों का त्याग श्रावक का पहला कार्य है। इसमें अहिंसक जीवन-पद्धति को आधार बनाया गया है। अनेकांतवाद का आधार लेकर त्रिगुप्ति का पालन करने और अणुव्रतों का आधार लेकर निश्छल रूप से स्व-पर का कल्याण करने की बात ठोस रूप से कही गई है।

इस तरह जैन धर्म अहिंसा, शाकाहार और पर्यावरण संतुलन को संजोए हुए धर्म की सही और सार्वभौमिक परिभाषा को आत्मसात किए हुए है। उसमें स्वानुभूति से छलकता अध्यात्म रस है, किंवा शांत रस है, सामाजिकता का अटूट अनुबंध भी इसमें है, सहअस्तित्व की साधना भी है और सभी को सम्मान देने की भावना भी है। यही अहिंसक भावना उसकी आधारशिला है, जीवन पद्धति है। यही उसकी भूमिका है। ❖

बौद्ध अहिंसा-साधन

अन्य धर्मों में भी कमोबेश अहिंसा परम धर्म है। किंतु, जगत और जीवन में हिंसा सनातन है। जीवन धारण के लिए प्राणी-हत्या अपरिहार्य है। तब अहिंसा साधन कैसे हो? यह प्रश्न है।

हिंसा सनातन है। इसलिए वह धर्म नहीं। धर्म तो अहिंसा ही है। बल्कि, इसीलिए अहिंसा के संवर, और व्रत की आवश्यकता है। शायद लाख-लाख योनियों में लाखों बरस से प्राणी में राग, द्वेष, मोह है। इसलिए इनसे बचने के लिए, विरति के लिए कुछ रोक, टेक की जरूरत है।

फिर, देह धारण के लिए हिंसा अवश्यंभावी है, इसलिए श्रेष्ठ-जन भविष्य में देह धारण करने से बचते हैं। गृहकारक को देख लेते हैं, तो फिर-फिर घर नहीं बनाते। उसके शिखर शृंखला टूट जाते हैं। इस आवागमन के चक्र से परे चले जाते हैं। निर्वाण या मोक्ष को मानते हैं। यह अहिंसा का प्रथम साधन है।

यथासंभव स्थावर तथा जंगम प्राणियों की अनावश्यक हिंसा से विरत होना द्वितीय साधन है।

प्राणियों में भी ऊंचे प्राणियों को दुख न देना तृतीय अहिंसा-साधन है। शायद इसी दृष्टि से अन्यत्र योगसूत्र के व्यास भाष्य में हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्र तीन प्रकार की कही गई है। या, बौद्ध परंपरा में माता, पिता, गुरु, अर्हत् आदि की हिंसा का पाप गुरुतर है।

प्राण प्राणी-मात्र को प्रिय है। जैसे अपना प्राण अपने को, वैसे ही दूसरे का प्राण दूसरे को प्रिय है, इसलिए प्राणघात न करे, न कराए, न उसका अनुमोदन करे, ऐसी व्यवस्था है। केवल प्राणी पीड़ा त्यागना ही अहिंसा नहीं है, बल्कि प्राणियों के प्रति करुणा, मैत्री आदि का पोषण और संवर्धन भी है।

—प्रो. कृष्णनाथ

भगवान महावीर और आचार्यश्री भिक्षु का अहिंसा दर्शन

❑ साध्वी विमलप्रज्ञा

अहिंसा सार्वभौम और सार्वजनीन सिद्धांत है। सभी दर्शनों ने इसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। अहिंसा जीवन का उजला प्रभात है। हिंसा जीवन की काली-स्याह रात है। अहिंसा जीवन की मंजिल है। हिंसा जीवन का भटकाव है। अहिंसा जीवन का आधार है। अलबत्ता अनेक तरह की समस्याओं ने अहिंसा के अखंड रूप को खंडित किया है। फिर भी भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के साथ अहिंसा का स्वरूप विकसित होता गया है।

हमारे पुराणों में अहिंसा की चर्चा है, उसका उद्देश्य है—लोक कल्याण, सामाजिक व्यवस्था। हिंसा से कभी स्वस्थ समाज की रचना नहीं हो सकती। न ही लोकजीवन में सुख-शांति का प्रवेश हो सकता है। स्वस्थ समाज के लिए अपेक्षित है—सबको न्याय मिले। जीवन की अनिवार्य अपेक्षाओं से कोई वंचित न रहे। परस्पर नैतिक व्यवहार हो और भ्रष्टाचार पनपने न पाए। रिश्वत, मिलावट आदि बुराइयों से समाज मुक्त रहे। विश्व बंधुत्व की भावना का विकास हो। ईमानदारी के संस्कार गहरे हों। इन सब मूल्यों का विकास अहिंसा की धरा पर ही हो सकता है। हिंसा से कभी स्वस्थ समाज नहीं बन सकता।

माना गया कि समाज के लिए अहिंसा तभी उपयोगी बन सकती है, जब उसका मूल्यांकन समाज की दृष्टि से किया जाए। इसी चिंतन का विकास हुआ और सामाजिक अभ्युदय के संदर्भ में अहिंसा के स्वरूप पर विचार हुआ। इस चिंतन से हिंसा को भी मान्यता मिली—जैसे जन-जीवन का पोषण करना, खेतों की सुरक्षा करना, हानि पहुंचाने वाले जीवों का वध करना, देश की

धन के द्वारा जीवों की रक्षा करना, बलप्रयोग के द्वारा जीवों को बचाना अथवा एक को मार कर दूसरे की सुरक्षा करना—इन सब का संबंध अहिंसा या दया से नहीं है। हमारा साध्य अहिंसा है, तो उसका साधन भी शुद्ध होना चाहिए और वह साधन संयम ही हो सकता है। हिंसा कभी उसका साधन नहीं हो सकती। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—धर्म का संबंध जीवन या मृत्यु से नहीं है, उसका संबंध संयम से है।

❑

सुरक्षा के लिए सैनिकों तथा शस्त्रों की व्यवस्था करना, असामाजिक तत्त्वों को दंड देना। ये सारी हिंसापरक व्यवस्थाएं समाज-सम्मत नीति बन गई। बहुतों के लिए थोड़ों का वध विधेय बन गया। तब ये मान्यताएं स्थिर होने लगी कि— ● आवश्यक हिंसा, हिंसा नहीं है। ● बहुतों के लिए थोड़ों की हिंसा, हिंसा नहीं है। ● बड़ों के लिए छोटों की हिंसा, हिंसा नहीं है। जिस अहिंसा का लक्ष्य सामाजिक अभ्युत्थान बना, वही अहिंसा मर्यादित हो गई, सामाजिक दायरे में बंध गई।

भगवान महावीर का अहिंसा दर्शन

भगवान महावीर ने अहिंसा का जो स्वरूप बताया है—वह परम आध्यात्मिक है। आत्मा की पवित्रता ही उसका उद्देश्य है। आत्म-संयम उसका आधार है। आगमशास्त्रों की हर पंक्ति में अहिंसा का अखंड रूप दिखाई देता है। उत्तराध्ययन सूत्र में नमि-राजर्षि का प्रसंग अहिंसा की अखंडता को प्रस्तुत करता है।

नमि-राजर्षि दीक्षा के लिए अभिनिष्क्रमण कर रहे थे। उस समय इंद्र परीक्षा के लिए नमि-राजर्षि के पास आकर कहता है—राजन! देखो! तुम्हारी मिथिला जल रही है। प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही है। अंत:पुर जल रहा है। तुम उस ओर क्यों नहीं देख रहे हो? पहले अपने कर्तव्य का पालन करो। फिर मुनि जीवन स्वीकार कर लेना। तब नमि राजर्षि ने कहा—

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पि यंपि न विज्जए।

पुत्र और स्त्रियों से मुक्त, व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय नहीं होती और न ही अप्रिय होती है।

अहिंसा का स्वरूप

आयारों में अहिंसा के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—

'एस धम्मे सुद्धे, णिइए सासए
समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए'

राग द्वेष से रहित होने के कारण अहिंसा शुद्ध है। ● अपरिवर्तनीय स्वरूप के कारण नित्य है। ● त्रैकालिक होने के कारण शाश्वत है। ● आत्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा जीवलोक का सम्यक् अवबोध कर निरूपित किया गया है।

आयारो में हिंसा के चार कारणों का उल्लेख किया गया है—**इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण-पूयणाए, जाई-मरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं**—मनुष्य चार कारणों से हिंसा करता है— 1. वर्तमान जीवन के लिए, 2. प्रशंसा, सम्मान पूजा के लिए, 3. जन्म-मरण मोचन के लिए और 4. दुख प्रतिकार के लिए। इन सबके लिए पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है।

यह हिंसा उसके अहित के लिए है, उसकी अबोधि के लिए है। यह हिंसा ग्रंथि हैं, मोह है, मृत्यु है, नरक है। इसलिए संयमी मुनि हिंसा के परिणाम को सम्यक् प्रकार से जानकर संयम में सावधान हो जाता है।

अहिंसा के बाधक तत्त्व

अहिंसा की अनुपालना में जो बाधक तत्त्व हैं, उनका जब तक परिहार नहीं होगा तब तक उसकी अनुपालना संभव नहीं। इसकी अनुपालना का सबसे बाधक तत्त्व है—आसक्ति। शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि—इंद्रिय-विषयों में आसक्त व्यक्ति अहिंसा की पालना नहीं कर सकता।

अहिंसा की अनुपालना में दूसरी बाधा है—लोकैषणा—अर्थात् इंद्रिय विषयों की खोज करना। लोकैषणा में हिंसा की प्रवृत्ति होती है। इंद्रिय-विषयों की प्राप्ति के लिए त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है। आयारो में इन तत्त्वों की विशद चर्चा मिलती है।

अन्य परंपरा में अहिंसा का स्वरूप

कुछ परंपराओं में मुनि जीवन स्वीकार करने पर भी हिंसा को निर्दोष माना गया है। जैसे बौद्ध भिक्षु स्वयं भोजन नहीं पकाते, लेकिन दूसरों से पकवाते थे। कुछ

भिक्षु औद्देशिक आहार नहीं लेते, किंतु सचित जल पीते थे। कुछ भिक्षु सचित जल पीते थे, किंतु स्नान नहीं करते थे। वे इस बात का प्रतिपादन करते कि हम केवल पानी के जीवों की हिंसा करते हैं। अन्य जीवों की हिंसा नहीं करते हैं। कुछ श्रमण कहते—हम भोजन के लिए हिंसा करते हैं, किंतु अन्य प्रयोजन के लिए हिंसा नहीं करते हैं। इस प्रकार अपने प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा को उन्होंने विहित मान लिया था।

हिंसा और महावीर का दृष्टिकोण

ऐसे प्रसंग पर भगवान महावीर ने कहा—जो केवल एक जीवनिकाय की हिंसा को विहित मानते हैं, शेष जीवनिकायों की हिंसा का निषेध करने पर भी उनके अहिंसा के चित्त का निर्माण नहीं हो सकता। जिसके चित्त में एक जीवनिकाय के प्रति भी हिंसा की अव्यक्त भावना रहती है, वह संपूर्ण अहिंसा के पथ पर प्रस्थान नहीं कर सकता। पूर्ण अहिंसा के पथ पर प्रस्थान करने वाले साधक के मन में किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा का भाव नहीं रहना चाहिए। आयारो में भगवान ने कहा—

'तं परिण्णाय मेहावी णेवसयं एतेहिं काएहिं दंडं संमारभेज्जा, णेवण्णेहिं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभावेज्जा, नेवण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारंभतेवि समणुजाणेज्जा'

मुनि के लिए निर्देश है—मेधावी कर्म समारंभ का विवेक कर जीवों के प्रति न स्वयं दंड का प्रयोग करे, न दूसरों से करवाए, न करने वाले का अनुमोदन करे। इससे स्पष्ट है कि भगवान महावीर ने हिंसा को किसी भी स्थिति में विधेय नहीं माना।

भगवान महावीर ने कहा—पृथ्वीकायिक आदि जीव भी इंद्रिय-विकल मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाले होते हैं। शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे इंद्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक आदि जीवों को भी होती है। संसार में अपने प्राणों की रक्षा के लिए दूसरे प्राणियों के जीवन का अपहरण करना कर्मबंध का हेतु है।

अहिंसा के साथ अपवाद

समय बदला, परिस्थितियां बदलीं, मानदंड और मूल्यांकन बदले। समय और परिस्थितियों के साथ अहिंसा का स्वरूप भी बदला। महावीर की अखंड अहिंसा अपवादों से जुड़ गई। धर्मसंघ की सुरक्षा, धर्म की प्रभावना और दैहिक सुरक्षा के लिए सूक्ष्म और स्थूल हिंसा भी अहिंसा में समाहित हो गई।

आगमशास्त्रों में मुनि के लिए सचित फलाहार का सर्वथा निषेध है, लेकिन चूर्णि और भाष्य में अहिंसा के साथ अपवाद जुड़ गया। निशीथ चूर्णि में रोगापनयन के लिए सचित आम्रफल का भक्षण विहित मान लिया गया। आवश्यक चूर्णि में साधु रोग आदि विशेष परिस्थिति में सचित पृथ्वी आदि का उपयोग कर सकता है। इस प्रकार भाष्य चूर्णि और वृत्ति में अहिंसा के साथ अनेक अपवाद जुड़ गए। एक ओर तितिक्षा और क्षमा से जुड़ी महावीर की अखंड अहिंसा, दूसरी ओर अपवादों से जुड़ी भाष्य चूर्णि और वृत्ति की अहिंसा।

आचार्यश्री भिक्षु का अहिंसा दर्शन

भगवान महावीर के लगभग 2300 वर्ष बाद अहिंसा में पुनः एक नई रोशनी आई। आचार्यश्री भिक्षु ने अपवादों से जुड़ी अहिंसा को मुक्त आकाश दिया। अपवादों पर प्रहार किया। उन्होंने कहा—यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकता के लिए अपवाद जोड़ता जाएगा, तब एक दिन अहिंसा का रूप समाप्त हो जाएगा। उन्होंने अहिंसा की धरा पर दान-दया की व्याख्याएं की। उस व्याख्या में उन्होंने अहिंसा के स्वरूप को खंडित नहीं होने दिया। वास्तव में दया और अहिंसा दो नहीं हैं। प्रश्न व्याकरण में अहिंसा के साठ पर्यायवाची हैं। जिनमें उसका एक नाम दया भी है। आचार्यश्री भिक्षु ने दया या अहिंसा की कसौटी का आधार बनाया—जिनाज्ञा। भगवान की आज्ञा भी वहीं है, जहां संयम है। कहा है—

दोय करणी संसार में सावद निरवद जाण।
निरवद करणी में आगन्या, तिण सूं पावै पद निर्वाण।।

आचार्यश्री भिक्षु अहिंसा के पुजारी थे। वाणी में अहिंसा की अभिव्यक्ति थी। मन में अहिंसा के प्रति

गहरी निष्ठा थी। उन्होंने कहा—अहिंसा और दया, दोनों का एक ही मार्ग है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन्होंने अहिंसा या दया के स्वरूप को विश्लेषित करते हुए कहा—

जीव जीवे ते दया नहीं,
मरे तो हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही,
नहीं मारे ते दया गुण खान।।

जीव जीता है, वह अहिंसा नहीं है। मरता है, वह हिंसा नहीं। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है। नहीं मारने का संकल्प अहिंसा है। अहिंसा का मूल्यांकन जन्म-मरण से नहीं होता है। उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—जो यह मानते हैं कि छोटे जीवों को मार कर बड़े जीवों का पोषण करना धर्म है। इसमें दोष नहीं है। क्योंकि एकेंद्रिय की अपेक्षा पंचेंद्रिय जीव अधिक भाग्यशाली है। अत: बड़े जीवों के लिए छोटे जीवों का वध किया जा सकता है। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—

रांका ने मार धीगां ने पोख्या,
ए तो बात दीसे घणी गेरी।
तिण मांहें दुष्टी धर्म बतावै
ते रांक जीवा रा उठ्या वेरी।।

जो छोटे जीवों को मार कर बड़ों का पोषण करने को अहिंसा कहते हैं, वे छोटे जीवों के दुश्मन हैं।

जीव मारै जीव राखण, सूतर में ओ नहीं भगवंत वेण।
उंधों पंथ कुगुरु चलावीयो सुध ने सूझे हो फूटा अंतर नेण।।

एक जीव को मार कर दूसरे जीव की रक्षा करना—ऐसा सूत्र में कहीं नहीं कहा गया है। यह भगवान की वाणी नहीं है। कुगुरुओं ने ऐसी प्ररूपणा की है। क्योंकि उनके विवेकचक्षु बंद है।

आचार्यश्री भिक्षु ने एक क्रांति के स्वर में कहा—बहुतों के हित के लिए थोड़ों के हित को कुचल देना उतना ही दोषपूर्ण है, जितना थोड़ों के लिए बहुतों का हित कुचलना, एक व्यक्ति के शरीर को क्षत-विक्षत कर खून निकाल कर सौ व्यक्तियों को स्वस्थ करना, सिंह को मार कर अनेक जीवों को मृत्यु के मुंह में जाने से बचाना। यह जनतंत्र का सिद्धांत हो सकता है, अहिंसा या दया का नहीं। अहिंसा या हिंसा का नाप छोटा-बड़ा आकार नहीं है। वह राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति के भाव और अभाव से नापी जाती है। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—

हिंसा री करणी में दया नहीं छे,
दया री करणी में हिंसा नाहीं जी।
दया में हिंसा री करणी छे न्यारी,
ज्यू तावड़ों न छांव जी।।

अहिंसा के संदर्भ में कुछ लोगों की मान्यता रही है कि येन-केन उपायों से जीवों की रक्षा करना दया है, अहिंसा है। इस प्रसंग पर आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—धन के द्वारा जीवों की रक्षा करना, बलप्रयोग के द्वारा जीवों को बचाना अथवा एक को मार कर दूसरे की सुरक्षा करना—इन सब का संबंध अहिंसा या दया से नहीं है। हमारा साध्य अहिंसा है, तो उसका साधन भी शुद्ध होना चाहिए और वह साधन संयम ही हो सकता है। हिंसा कभी उसका साधन नहीं हो सकती।

आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—धर्म का संबंध जीवन या मृत्यु से नहीं है, उसका संबंध संयम से है। किसी साधन से जीवों का बचाना मात्र ही धर्म है। यदि यह सिद्धांत हो जाता है, तब एक व्यक्ति जीवों को बचाता है और दूसरा व्यक्ति जीवों को उत्पन्न कर इस तरह उनका पालन-पोषण कर बड़ा करता है। इस तरह धर्म होगा तो दोनों को होगा, अन्यथा दोनों को ही नहीं। बचाने वाले की अपेक्षा उत्पन्न करने वाला बड़ा उपकारी है, लेकिन यह संसार का उपकार है। आचार्यश्री भिक्षु के अनुसार प्रयोजन वश या निष्प्रयोजन किसी भी प्रकार से हिंसा की जाए, उसे अहिंसा नहीं कहा जा सकता। महात्मा गांधी ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहा—किसान जो अनिवार्य हिंसा करता है, उसे मैंने

कभी अहिंसा में नहीं गिनाया है। यह हिंसा अनिवार्य होने से क्षम्य भले ही हो जाए, किंतु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।

आचार्यश्री भिक्षु एक अलौकिक पुरुष थे। उन्होंने आगम-वाणी को ही अपनी अहिंसा का आधार बनाया। उन्होंने अहिंसा का वह रूप लोगों के सामने रखा जो पहले नहीं था। वे अध्यात्म की भाषा में बोलते थे। उसी भाषा में सोचते थे। अध्यात्म से ही उनकी अहिंसा की सरिता प्रवाहित हुई थी।

अहिंसा : स्वस्थ समाज रचना

आचार्यश्री भिक्षु ने आवश्यक हिंसा को अहिंसा नहीं माना। उन्होंने कहा—आवश्यकता की कोई सीमा नहीं है। इसलिए अहिंसा का स्वरूप एक दिन समाप्त हो जाएगा। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न उभर कर सामने आया कि बिना हिंसा के स्वस्थ समाज की रचना कैसे हो सकती है? क्या हिंसा के बिना जीवन की अपेक्षाएं पूर्ण हो सकती हैं? इस समस्या के समाधान में भगवान महावीर ने हिंसा को तीन रूपों में व्याख्यायित किया—

1. **आरंभजा हिंसा**—आजीविका के लिए खेती आदि में होने वाली हिंसा।
2. **प्रतिरोधजा हिंसा**—आक्रांता से अपनी सुरक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा।
3. **संकल्पजा हिंसा**—दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए तथा साम्राज्यवादी या भोगवादी मनोवृत्ति से की जाने वाली हिंसा।

संकल्पजा हिंसा आक्रामक मनोवृत्ति से होने वाली हिंसा है। संकल्पजा हिंसा ही स्वस्थ समाज रचना का सबसे बाधक तत्त्व है। प्रथम दो प्रकार की हिंसा समाज को अस्वस्थ नहीं बनाती। व्यक्ति के भीतर की करुणा कभी भी क्रूरता का रूप नहीं लेती। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हितों का हनन नहीं करता। अनर्थ हिंसा या संकल्पजा हिंसा का परिहार ही स्वस्थ समाज रचना का आधार है।

अनर्थ हिंसा का मूल स्रोत है—असंयम। आज आतंकवाद समाज को अस्वस्थ बना रहा है। भ्रष्टाचार समाज को अस्वस्थ बना रहा है और स्वच्छंद भोग भी आज समाज को अस्वस्थ बना रहा है। इन सबके पीछे कार्य कर रही है—असंयम की चेतना। जितना अधिक असंयम होगा, उतनी ही हिंसा होगी और समस्याओं का जन्म होगा।

यद्यपि हिंसा शाश्वत है। प्राचीन काल में भी हिंसा होती थी। युद्ध भी होते थे। उपभोग की सामग्री भी थी, लेकिन उन सबके पीछे संयम की चेतना भी काम करती थी। अनावश्यक हिंसा से बचने का प्रयास होता था। युद्ध की भी मर्यादाएं थीं। उसकी भी आचार-संहिता थी और उसकी पालना में अपना धर्म सब समझते थे। जिसके हाथ में शस्त्र नहीं होते थे, उस पर प्रहार नहीं करते थे। राजा चेटक का संकल्प था कि मैं पहले प्रहार नहीं करूंगा। कौरव-पांडव युद्ध में परस्पर लड़ते, पर सूर्यास्त के समय युद्ध बंद हो जाता। वे रात्रि में परस्पर मिलते-जुलते थे। परस्पर बातचीत होती। सबके विचारों में संयम के प्रति आस्था थी। युद्ध में भी उनका जीवन संयम के तटबंधों में बहता था, लेकिन आज आतंकवाद ने ऐसी सारी सीमाएं तोड़ दी हैं। करुणा का स्थान क्रूरता ने ले लिया है।

जब व्यक्ति के भीतर असंयम की चेतना विस्तार लेने लगती है, तब व्यक्ति की दिशा बदल जाती है। व्यक्ति बिना श्रम किए धनी बनने का स्वप्न देखने लगता है। ऐसे व्यक्ति मिलकर अपना एक गिरोह बना लेते हैं। वे मिलकर डकैती करते हैं। बंदूक की नोक पर बैंकों को लूटते हैं। दूकानों को लूटते हैं। ऐसे अपराधी तत्त्व ही समाज को अस्वस्थ बनाते हैं।

स्वच्छंद भोग भी हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। प्राचीनकाल में जीवन की आवश्यक अपेक्षाओं का अभाव नहीं था, लेकिन उपभोग सामग्री की सीमा भी थी। हर व्यक्ति की जीवन-शैली संयम से जुड़ी हुई थी। चाहे वनस्पति के उपभोग का प्रसंग हो या भूमि-खनन का। चाहे पानी के उपयोग का प्रसंग हो या अग्नि जलाने का प्रसंग—व्यक्ति उपभोग की सीमा

का अतिक्रमण नहीं करता था। आज उपभोग की सारी सीमाएं टूट गई हैं, तभी समाज अस्वस्थ हो रहा है। आज वनों की अंधाधुंध कटाई महाकाल के रूप पर प्रकट हुई है। हरियाली केवल पृथ्वी का ही सौंदर्य नहीं, जन-जीवन का भी सौंदर्य है। वनस्पति जगत का सर्वत्र उपलब्ध पौधा है—घास। यह जीव-जगत की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए अत्यधिक योगभूत है। वनस्पति शास्त्रियों का कहना है कि पानी की बाढ़ को रोकने के लिए जो काम बांध नहीं कर सकते, उससे अधिक काम यह घास करती है। धरती से यदि घास की कटाई होती है, तो उसमें वर्षा के पानी को झेलने की क्षमता नष्ट हो जाती है। तब पानी का प्रवाह बाढ़ का रूप धारण कर जन-जीवन को अस्त-व्यस्त करता है। उपजाऊ भूमि खंडहर के रूप में बदल जाती है। एक विनाश अनेक विनाशों से जुड़ा हुआ है।

आज खनिज पदार्थों के लिए भूमि का अतिमात्रा में दोहन हो रहा है। इससे हजारों-हजारों वर्षों में काम आने वाले पदार्थ सौ वर्षों में ही समाप्त हो सकते हैं। इससे समस्या आएगी। वर्तमान पीढ़ी अपनी भावी पीढ़ी को क्या देगी—दरिद्रता, आपाधापी और तनाव की समस्या का उपहार?

आज जल का संकट बहुत बड़ी समस्या के रूप में गहरा रहा है। एक समय था कि मनुष्य जल का उपयोग करता था, दुरुपयोग नहीं। उसकी हर क्रिया के साथ संयम जुड़ा हुआ था। आज स्नान करने में, कपड़े धोने में, घर की सफाई करने में अंधाधुंध पानी का प्रयोग हो रहा है। दूसरी ओर कारखानों में भी भारी मात्रा में पानी का प्रयोग हो रहा है। कारखानों से निकलने वाला कचरा जल में बहा दिया जाता है। जिससे जल प्रदूषण की समस्या बढ़ रही है। व्यक्ति को पीने के लिए स्वच्छ जल उपलब्ध नहीं हो रहा है।

इसलिए पर्यावरण की सुरक्षा के लिए सूत्र दिया गया—पदार्थों की सीमा करो। दूसरा सूत्र दिया गया—उपभोग की सीमा करो। पर्यावरण विज्ञान के ये दोनों सूत्र और महावीर का सिद्धांत, दोनों एक ही बिंदु पर खड़े हैं। दोनों ही अनावश्यक भोग पर अंकुश लगाते हैं। इच्छाओं की सीमा करते हैं। आज पर्यावरण का संतुलन बिगड़ रहा है। इसका कारण है—बढ़ती हुई आकांक्षा या असंयम की चेतना। आकांक्षा, परिग्रह और हिंसा—ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। आकांक्षाओं को नियंत्रित किए बिना हिंसा को रोका नहीं जा सकता। इस अतिवाद से ही समाज अस्वस्थ बन रहा है।

इस असंयम की चेतना ने ही भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। देश की बागडोर जिन हाथों में थमी है, वे हाथ यदि भ्रष्टाचार के कीचड़ से लिप्त होंगे तो देश का इससे बढ़ कर दुर्भाग्य क्या हो सकता है? राज्य की स्वस्थता के लिए चाणक्य जैसे अनुभवी राजनीतिज्ञ ने कहा—शासक को इंद्रियजयी होना चाहिए। महात्मा गांधी के जीवन का एक प्रसंग है—उन्हें दातुन करना था। उन्होंने एक महिला को एक टहनी तोड़ कर लाने को कहा। वह बहुत बड़ा डंठल तोड़ कर ले आई। गांधीजी ने उसे उलाहना दिया। तुमने यह ठीक नहीं किया। एक छोटी टहनी से दातुन हो सकता था। इतनी बड़ी की क्या जरूरत थी? जिसके भीतर संयम की चेतना होती है। वही दूसरों को संयम का बोध-पाठ दे सकता है। वही समाज को शोषण और भ्रष्टाचार से मुक्त रख सकता है।

जब तक धन और सत्ता की आकांक्षा भीतर सुलगती रहेगी, तब तक भ्रष्टाचार की समस्या का समाधान नहीं होगा। आज सत्ता के पद पर बैठा व्यक्ति उस बंदर की भांति दोहरी समस्या के बीच जी रहा है। कोई संकरे मुख वाले बर्तन में हाथ डाले और फिर मुट्ठी भर कर हाथ बाहर निकालने लगे, तो क्या मुट्ठी बाहर निकल सकती है? आज समाज ऐसी ही दोहरी समस्या के बीच जी रहा है। वह न अपना भला कर रहा है, न देश का। इसी से भ्रष्टाचार की जड़ें भी गहरी होती जा रही हैं, जो समाज को अस्वस्थ बना रही हैं।

यद्यपि कोई भी समाज पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता, लेकिन जो समाज जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति को प्रमुख और उसके साधन की शुद्धि को गौण मानकर चलता है, वह समाज हिंसा की दिशा में ही गति

करता है और जो समाज आवश्यकता पूर्ति के साथ-साथ साधन-शुद्धि की अनिवार्यता भी मानता है—वह समाज अहिंसा की भूमिका को पुष्ट बनाता है। वही समाज स्वस्थ समाज कहलाता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने स्वस्थ समाज की संरचना के लिए पांच अणुव्रतों का निर्देश किया है— 1. **अहिंसा**—अनावश्यक हिंसा का वर्जन। 2. **सत्य**—समाज व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने वाले असत्य का वर्जन। 3. **अस्तेय**—व्यावसायिक और आपराधिक चोरी का वर्जन। 4. **ब्रह्मचर्य**—कामवासना का संयम। 5. **अपरिग्रह**—इच्छा का परिमाण। व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा।

स्वस्थ समाज की संरचना इन्ही संकल्पों की भूमिका पर ही की जा सकती है। संयमित जीवन-शैली ही स्वस्थ समाज को जन्म दे सकती है। अर्थहीन महत्त्वाकांक्षाओं ने ही समाज को और देश को अस्वस्थ बनाया है। जितना-जितना संयम उतनी-उतनी अहिंसा। जितना असंयम, उतनी ही हिंसा। अणुव्रत व्यक्ति की बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षा को विराम देता है और अनावश्यक व अनुचित तरीकों पर रोक लगाता है। अहिंसा से ही स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है। हिंसा से कभी स्वस्थ समाज नहीं बन सकता। यह चिंतन देश को नई दिशा दे सकता है, नया प्रकाश दे सकता है। ❖

रहम

इस्लाम को सामान्यतः जिहाद से ही जोड़ कर देखा जाता है। लेकिन, इसकी मुख्य वजह धर्मशास्त्र के बजाय इतिहास है। यह देखना दिलचस्प है कि जहां जिहाद का संबंध इस्लाम के इतिहास से अधिक है, वहीं रहम का संबंध धर्मशास्त्र से। इस्लाम के पवित्र ग्रंथ 'कुरआन' की शुरुआत में अल्लाह को रहमान और रहीम कहा गया है।

यह देखा जाना चाहिए कि रहम अल्लाह के सर्वाधिक लोकप्रिय नामों में से एक है। मुसलमान अपने हर काम की शुरुआत **बिस्मिल्लाह हिर्रहमानुर्रहीम** से करते हैं। अल्लाह की इबादत करने वाला हर मुसलमान यदि अपने आचरण में रहम को न माने तो उसकी इबादत पूरी नहीं मानी जाएगी। 'कुरआन' में चार केंद्रीय मूल्य हैं : न्याय (अद्ल), परोपकारिता (इहसन), दया (रहम) और बुद्धिमत्ता (हिक्मः)—जबकि जिहाद कोई मूल्य नहीं, वरन किसी विशेष मकसद के लिए साधन-रूप है।

'कुरआन' में इस्लाम के पैगंबर को भी **रहमतुल्लिल आलमीन** अर्थात् पूरी दुनिया पर दया करने वाला बताया गया है। अल्लाह का संदेशवाहक होने के नाते पैगंबर धरती पर उसके गुणों का प्रतिनिधि है। अल्लाह पूर्ण है, इसलिए उसका पैगंबर भी पूर्ण इंसान है, जिसमें उसके सभी गुण हृदयंगम हैं। इसलिए अन्य मोमिनों को भी, अपनी सीमाओं में इन गुणों को ग्रहण करना चाहिए।

इसलिए कोई भी मोमिन कहलाने का हकदार नहीं है, यदि वह संभव इंसानी सीमाओं में रहमदिल नहीं हो। एक सच्चे मोमिन को अल्लाह और उसके पैगंबर के इन गुणों को हृदयंगम करना ही होगा। दूसरे शब्दों में 'कुरआन' और सुन्ना सभी मुसलमानों के लिए मानना जरूरी है और इस विषय पर सभी तरह के मुस्लिम आलिमों की राय एक है। पैगंबर के समय की ऐतिहासिक परिस्थिति कुछ ऐसी थी कि उन्हें कभी शस्त्र का सहारा लेना पड़ा, लेकिन ऐतिहासिक परिस्थिति की अनिवार्यता को मूल्य नहीं माना जा सकता।

—असगर अली इंजीनियर

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का चिंतन और अहिंसा

❑ साध्वी विश्रुतविभा

अहिंसा केवल 'मत मारो' तक सीमित नहीं है। अहिंसा का संप्रत्यय बहुत व्यापक है। इसका संबंध हमारी भावधारा और चिंतन के साथ है। मूलत: सकारात्मक चिंतन की पृष्ठभूमि ही अहिंसा है। अहिंसा को आत्मसात किए बिना सकारात्मक व्यवहार हो नहीं सकता। इसके बिना धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा भी संभव नहीं है।

❑

अहिंसा के संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने गहन चिंतन-मंथन किया है। मैंने देखा है कि उनका चिंतन, वाणी और कर्म सदैव अहिंसा की ही परिक्रमा करते रहे हैं। अहिंसा उनका साध्य था और वही उनका साधन। निम्नलिखित पंक्तियां उनके अहिंसा केंद्रित चिंतन की ही फलश्रुति है—**'आत्मा मेरा भगवान है। त्याग मेरी प्रार्थना है। मित्रता मेरी भक्ति है। संयम मेरी शक्ति है। अहिंसा मेरा धर्म है।'**—अपने इस आलेख में मैं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा अनुभूत और व्याख्यायित अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर विमर्श कर रही हूं। मेरे समक्ष आधारभूत ग्रंथ है—**'महाप्रज्ञ ने कहा'**।

अहिंसा क्या है?

जिज्ञासा हो सकती है कि अहिंसा क्या है? पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारकों ने इसे विभिन्न कोणों से देखा-परखा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भी अहिंसा को कई दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया है। उनके चिंतन के अनुसार अहिंसा का अर्थ है—1. आत्मानुभूति, 2. कषाय का उपशमन, 3. संवेदनशीलता, 4. करुणा, 5. मैत्री और 6. संबंधों की मधुरता।

आयतुले पयासु

अहिंसा का सिद्धांत देश, काल, व्यक्ति, वर्ग, जाति और धर्म से संबद्ध नहीं है और न यह सिद्धांत सीमाओं में आबद्ध है। वह आकाश की तरह निस्सीम है। प्राय: लोग कहते हैं—मेरे इतने मित्र हैं, सैकड़ों हितैषी हैं, किंतु अध्यात्म-साधक इस भाषा में नहीं बोलता। उसकी विचार-सरिता इस शब्दावली में प्रवाहित होगी—

'इस धरती के सभी प्राणी मेरे मित्र हैं। मेरा किसी से वैर नहीं है।'—प्राणी-मात्र को अपना मित्र मानने की यह भावना जब तक जागृत नहीं होगी, अहिंसा का अवतरण नहीं हो सकता।

वस्तुतः अहिंसा के क्षेत्र में न कोई अपना है और न कोई पराया। वहां—**आयतुले पयासु**—आत्मानुभूति का सूत्र कार्यकारी होता है। जैसे मेरी आत्मा है, वैसे ही सबकी आत्मा है। जब तक यह अनुभूति नहीं होगी, अहिंसा की बात समझ में नहीं आएगी। आत्मा की समानता, चेतना की समानता और—**णो हीणे णो अइरित्ते**—की बात हृदयंगम होगी, तभी अहिंसा का मर्म समझ में आएगा तथा व्यवहार उससे प्रभावित होगा।

अहिंसा : सकारात्मक व्यवहार

हमारे सामने दो जगत हैं—भीतर का जगत और बाहर का जगत। भीतर के जगत के संदर्भ में धर्म का एक रूप है—अध्यात्म। जिसका अर्थ है—'अपने आपको देखो, अपने आपको जानो और अपने आपको समझने का प्रयत्न करो।'

बाहर के जगत में धर्म का व्यावहारिक रूप है—अहिंसा। अहिंसा केवल 'मत मारो' तक सीमित नहीं है। अहिंसा का संप्रत्यय बहुत व्यापक है। इसका संबंध हमारी भावधारा और चिंतन के साथ है। मूलतः सकारात्मक चिंतन की पृष्ठभूमि ही अहिंसा है। अहिंसा को आत्मसात किए बिना सकारात्मक व्यवहार हो नहीं सकता। इसके बिना धर्म की प्राण-प्रतिष्ठा भी संभव नहीं है।

अहिंसा और धर्म

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अभिमत में—धर्म का प्राण तत्त्व अहिंसा है। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारा जीवन-व्यवहार एवं कार्यकलाप अहिंसा से अनुप्राणित हो। व्यक्ति शरीर से किसी की हिंसा न करे। वचन से कटु शब्दों का प्रयोग कर किसी को दुखी न बनाए। मन से किसी का अनिष्ट चिंतन न करे। अहिंसा की चेतना जागृत हो गई, तो जीवन में धर्म के सिवाय अन्य विजातीय तत्त्वों का प्रवेश नहीं हो सकेगा। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बहुधा इस बात को अपने प्रवचनों में बलपूर्वक कहते रहे हैं कि धर्म बाजार में आए, ऑफिस में आए, दूकान में आए—पर, यह तभी संभव है, जब चेतना का अणु-अणु अहिंसा की सुवास से सुवासित हो। यह कैसे संभव है? उक्त प्रश्न को समाहित करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अहिंसक विकास के लिए तीन घटक तत्त्वों को आवश्यक मानते हैं।

अहिंसा के घटक तत्त्व

वे पहला घटक तत्त्व मानते हैं—मानवीय एकता में विश्वास। इससे भी आगे जाएं, तो प्राणीमात्र की एकता में विश्वास। अगर प्राणीमात्र की एकता की बात समझ में आ जाए तो आतंकवाद, अलगाववाद, पर्यावरण-प्रदूषण आदि समस्याओं का समाधान सहज संभव है। मानवीय एकता का बिंदु सामने रहे, तो स्वार्थ की बात ही निर्मूल हो जाएगी। मानवीय एकता का विखंडन इसलिए हो रहा है कि अहिंसक चेतना जागृत नहीं है। करुणा, संवेदनशीलता, सहानुभूति आदि मूल्य मनुष्य की जिंदगी से लुप्त होते जा रहे हैं। अपेक्षा इस बात की है कि सुख-शांति से जीने का अभीप्सु व्यक्ति मैत्री के धागों से अनुस्यूत हो, ताकि धरती पर स्वर्ग उतर सके और नारकीय यंत्रणाओं से सब उबर सकें।

अहिंसा का दूसरा घटक तत्त्व है—सद्भावपूर्ण व्यवहार। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ सम्मानपूर्ण, सद्भावपूर्ण व्यवहार करे—यह बहुत अपेक्षित है। धन देने वाला ही दाता नहीं होता, अपितु दाता वह होता है—जो दूसरों को सम्मान देता है, दूसरों के अच्छे विचारों का स्वागत करता है। यह निर्विवाद सत्य है कि जो कार्य धन के द्वारा नहीं होता, वह सद्भाव के द्वारा हो सकता है। सद्भावना वशीकरण मंत्र है तथा यह एक व्यावहारिक पहलू भी है। यदि आमजन आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा निर्देशित मंडनात्मक नीतियों की अनुपालना करें, इनका सम्मान करें, सबके साथ

सद्भावपूर्ण व्यवहार करें—तो सांप्रदायिक अभिनिवेश एवं सांप्रदायिक कट्टरता के पैर स्वत: ही उखड़ जाएंगे। वस्तुत: एक-दूसरे के सम्यक् विचारों का सम्मान करने का अभिधेय होगा—एक-दूसरे के निकट आने का अवसर पाना। निकटता से निकटता बढ़ती है और दूरी से दूरी बढ़ती है। परस्पर निकट आने के प्रयत्न का पहला सूत्र है—वैचारिक असमानता के बावजूद सबके प्रति सद्भाव रखना और एक-दूसरे का सम्मान करना।

अहिंसा का तीसरा घटक तत्त्व है—सहिष्णुता का विकास। हिंसा की जननी असहिष्णुता है, जबकि सहिष्णुता विकास की बुनियाद है। इसी नींव पर जीवन की इमारत खड़ी होती है। यह कहा जा रहा है कि 'वर्तमान में हिंसा बढ़ी है।'—इस कथन का तात्पर्य सीमा पर होने वाली हिंसा नहीं है। इसका वाच्यार्थ—घर, परिवार और समाज से जुड़ी हुई हिंसा से है। कलह-कदाग्रह, लड़ाई-झगड़ा, अपशब्दों का प्रयोग आदि हिंसा के ही रूप हैं। प्रश्न होता है कि आदमी यह सब क्यों करता है?

उत्तर एक ही है—असहिष्णुता। एक-दूसरे को सहन करने का अभ्यास हो जाने पर परिवार और समाज में विग्रह और विखंडन की स्थितियां नहीं उभर सकतीं तथा सुखी परिवार और स्वस्थ समाज की संरचना होते देर नहीं लगती।

अहिंसा का चौथा घटक तत्त्व है—न्यायपूर्ण व्यवहार। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ अन्याय का व्यवहार नहीं करे—यह अहिंसा का सबसे बड़ा सूत्र है। जो दूसरों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार करता है, असंविभाग का बर्ताव करता है—वह हिंसा को बढ़ावा देता है। इससे व्यक्ति का आभामंडल तो मलिन होता है, परिपार्श्व में रहने वाले भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। आभामंडल को पवित्र और तेजस्वी बनाने के लिए तथा भावधारा को विशुद्ध बनाने के लिए दूसरे के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार परमावश्यक है।

अहिंसा और तनावमुक्ति

अहिंसात्मक फुलवारी की प्रथम क्यारी है—तनावमुक्त जीवन। जीवन की बगिया में मैत्री, सद्भावना, सहिष्णुता और न्यायप्रियता के प्रसून तभी खिल सकते हैं कि जब व्यक्ति तनाव मुक्त रहे। इसके लिए आवश्यक है कि वह मानसिक और भावनात्मक स्तर पर स्वस्थ रहे। एक स्वस्थ व्यक्ति में ही स्वस्थ मन और स्वस्थ बुद्धि का निवास होता है। यह कथन सत्य के वातायन से छिटकती चांदनी-सा एहसास देता है। यह निर्विवाद सत्य है कि अहिंसा का हार्द यदि समझ में आ जाए तो व्यक्ति तनाव में जा ही नहीं सकता। जिसकी अहिंसक चेतना जागृत हो जाती है, वह प्रत्येक घटना को सम्यक् रूप से ग्रहण करता है। अप्रिय प्रसंग को भी प्रियता में बदल देता है, दुख को सुख में परिणत कर लेता है। आज परिवारों में वैर-विरोध, वैमनस्यता बढ़ रही है। व्यवसाय में मंदी के कारण अमुक फांसी के फंदे पर लटक गया। ऐसा क्यों? इन वारदातों का मुख्य कारण है—तनाव। तनावग्रस्त व्यक्ति सही सोच नहीं सकता, सही निर्णय नहीं ले सकता, सही ढंग से क्रियान्विति नहीं कर सकता। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यही मन्तव्य रहा है।

अहिंसा की साधना, मैत्री और प्रेम की साधना एकत्वानुभूति की साधना है। इससे आदमी तनावमुक्त और सुखी जीवन जी सकता है।

अहिंसा : स्वस्थ समाज संरचना का आधार

आदिम काल में जब सभ्यता का विकास नहीं हुआ था, तब तक आदमी वनमानुष की तरह जंगलों में विचरण करता था। मानवीय सभ्यता के आविर्भाव के साथ मानव के स्वभाव में परिवर्तन और परिमार्जन होने लगा। उसने सामूहिक रूप में रहना सीखा। परस्परता के आधार पर सुख-दुख में संभागी बनने का लक्ष्य बनाया। व्यक्ति का समाजीकरण होने लगा। फलत: कुछ नियम-उपनियम भी बने। 'तुम मुझे मत सताओ, मैं तुम्हें नहीं सताऊंगा।'—इस समझौते के साथ सहजीवन का प्रारंभ हुआ। इस नीति ने अहिंसक चेतना के जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। एक साथ रहना, एक साथ कार्यों को संपादित करना, एक उद्देश्य की संपूर्ति हेतु सह प्रयत्न करना। ये घटक शांतिपूर्ण सह-

अस्तित्व एवं स्वस्थ समाज संरचना की आधारशिला बनते हैं। आज भी ये ही घटक हैं, जो स्वस्थ समाज संरचना में योगभूत हो सकते हैं।

अहिंसक जीवनशैली

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अहिंसा के प्रयोक्ता थे। उन्होंने अहिंसा को मात्र प्रवचनों का विषय ही नहीं बनाया, अपितु उसे व्यक्ति के जीवन के साथ जोड़ा और एक नई जीवनशैली को प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—जिसकी जीवनशैली अहिंसा की परिक्रमा करती है, वह व्यक्ति सुख से जीता है, निरोग रहता है और दीर्घायु होता है। पर, जो आवेश, आक्रोश के तमसिल वातावरण में रहता है—वह कभी युग को कोसता है, कभी परिवार को दोषी मानता है, कभी समाज को भला-बुरा कहता है। वह दूसरों पर दोषारोपण करता रहता है, पर अपनी ओर नहीं देखता। हम अपने आपको कैसे देखें? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समय-समय पर अहिंसक जीवनशैली के सूत्रों की इस संदर्भ में चर्चा की।

अहिंसक जीवनशैली का प्रथम सूत्र है—अपने आपको देखना। अपने आपको देखने पर स्वयं की दुर्बलताओं का पता चल सकता है। चूंकि इस दुनिया में कोई भी आदमी परिपूर्ण नहीं है, हर किसी में कोई न कोई न्यूनता या कमी है। जिसकी जीवनशैली में अहिंसा का समावेश नहीं है, वह दूसरों में विशेषता देख ही नहीं सकता। जबकि अहिंसक जीवनशैली वाला व्यक्ति स्वयं को देखता है और दूसरों पर दोषारोपण नहीं करता।

अहिंसक जीवनशैली का दूसरा सूत्र है—निःस्वार्थ होना। यह बड़ा मुश्किल कार्य है। अधिकांशतया आदमी दूसरों की समस्याओं को गौण कर एकमात्र अपनी स्वार्थ-सिद्धि में ही लगा रहता है। दूसरों के दुखों या समस्याओं को समझने की आवश्यकता भी नहीं समझता। फलतः एक-दूसरे की अपेक्षाओं को नजरअंदाज कर दिया जाता है। अहिंसा का जीवन जीने वाला व्यक्ति ऐसा आचरण नहीं कर सकता।

अहिंसक जीवनशैली का तीसरा सूत्र है—करुणा। प्राणीमात्र के प्रति करुणा के भाव रहें। सबको जीने का अधिकार है, यह स्वीकारोक्ति करुणा के योगक्षेम का हेतु बनती है। जिसके हृदय में करुणा का समंदर लहराता है, वहां व्यक्ति के भीतर निषेधात्मक ज्वार उभरने की गुंजाइश नहीं रहती। अनिष्ट चिंतन वहां उफनेगा, जहां करुणा का द्वीप न हो। करुणाशील व्यक्ति की आंखें हरेक के दुख-दर्द में आर्द्र हुए बिना नहीं रह सकतीं।

अहिंसक जीवनशैली का चौथा सूत्र है—अभय। आदमी भयभीत क्यों होता है—इस प्रश्न के प्रतिवचन में कहा जा सकता है कि व्यक्ति अतीत के प्रसंगों से भयभीत होता है, वार्तमानिक व्यवहार से कंपित होता है और अनागत में असुरक्षा के भाव उसे डरपोक बना देते हैं। वृद्धावस्था, बीमारी और मृत्यु की चिंता भी उसे दोराहे पर खड़ा कर देती है। भयभीत आदमी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। वैज्ञानिक शोध यह सिद्ध करती है कि हृदयाघात की बीमारी का मुख्य कारण भय है। जोखिम उठाने और हानि-लाभ के भय ने हर किसी को प्रभावित किया है। शारीरिक और मानसिक उद्वेलनों से बचाने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि—भय हिंसा है। इसलिए अभय का कवच बनाओ, जिससे सदैव सुरक्षित रहोगे।

अहिंसक जीवनशैली का पांचवां सूत्र है—संयम। भगवान महावीर ने मेघकुमार को दीक्षित होते ही संयम का पाठ पढ़ाया। उनकी उदात्त वाणी प्रस्फुटित हुई—'मेघ! संयमपूर्वक चलो, संयमपूर्वक बैठो, संयमपूर्वक खड़े होओ, संयमपूर्वक सोओ, संयमपूर्वक खाओ और संयमपूर्वक बोलो।'—महावीर के संपूर्ण शिक्षा-दर्शन अथवा बोध-पाठ में संयम की प्रेरणा, संयम को प्रोत्साहन और संयम का ही योगक्षेम है। वस्तुतः संयम वह राज-पथ है, जिस पर जीवन की गाड़ी सरपट दौड़ सकती है। सामान्यतः व्यक्ति जिसे छोटी-छोटी बातें समझता है, उनमें बहुत गहरे रहस्य समाए होते हैं। संयम वह चाबी है, जिससे हर ताले को खोला जा

सकता है। किसी भी क्रिया को कब, क्यों और कैसे करना—इसका ज्ञान और क्रियान्विति आवश्यक है। स्वस्थ एवं आदर्श जीवनशैली का यह एक विशिष्ट तरीका है। अहिंसा और संयम एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अस्तित्वहीन है। **'संयममय जीवन हो'** इस उद्घोष को आज पुनरुज्जीवित करने की अपेक्षा है, ताकि **'अहिंसा सव्वभूयखेमंकरी'**—बनकर आहत मन को राहत दे सके।

इन पांच सूत्रों का प्रशिक्षण मिलने पर जीवनशैली अहिंसक बन सकती है। कोरे उपदेशों से आदमी की जीवनशैली अहिंसक नहीं बन सकती। प्रशिक्षण इसके लिए आवश्यक है। प्रवचन का आंशिक प्रभाव हो सकता है, किंतु चिरंस्थाई नहीं। इसका वैज्ञानिक कारण है कि जब तक हमारी बात अवचेतन मस्तिष्क तक नहीं पहुंचती, वह टिकाऊ और स्थिर नहीं हो सकती। परिवर्तन का मूल है—अवचेतन मन। हमें अपनी बात को प्रयोगों के माध्यम से वहां तक पहुंचाना है। धीरे-धीरे हमें अनुभव होगा कि हमारी जीवनशैली अहिंसक बन रही है।

अहिंसा और अपरिग्रह

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अहिंसा को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है, परखा है। उनकी यह स्पष्ट अवधारणा रही है कि—अहिंसा और अपरिग्रह का अन्योन्याश्रित संबंध है। इन्हें पृथक नहीं किया जा सकता। अहिंसा और अपरिग्रह के प्रति जिसका दृष्टिकोण सही नहीं है, जिसकी इनमें आस्था नहीं है—वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। वस्तुतः अपरिग्रह की साधना अत्यावश्यक है। उसके बिना अहिंसा तेजस्वी नहीं बन सकती।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—व्यक्ति और समाज में अहिंसा को प्रतिष्ठापित करना है तो सबसे पहले व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण करना होगा। उपभोग-परिभोग का सीमाकरण करना होगा। अन्यथा हिंसा का दौर कभी थमेगा नहीं और अहिंसा बलवती होगी नहीं।

अहिंसा औषध है

वर्तमान में हिंसा की समस्या बहुत भयावह रूप ले रही है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंसा का तांडव नृत्य हो रहा है। हिंसा की समस्या आदिमकाल से ही रही है। ऐसा कोई युग नहीं रहा, जब दुनिया पूर्णरूपेण हिंसामुक्त रही हो। बेशक इस शताब्दी में इसने नए-नए वीभत्स रूप धारण किए हैं। इसलिए हिंसा से झुलसते मानव के लिए अहिंसा बावना चंदन है। आज 'अहिंसा' शब्द कर्णप्रिय लग रहा है। बीमारी जब बढ़ जाती है, तो दवा की उपादेयता और प्रासंगिकता महत्त्वपूर्ण हो जाती है। उस पर भरोसा हो जाता है कि बीमार को स्वस्थ कर देगी, ठीक कर देगी। हिंसा से संत्रस्त और संतप्त लोगों को एकमात्र अहिंसा ही औषध के रूप में दिखाई देती है।

अहिंसा को समझना है तो हिंसा को समझें

अहिंसा को समझने के लिए हिंसा को व्याख्यायित करना भी आवश्यक है। हिंसा सिर्फ सीमा पर होने वाली गोला-बारी, आत्महत्या, परहत्या अथवा आतंककारी कार्यवाही के रूप में दिखाई देती है। किंतु, हमारे आसपास जो कुछ घटित हो रहा है, उस पर ध्यान केंद्रित नहीं हो रहा है। हिंसा का मनोभाव हमारी रोग प्रतिरोधक क्षमता को प्रभावित करता है। व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है। मन में ईर्ष्या का भाव, दूसरों को नुकसान पहुंचाने का भाव बीमारी को जन्म देता है। हिंसा आदमी का नकारात्मक भाव है, नकारात्मक सोच और उसकी परिणति है। यह पहले आदमी के भावों और विचारों में जन्म लेती है, फिर व्यवहार को उथल-पुथल कर देती है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने हिंसा के विविध आयामों एवं विभिन्न प्रकल्पों पर सूक्ष्मता से विचार किया है। इस संदर्भ में उन्होंने हिंसा के पंच-आयामी स्वरूप पर चर्चा की है—1. **कायिक हिंसा :** कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है, परहत्या करता है, भ्रूणहत्या करता है—ये सब कायिक हिंसा के अंतर्गत आते हैं। युद्ध में भीषण

नर-संहार होता है, बम-विस्फोट होने पर निरपराध प्राणियों का वध होता है। रेल, कार, बस आदि यातायात के साधनों में आतंककारी प्रवृत्तियों से होने वाली दुर्घटनाएं कायिक हिंसा के ही ज्वलंत उदाहरण हैं। 2. **वाचिक हिंसा :** वर्तमान युग में सबसे ज्यादा वाचिक हिंसा हो रही है। कथनी के तीर इतने ज्यादा घातक साबित हो रहे हैं कि गोली-बारूद वाली हिंसा तो उसकी परिधि में खड़ी नजर आती है। परिवार, समाज और संस्थागत मतभेदों एवं मनभेदों में मूल भूमिका वाणी के असंयम की है। अनावश्यक बोलना, अपशब्द या अंटसंट बोलना, अनर्गल प्रलाप करना, मन के विपरीत बोलना, मर्मभेदी बात कहना—ये सब वाचिक हिंसा के परिकर हैं। व्यक्ति व समाज के उदात्तीकरण के लिए वाचिक-अहिंसा का विकास बहुत जरूरी है। समय, शक्ति, सोच और श्रम के क्षरण से बचने के लिए तथा सामुदायिक जीवन में सरसता और समरसता पनपाने के लिए अहिंसा की शरण स्वीकार करने से ही त्राण मिलेगा। वस्तुतः एक आदर्श और शिष्ट समाज वही होता है, जिसके आचार और व्यवहार में वाचिक अहिंसा का परिदर्शन होता है। 3. **मानसिक हिंसा :** आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के मतानुसार मानसिक हिंसा शारीरिक हिंसा और वाचिक हिंसा को प्रसूत करती है। नकारात्मक मनोभूमि पर मनुष्य ऐसे-ऐसे कार्यों को अंजाम दे देता है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आदमी के भीतर बैठा क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, अभिमान और स्वार्थ मनुष्य को मानसिक हिंसा के लिए अभिप्रेरित करता है तथा कायिक हिंसा की पृष्ठभूमि निर्मित कर देता है। बहुधा यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति अपर व्यक्ति के प्रति अकारण ही बुरे विचार और गलत धारणाओं का निर्माण कर लेता है। अनिष्ट चिंतन, प्रतिशोध के भाव, मानसिक हिंसा की ही परिणतियां हैं। 4. **वैचारिक हिंसा :** हिंसा का एक प्रतिबिंब वैचारिक हिंसा के रूप में भी देखा जा सकता है। हिंसा का उत्स है—विचार। विचार सबसे पहले मस्तिष्क में पैदा होता है। वैचारिक समस्या एक असाध्य बीमारी है। व्यक्ति में एक अभिनिवेश होता है। वह अपने विचारों से तिलमात्र भी इधर-उधर होने को तैयार नहीं होता। धार्मिक लोगों में यह वैचारिक हिंसा अधिक होती है। अपनी बात को पकड़ कर बैठ जाना और दूसरे की बात को सुनने से इनकार कर देना, स्वयं को ही श्रेष्ठ एवं सही मानना, दूसरे को महत्त्व नहीं देना आदि-आदि इसी की फलश्रुति है। 5. **प्रतिक्रियात्मक हिंसा :** वर्तमान में प्रतिक्रियात्मक हिंसा के अनेक रूप हमारे सामने आ रहे हैं। यह हिंसा समुचित व्यवहार के अभाव में हो रही है। नौकर के साथ मालिक ने अच्छा व्यवहार नहीं किया, एक दिन वह परिवार के सदस्यों की हत्या कर, लूटपाट कर भाग जाता है। परिवार के किसी सदस्य की उपेक्षा हुई, वह प्रतिशोध लेने के लिए तैयार हो जाता है। बहू ने जो कहा, सास ने स्वीकार नहीं किया। बहू आत्महत्या के लिए उत्तेजित हो जाती है। पिता ने पुत्रों में धन का बंटवारा सही नहीं किया, पुत्र हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। ये सब प्रतिक्रियात्मक हिंसा के दृश्य हैं।

अहिंसा का त्रियामी अभियान

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपनी उम्र के नौवें दशक में सप्तवर्षीय अहिंसा-यात्रा की। उस यात्रा के उन्होंने दो लक्ष्य निर्धारित किए—1. **अहिंसक चेतना का जागरण** और 2. **नैतिक मूल्यों का विकास** । वस्तुतः ये दो हैं ही नहीं। क्योंकि अहिंसा के बिना नैतिक मूल्यों का विकास नहीं हो सकता और नैतिक मूल्यों के बिना अहिंसा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती।

इन लक्ष्यों को आत्मसात करने का फलित होगा—स्वस्थ व्यक्ति, स्वस्थ समाज व्यवस्था और संतुलित अर्थव्यवस्था का साकार होता सपना। अस्वस्थ व्यक्ति, त्रुटिपूर्ण समाज व्यवस्था और त्रुटिपूर्ण अर्थ-व्यवस्था में अहिंसा का विकास संभव ही नहीं है।

अहिंसा प्रशिक्षण

वर्तमान में हिंसा त्वरित गति से बढ़ती जा रही है, फैल रही है, उसकी जड़ें मजबूत होती जा रही हैं। इसका महत हेतु है—अहिंसक संस्कारों का अभाव। अहिंसा-यात्रा के दौरान आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने हिंसा

के कारणों पर सांगोपांग चिंतन किया और उन कारणों के निवारण के सम्यक् समाधान भी दिए। इस संदर्भ में उन्होंने गंभीरता से कहा—अहिंसक संस्कारों का बीजारोपण करने के लिए कोरा उपदेश ही पर्याप्त नहीं है। अहिंसक संस्कारों का व्यक्तित्व के साथ सात्मीकरण हो, इसके लिए अहिंसा-प्रशिक्षण ही एकमात्र अनिवार्य विकल्प बनता है । इस प्रकल्प की समग्र प्रविधि उन्होंने स्वयं तैयार की और उसके साथ ही विभिन्न क्षेत्रों में अहिंसा प्रशिक्षण के कार्यक्रम प्रारंभ किए गए। उसके चार आयाम हैं—1. अहिंसा सिद्धांत और इतिहास, 2. अहिंसक जीवनशैली, 3. हृदय परिवर्तन और 4. आजीविका शुद्धि और रोजगार प्रशिक्षण।

अहिंसा-यात्रा के दौरान प्रारंभ होने वाले इन प्रशिक्षण केंद्रों से बहुसंख्य लोग लाभान्वित हो रहे हैं। जीवन में परिवर्तन का एहसास कर रहे हैं। अपनी मनःस्थितियों और परिस्थितियों में सुधार की अनुभूति कर रहे हैं। अहिंसा-प्रशिक्षण जीवन की सफलता की धुरी है, यह कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। आचार्यवर ने अहिंसा-प्रशिक्षण के निम्नांकित सूत्र निर्देशित किए—संकल्प शक्ति का विकास, एकाग्रता का विकास और स्वतः सुझाव का विकास। इस प्रक्रिया की स्वीकृति के साथ यदि कार्य को अंजाम दिया जाता है, तो परिवर्तन सहज संभाव्य बन जाता है। अहिंसा प्रशिक्षण केवल जनता के लिए ही नहीं, जननेता के लिए भी उतना ही जरूरी है। साथ ही व्यापारी, उद्योगपति, प्रशासक, कर्मचारी, अध्यापक, विद्यार्थी आदि के लिए इस प्रशिक्षण की अनिवार्यता होनी चाहिए। अहिंसा व्यक्ति के विचारों में उतरे, फिर व्यवहार में उतरे—यह वांछनीय है।

अहिंसा समवाय : अहिंसा और शांति का मंच

अहिंसा यात्रा में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जहां छोटे-छोटे गांवों का स्पर्श किया, वहीं बड़े नगरों-महानगरों को भी अपनी चरणधूलि से पवित्र किया। वहां की वृहद् सभाओं में अनेकानेक लोगों को संबोधित किया। अनेक धर्मगुरुओं से उनका संपर्क सूत्र जुड़ा, विचार-विनिमय हुआ। सांप्रदायिक सौहार्द की दिशा में आचार्यश्री तुलसी ने जो उल्लेखनीय कार्य किए, आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उन्हीं के पदचिह्नों का अनुगमन किया। वे उन्हीं के मिशन को आगे बढ़ाने के लिए कृत-संकल्प रहे। अहिंसा-यात्रा में सर्वोदयी विचारधारा के साथ समन्वय की दृष्टि से अहिंसा समवाय मंच बना। यह कोई संस्था नहीं है, मात्र एक मंच है। उसका कार्य है—अहिंसा के विषय में कार्य करने वाली शक्तियों को एकजुट करना, तदर्थ कार्यों में समन्वय लाना। प्राणियों के अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न, पर्यावरण का प्रश्न—आदि विषयों पर विमर्श करना, चिंतन करना और उस हेतु नीति-निर्धारण करना।

अहिंसा-समवाय के पांच-सूत्र निर्धारित किए गए—मिलन, सहासन, सहचिंतन, सहनिर्णय और क्रियान्विति। इन्हीं पांच सूत्रों के आधार पर कार्य करने का संकल्प व्यक्त किया। परस्पर संवादिता और सहप्रयत्न का अपना महत्त्व होता है। समन्वित स्वर का प्रभाव होता है। संगठन में शक्ति होती है। यह कथन इसी भाव-भूमिका पर आधृत है।

अहिंसा और जीवन व्यवहार

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की दृष्टि इस बात की ओर अधिक केंद्रित रही कि अहिंसा को जीवन-व्यवहार के साथ जोड़ा जाए। एक मालिक अपने नौकर के साथ गुलाम और शोषण का व्यवहार न करे। एक सास अपनी बहू के साथ वात्सल्यपूर्ण व्यवहार रखे। पिता अपने पुत्रों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार न करे। एक अधिकारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ न्याय और संविभाग का बर्ताव करे। यह बात किसी भी क्षेत्र में, किसी भी रूप में कार्य करने वालों पर लागू होती है। वह क्षेत्र चाहे न्याय का हो या शिक्षा का, कृषि का हो या व्यापार का, संबंधों का हो या व्यवस्था का—सारा व्यवहार अहिंसा के प्रकाश से प्रकाशित रहे, यही अपेक्षा की गई है।

अहिंसा के संदर्भ में समग्र विमर्श के पश्चात् यह तथ्य सामने आया कि अहिंसा की समझ जितनी

व्यापक होगी, व्यक्ति अपनी चेतना का उतना ही अधिक रूपांतरण कर सकेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात है—व्यक्ति-व्यक्ति में संवेदनशीलता और करुणा का विकास हो। आम आदमी की सोच स्वयं और अपने परिवार तक ही सिमट कर न रहे। उसका दायरा विस्तृत हो। व्यष्टि से समष्टि की यात्रा का शुभारंभ हो। यह तभी संभव है—जब शुभ संकल्पों और प्रयोगों से अपने आपको भावित किया जाए।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक बार विशाल जनमेदिनी को आह्वान करते हुए कहा था—'आप अहिंसा के केवल हिमायती/समर्थक ही न बनें, इसके प्रयोक्ता भी बनें। अहिंसा कोई नारा नहीं है, यह जीवनशैली है। इसे आत्मसात कर समाज में स्वस्थ वातावरण बनाने का प्रयास करें।'—अहिंसा की उपादेयता तभी सिद्ध होगी। ❖

भारतीय संविधान में अहिंसा

अहिंसा के दर्शन ने संविधान के कलेवर को प्रभावित किया है और अनुच्छेद 48 (अ), अनुच्छेद 51 (अ) व 42वें संशोधन के फलस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की नई व्याख्या की है और अहिंसा व प्राणीमात्र के प्रति करुणा की भावना को एक नया धरातल दिया है। इस संबंध में स्टेट आफ गुजरात बनाम मिर्जापुर मोती कुरेशी कस्साब जमात, अखिल भारत गो सेवा संघ बनाम स्टेट आफ आंध्रप्रदेश, हिंसा विरोधक संघ बनाम मिर्जापुर, मोती कुरेशी जमा व अन्य के निर्णय बहुत प्रासंगिक व महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें अहिंसा, पर्यावरण का संरक्षण, वन्य जीव रक्षा बंधुत्व की भावना व विविधता में समभाव व समता पर तथा धार्मिक सहिष्णुता पर सटीक टिप्पणी की गई है और अहिंसा के महत्त्व को समझाया गया है। अनेकांत दर्शन के सहारे हम कह सकते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय के ये निर्णय व्यक्ति, जाति, वर्ग, संप्रदाय के बीच संघर्ष को समाप्त करने में मील का पत्थर साबित होंगे। ये निर्णय अहिंसा व धर्म निरपेक्ष व प्राणी मात्र के प्रति करुणा भावना की ऋचाएं हैं।

संविधान का प्राणीमात्र के प्रति करुणा–भाव और हिंसा से दूर रहने का निर्देशन, पशुवध के औचित्य को स्वीकार नहीं करता। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने जब यह कहा था—मैं मानव हूं न कि मृत पशुओं का श्मशान, तो संभवत; प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव ही उनके मन में होगा और शायद उन्होंने तोलस्तोय के इस विचार की पुष्टि की थी कि शाकाहारी होना मानवीय प्रगति का प्रथम लक्षण है।

—पाना चंद जैन

गांधीजी की धर्म-प्रतिभा

❑ मुकुंद लाठ

मेरे मन में यह प्रश्न बहुत दिनों से रहा है कि गांधीजी में धर्म-प्रतिभा क्या थी? लक्ष्मण शास्त्रीजी (गांधीजी के साथी, एक बड़े धर्मशास्त्री व धर्मकोश के संपादक) से मैंने यह प्रश्न नहीं पूछा, पूछना चाहिए था। न जाने वे इसका क्या उत्तर देते, पर मैं अपनी तरह से गांधी की धर्म-प्रतिभा को समझना चाहता हूं।

समझने के लिए धर्म और नीति के संबंध पर विचार करूंगा और परंपरा के आधार पर करूंगा, क्योंकि मैं समझता हूं कि जो मैं कहने जा रहा हूं—उसकी विस्तार से गांधीजी को जानकारी न भी हो, तो भी उसकी गूंज उनमें थी। गांधीजी की जड़ें परंपरा में गहरी थीं और परंपरा की धरती से ही प्राण का रस लेती थीं। कई ऐसी बातें थीं, जिनके बारे में गांधीजी कहते थे कि उन्होंने वे परंपरा से पाई हैं, हालांकि कहां से और कैसे—इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए इतिहास में नहीं जाते थे। धर्मपालजी ने उनकी ओर से इतिहास में पैठ की है। उनके विचार और कर्म का परंपरा से संबंध जोड़ा है। जैसे असहयोग—जो सत्याग्रह का ही अंग है—उसके बारे में दिखाया है कि उसकी परंपरा पुरानी थी। अंग्रेजों के साक्ष्य के आधार पर दिखाया है, पर परंपरा को और भी पीछे ले जाया जा सकता है। मैं दसवीं सदी की एक अपभ्रंश कथा पढ़ रहा था, उसमें भी 'असहयोग' या 'धरना' की चर्चा है। मैं धर्मपालजी के सूत्र की पकड़ को बढ़ाते हुए गांधीजी के बृहत्तर विचार और कर्म को—उनकी अहिंसा और सत्याग्रह की धारणा को—परंपरा से जोड़ना चाहता हूं। जोड़ की गांठ कैसी भी हो—ढीली हो या कड़ी हो—इतना जरूर है कि परंपरा की धरती पर रख कर गांधीजी को समझें तो समझ में एक नई पकड़ आएगी, एक नया प्रकाश आएगा।

प्रश्न उठता है और यह भी पुराना प्रश्न है—क्या विशुद्ध अहिंसा प्रवृत्ति में संभव भी है? प्रश्न को यों भी रखा जा सकता है—क्या गृहस्थ सचमुच अहिंसा कर सकता है? गांधीजी के मन में भी प्रश्न था। कहते हैं और ग्लानि के साथ कहते हैं—कि वे सांप-चूहे को अपने आश्रम में भी मारने देते हैं। दूसरा उपाय नहीं।

अहिंसा के आदर्श का एक पुराना ही प्रवृत्ति-रूप भी है, जिसे महाभारत में आनृशंस्य कहा गया है। इसे अवध और प्रभव का संपुट कह सकते हैं। *आनृशंस्यः परमो धर्मः*। आनृशंस्य, परस्पर-भाव का, परार्थ-भाव का, करुणा और मैत्री का धर्म है। यों प्रवृत्ति में धर्म का सार है। गांधीजी की अहिंसा आनृशंस्य ही है।

❑

इसके लिए मैं समझता हूं—एक बात और जरूरी है। जाने कितने स्कूलों और सरकारी शिक्षा-संस्थानों में देखा है—बुद्ध, गांधी, जवाहरलाल नेहरू। यह आनुवंशिकी ठीक नहीं है। जवाहरलाल नेहरू तो यों भी अलग से ही हैं, पर गांधीजी को बुद्ध से जोड़ना भी ठीक नहीं है। कम से कम अधूरी बात तो है ही। मैं इस आनुवंशिकी में युधिष्ठिर और कृष्ण को भी लाना चाहता हूं। धर्म में प्रतिभा की बात तभी खुलेगी।

'खुलने' की बात जान-बूझकर कर रहा हूं। प्रतिभा की बात सृजन की बात है, इसलिए खुलेपन ही की बात है। पर, धर्म को हमारी परंपरा में ही क्या, सभी परंपराओं में बंधन की बात माना जाता है—स्वच्छंद सृष्टिकर्म की बात नहीं। धर्म बांधता है। खोलता नहीं है। फिर धर्म में प्रतिभा की बात कैसी?

पर यों सोचिए कि धर्म, जहां तक मनुष्य के कर्म के औचित्य की बात है, स्वातंत्र्य उसमें होगा ही। स्वातंत्र्य के बिना स्वच्छंद की भी बात क्या? धर्म जो बांधता है, इच्छा को बांधता है—रागतः प्राप्त को बांधता है। विवेक को नहीं बांधता, विवेक को तो खोलता ही है। पर, हां, अगर केवल धर्मशास्त्रों को देखें—कहीं के भी धर्मशास्त्रों को देखें—तो बोध यही होगा कि धर्म जीवन के हाथ-पांव जैसे कस-जकड़ के रख देना चाहता है। पर, धर्मशीलों के जीवन को देखिए, वहां जकड़ाव नहीं, खुलापन है। पर, प्रश्न है कि हमारी परंपरा के धर्म-विचार में इसका इंगित है, तो कहां? मैं समझता हूं कि धर्मशास्त्रों से हट कर महाभारत की ओर झुकना होगा, जहां धर्म प्रश्न है, उत्तर नहीं। विचार की दृष्टि से कृष्ण इस खुलेपन की बात करते हैं। बड़े मार्मिक-भाव से करते हैं। धर्म में प्रतिभा की बात करनी हो तो उनकी बात के आधार पर बात को आगे बढ़ाया जा सकता है।

महाभारत का एक प्रसिद्ध प्रसंग है। युधिष्ठिर ने क्रोधवश कह दिया कि अर्जुन गांडीव किसी और को दे दें, धनुष उसको शोभा नहीं देता। हुआ यह था कि अर्जुन युद्ध में उनकी रक्षा के लिए नहीं आए और इसी बात पर, कर्ण से सताए जाकर युधिष्ठिर आक्रोश में आ गए। अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि कोई अगर गांडीव को उनसे छीनने की बात करेगा तो वे कहने वाले के प्राण ले लेंगे। अब अर्जुन पर यह बन आई कि वे युधिष्ठिर के प्राण लें। प्रतिज्ञा-पालन धर्म है, सत्य रूपी परम-धर्म है। क्या करते?

कृष्ण इस अवस्था को संभाल लेते हैं। एक पते की बात कहते हैं—कहते हैं कि ठीक है, सत्य परम-धर्म है, उसका पालन करना चाहिए। पर, धर्म को विधि-विधानों में नहीं ढाला जा सकता, चाहे कैसा ही 'परम' विधान क्यों न हो—जैसे कि सत्य परम-धर्म है।

कृष्ण कहते हैं—माना कि सत्य परम-धर्म है, पर सत्य का 'अनुष्ठान' कैसे हो? क्या सत्य बोलने से सत्य का अनुष्ठान हो जाता है? 'अनुष्ठान' का अर्थ यहां 'प्रयोग' ही है। कृष्ण की बात को यों रखा जा सकता है—व्यवहार में धर्म का प्रयोग किसी विधि से नहीं बंध सकता, चाहे विधि किसी परम 'तत्त्व' का आधार क्यों न लेती हो। धर्म का 'करना' किसी सीधे-सादे नियम की बात नहीं हो सकती। कृष्ण यही कहते हैं कि धर्म का प्रयोग किसी विधान से नहीं बंध सकता, क्योंकि धर्म की आत्मा विधानों के परे है। इसीलिए फिर कहते हैं कि धर्म का प्रयोग किसी विधि-विधान से या विधि-विधान देने वाली श्रुति से नहीं सीखा जा सकता। ऐसा नहीं है कि ये मिथ्या हैं, पर इनके मर्म को पकड़ना प्रतिभा का काम है। धर्म के प्रयोक्ता से ही धर्म सीखा जा सकता है। उसका प्रयोग कौशल चाहता है, जो विधि-विधानों से नहीं आता। **योगः कर्मसु कौशलम्**—को हम—**धर्मः कर्मसु कौशलम्**—कहें तो बात नहीं बिगड़ेगी। योग निष्काम कर्म का कौशल है। धर्म भी वही है। निष्काम भाव के बिना धर्म की बात ही वृथा है।

तो कृष्ण के लिए धर्म प्रयोग की बात है और प्रयोग एक कला है। उसका प्रयोग कौशल चाहता है और सार्थक कौशल प्रतिभा का ही कर्म है। प्रतिभा का मर्म यही है—**नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः प्रतिभा**—गांधी में धर्म की अपनी-सी विलक्षण प्रतिभा थी।

जिस प्रसंग की बात मैं कर रहा हूं, वहां कृष्ण सत्य को—वचन के सत्य को—एक व्यापकतर आधार देते हैं। सत्य घटित हुआ या नहीं हुआ, इसकी बात करते हैं और कहते हैं कि इसकी एक गहरी तुला है। धर्म धारण करता है और धर्म की आत्मा है—अवध और प्रभव। अवध अहिंसा का ही दूसरा नाम है। 'प्रभव' अभ्युदय है, जो गांधीजी के 'सर्वोदय' की कोटि में आता है। देखने की बात है कि कृष्ण यहां अवध कहते हैं, अहिंसा नहीं। क्यों नहीं?

यहां बुद्ध को लाना चाहता हूं और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति—धर्म के इन दो भेदों को। बुद्ध भी धर्म की बात करते हैं। पर, उनका धर्म निर्वाण/मोक्ष की ओर ले जाने वाला मार्ग है, जिसकी एक आधारभूत शर्त है—व्यवहार से, लोक से अपने-आप को हटा लेना। अहिंसा का संबंध इसी निवृत्ति-धर्म से था, जो कि महावीर में बुद्ध से अधिक स्फुट है। बुद्ध और महावीर दोनों निवृत्ति मार्गी थे।

कृष्ण जब अवध की बात करते हैं, तो उसे निवृत्ति-मार्गी अहिंसा से अलग करके देखना चाहते हैं। इसीलिए साथ ही प्रभव या अभ्युदय की बात करते हैं। धर्म कृष्ण के लिए धारक है, तारक नहीं। कृष्ण प्रवृत्ति- मार्गी थे, निवृत्ति-मार्गी नहीं। गांधी की अहिंसा भी प्रवृत्ति-मार्गी थी। पुराने विचार के परिप्रेक्ष्य में देखें तो एक और शब्द यहां लाना पड़ेगा—आनृशंस्य।

अहिंसा का आदर्श कम से कम भारत में तो पुराना है। उतना ही पुराना जितना प्रवृत्ति-निवृत्ति का संघर्ष। जो गांधी में भी था, वैसे ही जैसे युधिष्ठिर और कृष्ण में था, अपनी-अपनी तरह से। भारत की विशिष्टता है—यह संघर्ष, जो अब भी हमारा स्वभाव-सा है।

पर, भारत में एक और भी धारा पुरानी है और इसी धारा की हम बात कर रहे हैं—निवृत्ति के परमार्थ को प्रवृत्ति में उतार लाने का पुरुषार्थ। **अहिंसा परमो धर्मः** का मंत्र इसी धरती पर उभरा है। क्योंकि, अहिंसा को जब परम धर्म कहा जाता है—तब धर्म को निर्वाण के मार्ग के रूप में नहीं, अपने आप में इतिकर्तव्यता का आधार माना जाता है। गांधी भी अहिंसा को इसी अर्थ में लेते हैं।

पर, प्रश्न उठता है और यह भी पुराना प्रश्न है—क्या विशुद्ध अहिंसा प्रवृत्ति में संभव भी है? प्रश्न को यों भी रखा जा सकता है—क्या गृहस्थ सचमुच अहिंसा कर सकता है? गांधीजी के मन में भी प्रश्न था। कहते हैं और ग्लानि के साथ कहते हैं—कि वे सांप-चूहे को अपने आश्रम में भी मारने देते हैं। दूसरा उपाय नहीं।

तभी अहिंसा के आदर्श का एक पुराना ही प्रवृत्ति-रूप भी है, जिसे महाभारत में आनृशंस्य कहा गया है। इसे अवध और प्रभव का संपुट कह सकते हैं। धर्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने एक जगह कहा है—**आनृशंस्यः परमो धर्मः**। आनृशंस्य परस्पर-भाव का, परार्थ-भाव का, करुणा और मैत्री का धर्म है। यों प्रवृत्ति में धर्म का सार है। गांधीजी की अहिंसा आनृशंस्य ही है।

पर, एक बड़ा अंतर है और यही गांधीजी का वैशिष्ट्य भी है। आनृशंस्य और अहिंसा के भेद को आंकने के कई रास्ते हो सकते हैं। एक पहलू व्यष्टिगत और समष्टिगत धर्म के भेद को लेकर हो सकता है। व्यष्टिगत स्तर पर आनृशंस्य अहिंसा की प्रवृत्ति में निहित परस्पर-भाव है—करुणा, मैत्री। पर, आनृशंस्य समष्टिगत धर्म भी है। अहिंसा और आनृशंस्य में एक बड़ा भेद यही है कि अहिंसा प्रधानतः व्यष्टिगत धर्म है, जबकि आनृशंस्य समष्टि-धर्म भी है। इसको राजा का धर्म भी कहा गया है। और, यहां अहिंसा और आनृशंस्य में एक आधारगत अंतर उभर आता है। अंतर को धर्म और नीति का अविच्छेद्य अंतर भी कह सकते हैं। अंतर है—समष्टि के स्तर पर धर्म में दंड की—हिंसा की—स्वीकृति। गांधी ने इसी को मिटाने की चेष्टा की।

मनुष्य की स्थिति में ही एक विचित्र वैषम्य है। विशेषकर समष्टियों के स्तर पर, राष्ट्रों के स्तर पर। किसी विशेष समष्टि के अंतर्गत अवध और प्रभव की साधना की जा सकती है। समष्टि के भीतर धर्म की बात

हो सकती है। पर, समष्टियों के बीच—और समष्टि का परिनिष्ठित रूप राष्ट्र होता है—इसलिए यों कहें कि राष्ट्रों के बीच—धर्म की नहीं, नीति की ही बात व्यवहार की मूल बात होती है।

धर्म और नीति का भेद यों कर सकते हैं—धर्म में हर कर्म अपने आप में उचित होता है, अपने आप में करणीय, अहेतुक, निष्प्रयोजन करणीय। अगर यह नहीं हो तो, वह धर्म नहीं होगा। हर कर्म अपने आप में उपेय होता है। परार्थ-भाव और परस्पर-भाव में स्थित होने के कारण उसमें सहज अहेतुकी भाव होता है। उसका उद्देश्य उसके परे नहीं होता, उसी में निष्ठ होता है। क्योंकि, परस्पर-भाव मनुष्य का स्वरूप है। नीति में उलटा होता है—नीति उपाय है, किसी उपेय की प्राप्ति का उपाय, उपेय कुछ भी हो। नीति का कौशल उपाय का कौशल है। 'नीति' शब्द का प्रयोग विशेषकर राजनीति के लिए होता है और उसी की बात हम यहां करना चाहते हैं।

राजनीति का एक नाम दंडनीति भी है। दंड धर्म का उलटा है। तभी दंडनीति में राष्ट्रों के परस्पर-व्यवहार को साम-दाम-दंड-भेद—इन धारणाओं में आंका गया है। इनमें किसी में भी धर्म का परस्पर-भाव नहीं है। दंड में शक्ति-प्रयोग का प्राधान्य होता है। पर, साम, दाम, दंड, भेद—इन सभी को हम दंड कह सकते हैं। ये अलगाव के आधार पर टिके हैं। समष्टियां, जहां तक वे राष्ट्र जैसी होती हैं, उनका परस्पर व्यवहार साम, दाम, दंड, भेद को ही आधार मानता है। मनुष्य के समष्टि-स्वरूप में ही परस्पर-भाव का यह वैषम्य उभरता दीखता है।

आनृशंस्य के प्राचीन आदर्श में दंड के प्रति प्रवृत्ति यह थी कि युद्ध को स्वीकार कर लिया जाए, पर स्वीकार करते हुए भी उसकी नृशंसता पर अंकुश लगाने की चेष्टा की जाए। यहां युधिष्ठिर और कृष्ण की युद्ध के प्रति दृष्टि को सामने रखना चाहता हूं। महाभारत का एक और प्रसंग है। जिस प्रसंग की अभी पहले चर्चा की थी, वह युद्ध के बीच का प्रसंग था। युद्ध के ठीक पहले का एक प्रसंग यहां लेना चाहता हूं। धृतराष्ट्र संजय को पांडव-शिविर में भेजते हैं—इस संदेश के साथ कि पांडव धर्मात्मा हैं। दुर्योधन नहीं है, पर धर्मात्मा होने के नाते पांडवों का धर्म है कि वे अपनी ओर से युद्ध-विरत हो जाएं, चाहे इसके लिए उन्हें सबकुछ खोकर भिखारी ही क्यों न हो जाना पड़े। यही धर्म की मांग है, यह प्रस्ताव युधिष्ठिर और कृष्ण, दोनों को ही बड़ा अटपटा, बेतुका और विषम लगा। धृतराष्ट्र का मनोभव यही था कि अब अधर्मशील से तो क्या कहा जाए? उसका क्या किया जाए? उसका तो स्वभाव ही अधर्म और अन्याय करना है। वह स्वार्थ से डिग नहीं सकता। पर, जो धर्मशील हैं, जिसके स्वभाव में परार्थ-भाव है, उसको अपने स्वभाव से नहीं हटना चाहिए। युद्ध में परार्थ-भाव का मूल विनाश है, इसलिए धर्म-स्वभाव युधिष्ठिर को युद्ध का त्याग कर देना चाहिए।

उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं कि अधर्म का विरोध नहीं करना धर्म नहीं हो सकता। प्रश्न है—युद्ध का, जिसमें अहिंसा अनिवार्य है और निर्दोष, धर्मशील का वध भी। आगे जो युधिष्ठिर ने कहा—उससे उभरता है कि युधिष्ठिर युद्ध को आपद्धर्म मानते थे। धर्म के अंतर्गत ही जैसे अपवाद की बात हो—जिसे धर्म के मर्म से विलग मानते हुए भी कभी 'धर्म' के रूप में स्वीकार कर लेना होता है। धर्म की ही रक्षा के लिए।

युद्ध न हो, इसका सबसे अधिक प्रयास कृष्ण ने किया। युद्ध हुआ तो स्वयं लड़े भी नहीं। सारथि ही रहे। यह उनका व्यक्तिगत निर्णय था। इसे ही उन्होंने 'स्व'-धर्म माना। निर्णय का आधार कुछ ऐसा-सा लगता है—धर्मशील का कर्तव्य है कि युद्ध को होने से यथाशक्ति रोके। पर, युद्ध न रुके तो कर्मक्षेत्र को छोड़कर उदासीन हो जाना भी धर्म नहीं हो सकता। पर, युद्ध में कैसे भाग लिया जाए? औचित्य को कैसे कर्म में उतारा जाए? कृष्ण सखा के सारथि हो गए। गांधीजी ने भी युद्ध के विषय में ऐसे ही विचार जताए हैं और प्रश्न भी उनके मन में था। उनका उत्तर विदित है और निर्मम लग सकता है। उन्होंने आक्रमणकारी के आगे भी अहिंसा बरतने का ही उपदेश दिया था। स्वयं

तो वे ऐसा करते ही, पर उनके लिए यह धर्म व्यष्टि-धर्म मात्र नहीं था, धर्म का हृदय था। मानवमात्र का धर्म, इसलिए समष्टि का भी धर्म। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसा को वे दुर्बलता नहीं, वीर्य समझते थे। महावीर की तरह ही वे इसे वीर्य का व्रत मानते थे, दुर्बल की हार या समर्पण नहीं। बात कहां तक उचित थी, यह प्रश्न अलग है, पर उनकी धर्मप्रज्ञा में संगत और अंत:स्फूर्त थी। उनकी धर्मप्रज्ञा धर्म में वैषम्य स्वीकार नहीं करना चाहती थी। एक प्रश्न और हो सकता है, जो मुझे बहुत दिनों से कचोटता रहा है—गांधीजी ने राजकाज संभालने से क्यों इनकार कर दिया? उनकी जो प्रवृत्ति-मूलक धर्मप्रज्ञा थी, उसमें यह बात विषम लगती है। युधिष्ठिर भी युद्ध की विभीषिका के आगे, पराजय जैसी जय से निर्विषण्ण हो कर संन्यास लेना चाहते थे। पर, अनिच्छा से ही सही—धर्म यों भी 'इच्छा' की बात नहीं—उन्होंने प्रवृत्ति-धर्म का वरण किया। राज्य की बागडोर संभाली। पर, गांधीजी ने दंगे और बंटवारे के भैरव के आगे मन के हथियार डाल दिए।

मान लीजिए राज्य करते। तो अहिंसा की क्या युद्धनीति बनाते? कैसी सेना रखते? कैसे हथियार? क्या दूसरे राज्यों के प्रति कोई राज्य पूरी तरह से अहिंसा-नीति अपना भी सकता है? समष्टि-धर्म का परम आधार राज्य है। हमारे यहां भी यही माना गया है। पर, समष्टियां एक नहीं होतीं। वैविध्य मानव-व्यष्टि का ही नहीं, मानव-समष्टि का भी सहज गुण है। समष्टियों का वैषम्य व्यष्टि-वैषम्य से कहीं गहरा होता है। धर्म के परस्पर-भाव का वैषम्य भी समष्टि के ही स्तर पर अपना उग्रतम रूप दिखाता है—वहां युद्ध को धर्म से हटा रखना असंभव-सा प्रतीत होता है।

युद्ध के विषय में कृष्ण का मत युधिष्ठिर से भिन्न था। कृष्ण राजा के लिए युद्ध को आवश्यक मानते थे। आवश्यक ही नहीं 'धर्म्य' मानते थे। भारतीय राजनीतिक चिंतन की—जिसे दंडनीति भी कहते थे—यह बद्धमूल धारणा है कि राजधर्म की धरती ही एक ऐसे वैषम्य पर स्थित है, जिसे छोड़ दिया जाए तो राज्य के पांव नहीं टिकेंगे और राज्य नहीं रहेगा तो धर्म भी डिग जाएगा। राजा को कहा गया है कि अपने राज्य में न्याय साधे, सबका अभ्युदय और उचित परस्पर-भाव साधे, लेकिन दूसरे राज्य के प्रति दंड बरते। दंड ही नहीं, साम-दाम और भेद भी। राजधर्म का उपदेश देते हुए आरंभ में ही मनु कहते हैं—**स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्मृशदंडश्च शत्रुषु**—राजा को चाहिए कि अपने राष्ट्र में न्याय बरते, पर शत्रु के साथ जितना हो सके उतना दंड (मनुस्मृति 8, 32)। हिंसा, वध—ये दंड के अभिन्न अंग हैं। मनु के यहां दंड की सहज स्वीकृति है। कई श्लोकों में दंड की स्तुति करते हुए वे दंड को धर्म का सहोदर मानते हैं (मनुस्मृति 8, 14)। सहोदर ही नहीं, धर्म-स्वरूप भी कह देते हैं—**दंडं धर्मं विदुर्बुधाः** (मनुस्मृति 8, 18)। पर, कृष्ण के लिए धर्म के मर्म में अवध था, वध नहीं। फिर भी युद्ध को वे राजधर्म के लिए अनिवार्य मानते थे। और, युद्ध न रोका जा सके, तो धर्म-युद्ध को राजा का कर्तव्य मानते थे। युद्ध राजा के लिए उसका 'सत्य' है—सत्यधर्म। इसका भी उचित समय पर पालन—धर्म की कोटि में ही आता है। इसका न्याय से संबंध है। न्याय के लिए दंड का प्रयोग उचित ठहर ही सकता है। इसीलिए अवध और प्रभव को धर्म का मर्म मानते हुए भी कृष्ण युद्ध के 'सत्य' को भी धर्म कहते हैं। कृष्ण के लिए धर्मज्ञ होना नियम का पालन नहीं, प्रज्ञा का ऐसा कौशल था, जिसके गर्भ में आनृशंस्य की लौ हो। पर, धर्मज्ञ होना उनके लिए धर्मविभागज्ञ होना भी था। धर्म एक नहीं अनेक हैं, भिन्न ही नहीं विषम भी हैं। धर्मविभागज्ञ वह है—जिसकी प्रज्ञा देश, काल, पात्र को देख कर धर्म का निर्धारण करती है। युद्ध भी धर्म हो जा सकता है। इस बात को यों भी देख सकते हैं—धर्मविभागज्ञ होने का यह भी अर्थ है कि व्यष्टि-धर्म और समष्टि-धर्म में हम अंतर करें। व्यष्टि के लिए आनृशंस्य ही परम-धर्म है—अवध और प्रभव। पर, समष्टि-धर्म—जिसके केंद्र में राजधर्म है—के लिए युद्ध भी धर्म का सत्य हो सकता है। मैं समझता हूं कि कृष्ण की धर्मप्रज्ञा का यह विवरण असमीचीन नहीं है

पर, गांधीजी की धर्मप्रज्ञा को धर्म का यह विभाग स्वीकार्य नहीं था। अहिंसा को वे व्यष्टि-धर्म ही नहीं,

समष्टि-धर्म भी बनाना चाहते थे। यह उनका बड़प्पन और उनका कर्म-कौशल था कि वे इतने विराट रूप में ऐसा कर पाए। यही उनकी धर्म-प्रतिभा थी। प्रतिभा का संबंध शिल्प से इस रूप में भी है कि प्रतिभा उपाय और उपेय, दोनों को एक ही में समाहित, अखंड दृष्टि से देख लेती है। इसी को आलंकारिकों ने कवि की रस-समाधि कहा है। सृष्ट-रूप—अवयवी, जो बनाया जा रहा है और उसके साधन-माध्यम, तकनीक, अवयव—कवि के लिए दोनों एक ही प्रयास, एक ही बुद्धि के अंग होते हैं, पृथकसिद्ध नहीं। धर्मशील की कर्मप्रज्ञा भी ऐसी ही होती है। ऐसी होती है—मानों कर्म में ही धर्म-दृष्टि समोई हुई हो, जो हर प्रयास में उपाय-उपेय को एक में पिरोती चलती है। ऐसे भी धर्मचिंतक हुए हैं—जैसे कांट—जो धर्म-बुद्धि को व्यवहार के जड़ कार्य-कारण मय जगत से हटा कर संकल्प के परमार्थ में रखना चाहते हैं। ऐसों के धर्म में कोई कर्म-कौशल नहीं होता—केवल धर्म के तत्त्व और नियम की ही बात होती है। कर्तव्य इनके लिए संकल्प की धरती पर ठीक नियम के पालन का जकड़ाव होता है—कर्म-प्रतिभा नहीं। प्रतिभा तो परमार्थ को व्यवहार में उतार लेने का शिल्प होती है। कृष्ण ने धर्म को देखा ही इस रूप में था और गांधीजी के कर्म में भी यही प्रज्ञा समोई हुई थी।

उनकी उक्तियों में जो इसका प्रकाश होता है, वह है—उपाय (मींस) और उपेय (एंड्स) को एक मानना। बार-बार वे इसकी चर्चा करते हैं। उपाय-उपेय में अभेद मानें तो कर्म के लिए उपाय ही प्रधान हो जाता है। धर्म उपाय की ओर ही झुक सकता है। धर्म की प्रवृत्ति प्रस्तुत कर्म में ही हो सकती है, उसी के करने में हम स्वतंत्र हैं—फल तो ओझल रहता है, अपने हाथ भी नहीं रहता—**कर्मण्येव अधिकारस्ते, मा फलेषु**। यहां अधिकार का सारार्थ स्वातंत्र्य ही है—हम वहीं अधिकारी होते हैं, जहां स्वतंत्र होते हैं। विवेक से काम ले सकते हैं। गांधीजी की प्रतिभा यह थी कि उन्होंने अनुभव किया—साक्षात किया—कि जब हम विवेक के स्वातंत्र्य में स्थित होते हैं, तो बंध नहीं जाते। विवेक हमें बांध नहीं देता, उलटे कर्म की अपनी संभावनाओं के प्रति खोल देता है—स्वाच्छंद देता है, कर्म में नए उन्मेष के द्वार दिखाता है। यह बात धर्मप्रज्ञ समझते हैं और ऐसी प्रतिभा बहुतों में होती है। हम देखें, तो हम अपने चारों ओर भी इसका प्रकाश पाएंगे। कृष्ण ने यही बात कही थी। यह मनुष्य में सहज है, तभी गांधीजी में इसने ऐसा विशेष साधक पाया। हां, ऐसे महत साधक सहज नहीं मिलते।

उपाय में ही धर्म का औचित्य है, उपेय में नहीं—यह बात बहुत छोटी-सी लग सकती है। बड़ा प्रकट-सा सत्य लग सकता है, जो शायद कहने की अपेक्षा ही नहीं रखता। धर्म और नीति का अंतर करते हुए हमने ऊपर कहा कि कर्म की इतिकर्तव्यता जब कर्म में ही निहित होती है—दूसरे शब्दों में जब कर्म अहेतुक होता है—तब वह धर्म की कोटि में आता है। पर, जब कर्म की इतिकर्तव्यता किसी और फल या लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है—जब उसका कोई अपने से अलग हेतु होता है—तब वह नीति की कोटि में आता है। यह बात भी कोई बड़ी बात नहीं है, स्वत:सिद्ध-सी लगती है।

पर, कहना न होगा—बात कहने-सुनने में ही सहज है, करने में नहीं। व्यष्टि के अपने कर्म में यह फिर भी अपेक्षाकृत सहज सही, समष्टि-निष्ठ कर्म में, विशेषकर जहां दूसरी समष्टि का विरोध करना हो, वहां इसके स्वरूप की पकड़ टेढी खीर हो जाती है, प्रखर प्रतिभा की मांग करती है। फिर यह भी सोचिए कि जिसे 'आधुनिक' कहते हैं, उस काल में कर्म दृष्टि की आधुनिकता ही यही रही है कि समष्टि-कर्म का स्वरूप ही समग्रत: बहिर्मुख और बहिरंग हों गया है। तात्पर्य यह कि समष्टि-कर्म अपने स्वरूप और प्रयोजन को कर्म में नहीं, कर्म के बाहर फल में देखता है—इसलिए 'बहिर्मुख' है। यही नहीं, कर्म जो परिवर्तन साधना चाहता है, वह बाहर का परिवर्तन है। मनुष्य जिन ढांचों में, जिन संस्थाओं में रहता है, जिस राज्य-समाज-कानून-व्यवस्था में जीता है—वह बदल जाए तो मनुष्य बदल जाएगा, क्योंकि मनुष्य है ही यही। यही आधुनिक मनीषा है। इसीकी ओर संकेत मैं 'बहिरंग' शब्द से कर रहा हूं। आज के किसी भी 'प्रभव' या 'सर्वोदय'

संबंधी 'वाद' को लें—मार्क्सवाद या पूंजीवाद—जो कि आज के दो प्रधान वाद हैं, दोनों कितने ही परस्पर भिन्न और परस्पर-विरोधी क्यों न हों, दोनों 'बहिरंग' हैं। साम्राज्यवाद को ही लें। उसकी निंदा सहज है। जो राजा रहे हैं, उनमें भी प्रजा की तो बात ही क्या, पर उसकी एक प्रच्छन्न प्रशंसा होती है, जिसके राजा-प्रजा, दोनों वैतालिक हैं। दोनों यह मानते हैं कि 'आधुनिकता', जो कि सभ्यता का एक नया और उन्नत—अधिक 'प्रभवशील'—ढांचा है, वह पश्चिम से ही आया है और कई जगह पश्चिम उसे 'ले' भी गया है। यह 'ले जाना' अगर हिंसा और पराधीनता के माध्यम से हुआ है, तो इस कर्म को अपने-आप में नहीं, उसके फल से जांचना चाहिए—फल आधुनिकता है, इतिहास की यात्रा का एक उत्तुंग शिखर! ऐसी ही इतिहास-दृष्टि से मार्क्सवाद और पूंजीवाद भी अनुप्राणित हैं। यह दृष्टि मनुष्य को बहिरंग-प्रधान मानती है, उसके स्वरूप को उसके भीतर नहीं, उसकी संस्थाओं के ढांचे में रखती है। इसलिए कर्म का उद्देश्य वह ढांचा ही होता है और समष्टि-कर्म की परख अपने आप में नहीं, अपने बाहर देखी जाती है। समष्टि-कर्म को यों प्रधानत: 'नीति ' ही माना जाता है, धर्म नहीं। कर्म यहां बाहर से भीतर की ओर मुड़ना चाहता है।

लेकिन, धर्म में कर्म भीतर से बाहर की ओर झुकता है—संकल्प की 'अनु'-कृति होता है—अंतरंग को बहिरंग में रूप देने की चेष्टा। व्यष्टि-कर्म में तो यह स्पष्ट है। गांधीजी समष्टि-कर्म में भी यही अंतरंग-भाव साधने की दु:साध्य साधना में रत रहे। वह भी ऐसे समय जबकि 'युगबोध', आज की हमारे मन-प्राण पर हावी 'आधुनिक' दृष्टि उनके विपरीत थी। अचंभा नहीं कि पश्चिम में और हमारे यहां के नीतिविदों में भी, उनको 'पागल' या 'अजूबा' समझा जाता था—या ढोंगी-पाखंडी। आज हम गांधीजी के समय से भी अधिक सहज-भाव से आधुनिक हो गए हैं।

पर, एक बात फिर भी है। धर्म के लिए उपाय और उपेय में चाहे एक तरह का अभेद हो, दोनों को एक-अद्वय तो नहीं माना जा सकता। कर्म का स्वरूप ही फलमय होता है, उसका एक लक्ष्य, एक उद्देश्य होता है और फल का अर्थ ही है—परिवर्तन साधना। वह कर्म में नहीं, कर्म के परे ही हो सकता है। गांधीजी ने इस पर सोचा था। गहरे विचारक थे—युक्ति-तर्क-विमर्श की बारीकियों में न जाते हों, बात की तह की ओर जाते थे।

गांधीजी के लिए अहिंसा उपाय था और 'सत्य' उपेय। दोनों में एक तरह के भेदाभेद की कल्पना की जा सकती है—हालांकि गांधीजी ने ऐसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पर इस तरह की बात जरूर की है। 'सत्य' गांधीजी के लिए बड़ा अर्थ-गंभीर शब्द था, अर्थ-बहुल भी। 'सत्य' मनुष्य का स्वरूप है, उसका साध्य-स्वरूप—ईश्वर, ब्रह्म—जो मनुष्य से अभिन्न है। सत्य सर्वोदय भी है। मनुष्य के स्वरूप का सहज परस्पर-भाव और इस अर्थ में सत्य स्वयं धर्म है। और, तभी अहिंसा भी—जो मनुष्य-स्वरूप के परस्पर-भाव में निहित है। गांधीजी के लिए सत्य और उनके उद्दिष्ट 'रामराज्य' और उस पर आधारित समाज का क्या संबंध था? इस पर उन्होंने कोई ऐसा विमर्श किया हो—जैसा मैं यहां संक्षेप में कर रहा हूं—मुझे पता नहीं। पर, उनकी बातों से मुझे यही उभरता दिखता है। इसीलिए वे अपने कर्म और अपनी अध्यात्म-साधना—दोनों को सत्य के प्रयोग कहते थे। 'सत्य' का अर्थ, उनके लिए उस अर्थ से बहुत भिन्न है—जो कृष्ण ने किया लगता है। कृष्ण के लिए सत्य का संबंध 'न्याय' से था। 'न्याय' में परस्पर-भाव का विच्छेद भी निहित है, इसीलिए न्याय का संबंध दंड से है—युद्ध से, हिंसा से। गांधीजी के कर्म का आदर्श था—कुछ लोग शायद 'आदर्श' नहीं कहें, 'स्वप्न' कहें—आदर्श यह था कि अहिंसा से परस्पर भाव दृढ़ होगा और रामराज्य की ओर बढ़ सकेगा। परस्पर-भाव को ही मनुष्य के स्वभाव का आधार मानने के कारण उनकी आदर्श समाज-रचना में छोटे-छोटे समूहों की इकाइयों को श्रेयस् या 'प्रभव'-शील माना गया है। इनमें दंड की आवश्यकता का क्षीण हो जाना अधिक सुगम है। यह मार्ग गांधीजी के लिए नीति को धर्म में समेट लेने की साधना का मार्ग था।

ऐसे कई कर्म-चिंतक और कर्मशील लोग हैं—जो यह मानते हैं कि गांधीजी की अहिंसा को उनके अभिप्रेत सत्य से अलग कर लेना ही उचित है। वे अहिंसा को नीति का रूप दे देना चाहते हैं—कर्म का एक उपाय, जिसको अधिक से अधिक मांजा-संवारा जा सकता है, जिसे नए-नए ऐसे प्रभावशाली रूप दिए जा सकते हैं—जो गांधीजी नहीं दे पाए थे। पर, इस उपाय का उपयोग क्यों हो?

एक उत्तर बंगाल के सुप्रसिद्ध चिंतक और अपनी तरह के गांधीवादी अम्लानदत्त ने दिया। उन्होंने कहा कि—पिछले इतिहास में इतिहास की एक मांग मार्क्स ने पूरी की थी, पर मार्क्स में हमारे आदर्श भविष्य का मार्ग हिंसा है। पहले हिंसा से विश्व में 'एक राज्य' की—एक 'प्रोलिटेरियन' राज्य की—स्थापना हो, तो फिर—वह राज्य अपने आप विशीर्ण हो जाएगा और मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगा। हिंसा भी शायद राज्य के साथ विशीर्ण हो जाएगी—यह कल्पना यहां ऊह्य लगती है। पर, अम्लानदत्त के अनुसार मार्क्स के बाद हिंसा ने ऐसा रूप अपनाया, जिसकी मार्क्स के समय कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। हिरोशिमा पर एटम बम गिरा। और, अब यह हाल है कि यदि युद्ध हुआ और बढ़ा तो मानव-जाति के लुप्त हो जाने की आशंका बन गई है।

यहीं गांधी इतिहास की नई मांग पूरी करते हुए नया रास्ता दिखाते हैं। मानव-जाति अगर अपने आप को बचाना चाहती है—और युद्ध के बिना मानव-जाति रह नहीं सकती—तो उसको चाहिए कि अहिंसा के हथियार से युद्ध करे। मैंने अलग से अम्लानबाबू से पूछा कि—'मनुष्य को बचाएं क्यों?' उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। शायद प्रश्न को उन्होंने अतिप्रश्न समझा हो। गांधीजी होते तो मैं समझता हूं, कहते—'क्योंकि मनुष्य सत्य है।'

एक दूसरा—अम्लानबाबू से भिन्न—पर, इसी स्वभाव का—उत्तर अमरीका के चिंतक जीन शार्प ने दिया। हारवार्ड में एक राजनीतिशास्त्र की 'चेयर' है, जहां राजनीति में अहिंसा पर पठन-पाठन और 'रिसर्च' होता है। जीन शार्प उस 'चेयर' पर हैं। जीन शार्प ने किसी इतिहास की मांग की तो बात नहीं की, पर उन्होंने इस बात पर पूरा जोर दिया कि 'अहिंसा' को गांधीवाद से अलग कर देना चाहिए, नहीं तो उसका प्रयोग विश्वजनीन नहीं हो सकता। गांधीजी के जो निजी विश्वास थे, उनकी जो निजी साधना और अध्यात्म था—उससे अहिंसा के प्रयोगों को बांधे रखना, उसे कुंठित कर देना होगा। गांधीजी स्वयं भी नहीं मानते थे कि अहिंसा का ईजाद उन्होंने किया। अहिंसा पुराना अस्त्र है—गांधीजी उसके एक महान और कुशल प्रयोक्ता थे। उस कौशल को हमें आगे बढ़ाना चाहिए।

शार्प का आशय यह था कि अहिंसा एक नीति है और बड़े काम की नीति है और उसका अधिकाधिक और पैने से पैना प्रयोग साधना ही सच्चा गांधीवाद होगा। उनसे पूछा गया कि—अहिंसा अगर नीति है, तो इसका प्रयोग उचित ही नहीं, अनुचित भी हो सकता है। धरने, हड़ताल, अनशन, असहयोग के ये हथियार आज सौ कारणों से प्रयुक्त किए ही जाते हैं। औचित्य-विचार के बिना भी किए जाते हैं—केवल उपाय के रूप में। जीन शार्प साहब का उत्तर यह था कि—प्रयोग किसी प्रयोजन से क्यों न हो, अहिंसा हिंसा से अच्छी है।

इस पर गांधी क्या कहते? नहीं जानता, पर गांधीजी के लिए सत्य के बिना अहिंसा अहिंसा ही नहीं हो सकती थी। अहिंसा उनके लिए नीति नहीं थी, जैसा कि अब कुछ लोग समझ रहे हैं। हम गांधीजी के निजी विश्वासों को मानें या न मानें, पर अहिंसा में अगर किसी सत्य जैसे अंतरंग का प्रकाश न हो, तो धर्म ही कैसे रहेगा? ❖

अहिंसा : आज का युग-धर्म

❑ आचार्य विनोबा भावे

अहिंसा एक सार्वभौम निष्ठा या दर्शन है। वह जीवनव्यापी होना चाहिए। समाज की वर्तमान आर्थिक-सामाजिक-राजकीय व्यवस्था ज्यों-की-त्यों रहेगी, तो अहिंसा के लिए उसमें गुंजाइश कैसे रहेगी? कुल व्यवस्था अहिंसा के सिद्धांत पर खड़ी की जानी चाहिए। हमें हिंसा की एक-एक शक्ति के सामने अहिंसा का विकल्प पेश करना पड़ेगा।

❑

[यह आलेख कांतिभाई शाह ने हमें भेजा। वे इसी साल काल-कवलित हो गए। कांति भाई शाह ने 'विनोबा साहित्य' (खंड एक से बीस) में से संकलित-संपादित कर यह आलेख **जैन भारती** के लिए खास तौर से तैयार किया है. —सं.]

प्राचीनकाल से ही मनुष्य अहिंसा का विचार करता आया है। अहिंसा क्या है, यह जब सोचा जाता है, तब मेरी श्रद्धा उसके व्यापक और गहरे अर्थ पर होती है। गीता में आत्मा का वर्णन आता है—**'न हंति, न हन्यते'**—आत्मा न मारता है, न मरता है—**'न धानयति'**—न मरवाता है। यह आत्मा का स्वभाव है। और, यही वर्णन अहिंसा पर लागू होता है। यही अहिंसा है। फिर जब इसका सामाजिक विचार बना, जब उसका एक विधि-निषेधयुक्त शास्त्र बनाया गया। लेकिन, हमारा मूल विचार यही है कि अहिंसा आत्मा के साथ जुड़ी है।

—'मैं कौन हूं'—यह एक सवाल है। हमारे पूर्वजों ने कह दिया—'मैं ब्रह्म हूं।'—यह जो व्यापक अनुभूति है, उसको 'वेदांत' कहते हैं। अगर मैं ब्रह्म हूं, तो मेरी कोशिश होनी चाहिए कि सबके साथ समान व्यवहार करूं। उसको 'अहिंसा' कहते हैं। अहिंसा एक आचरण-पद्धति है और वेदांत एक चिंतन-पद्धति है। वेदांत अर्थात् चिंतन क्या है—यह बताया और अहिंसा अर्थात् आचरण कैसे करना—यह बताया। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। आचरण होगा, उसकी बुनियाद वेदांत की रहेगी। और, वेदांत की बुनियाद पर मकान होगा, वह अहिंसा का होगा।

आजकल हम लोग अहिंसा का अर्थ यही समझते हैं कि 'हिंसा न करना'। परंतु, उसका इतना ही नकारात्मक अर्थ नहीं है। अहिंसा का अर्थ क्या है?—**'आत्मवत सर्वभूतेषु'**—सब पर उतना ही प्यार करो, जितना अपने पर करते हो। आत्मा का स्वभाव अहिंसक प्रेममय है। 'अहिंसा' शब्द इसलिए पसंद किया है कि वह आत्मस्वरूप है। आत्मा अकर्तृस्वरूप है—कुछ भी नहीं करना।

अकर्तृक होने के कारण अहिंसा शब्द पसंद किया, परंतु उसका सही अर्थ प्रेम ही है, सबके लिए पूर्ण प्रेम। वह प्रेमपंथ है। परंतु, प्रेम की विशेषता यह है कि वह 'करने को' कहता है और अहिंसा 'न करने के लिए' कहती है। तो यह प्रेमपंथ ही है, लेकिन इसको जाग्रत रखना चाहिए, अन्यथा वह किसी दूसरे रास्ते चला जाएगा।

गीता का सूत्र है कि सब लोग आत्मौपम्य से व्यवहार करें। आत्मौपम्य से सहज ही अहिंसा निष्पन्न होती है। जो आत्मा मुझमें है, वही आपमें है। इस तरह आत्मा की व्यापकता का जहां दर्शन होता है, वहीं अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है। गीता ने अहिंसा के बारे में कहा है कि आत्मा को सब भूतों में समान रूप से देखने पर परमेश्वर की व्यापक सत्ता का भान होता है। फिर आत्मा आत्मा की हिंसा कर ही नहीं सकता। हम अपनी हिंसा नहीं कर सकते। तब अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है।

फिर भी आत्मा का स्वरूप अकर्तृ होने के कारण अभावात्मक भाषा इस्तेमाल की गई। आत्मा अकर्ता है, वह कर्ता हो ही नहीं सकता। आत्मा का यह अकर्तृत्व स्वरूप खयाल में लेकर 'अहिंसा' शब्द बनाया गया है। अहिंसा आत्मा का स्वरूप ही है। यानी आत्मा हिंसा कर ही नहीं सकता।

आध्यात्मिक गुणों का विशुद्ध रूप नकारात्मक भाषा में रखने की ज्ञानियों की पद्धति है। जैसे अहिंसा, अद्वेष इत्यादि। नकारात्मक भाषा से निरहंकारता रहती है, अपने पास कर्तव्य नहीं आता। लेकिन, प्रयत्न विधायक ही करने होते हैं। दया-मैत्री चित्त में भर कर निरंतर बहने लगे और इतना होकर भी उसका भान न हो—इतना अहिंसा में और अद्वेष में आना है। जैसे-जैसे देहासक्ति कम होती जाती है, वैसे-वैसे आप-पर-भाव मिटता है और सहज निर्वैरता स्वभाव बन जाता है। आत्मा की शक्ति है, अहिंसा। हिंसा देह की शक्ति है। आत्मा की शक्ति देह की शक्ति से बढ़ कर है। जीवन में इतना तो साध लें कि किसी के चित्त को कभी न दुखाएं। किसी का कत्ल नहीं करना, इतना ही नहीं, किसी के चित्त को दुखाना नहीं। इसी को 'अहिंसा' नाम दिया है। अहिंसा टुकड़ों में काम नहीं करती। वह अखंड, एकरस है। वेदों ने उसे ही 'अदिति' नाम दिया है।

अहिंसा एक सार्वभौम निष्ठा या दर्शन है। दर्शन एकांगी नहीं होता, वह जीवनव्यापी होता है। इसलिए जीवन के सभी क्षेत्रों को व्यापने वाली अहिंसा की हमें जरूरत है। मानव में एक है आत्मा का अंश, एक है देह का अंश या यूं कहिए प्रकृति का अंश। ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। दोनों को मिला कर हमारा जीवन बना है। तो हमको आत्मा का भी समाधान करना होता है और देह का भी। इसमें से विसंगति पैदा होती है। जब देह आत्मा के लिए सर्वथा अनुरूप बन जाती है, तब विसंगति कम-से-कम होती है। देश के लिए भी यह लागू है। हिंदुस्तान की आत्मा अहिंसा को मानती है, जिसका आदिम प्रकाशन ऋषियों ने किया है और अंतिम प्रकाशन गांधीजी की वाणी में हुआ है। उस आत्मा की भूमिका पर हमें पहुंचना है।

हम अहिंसा का इतिहास देखें। ऋग्वेद के कुछ मंत्रों पर से मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य को खेती का शोध पहले-पहल भारत में लगा। उस शोध के कारण मांसाहार से छुटकारे का धर्म दृष्टिगोचर हुआ। तब हमारा पूर्वज, वह ऋषि नाचने लगा और कहने लगा—'धन्य यह पुण्यभूमि! इसने हमें हिंसा की जरूरत में से छुटकारा दिलाया।'—यह है अहिंसा के इतिहास का आरंभ।

इस तरह मनुष्य ने सर्वप्रथम मानव धर्म सीखा और उसे अहिंसा के तरीके से जीने का पता चला। मानव पहले शिकार करता था और जैसे दूसरे प्राणी रहते थे, वैसा रहता था। उसके लिए हिंसा अनिवार्य थी, जैसे जंगल के दूसरे प्राणियों के लिए अनिवार्य होती है। उससे छुटकारा पाने की तरकीब मानव को हिंदुस्तान में ही सबसे पहले सूझी। वह तरकीब थी, खेती करना। आज हमें यह मालूम नहीं कि खेती में इतना बड़ा आध्यात्मिक रहस्य छिपा है। किंतु, दो-चार दाने बोकर उसमें से सौ दाने पैदा करना और फिर अपनी इच्छा के अनुकूल जीवन निर्वाह करना, यह एक विशेष ही वस्तु

उस समय मानव को सूझी। तभी से हिंदुस्तान के लोगों को अहिंसक जीवन का मार्गदर्शन मिला और एक-एक कदम आगे बढ़ते-बढ़ते हिंदुस्तान का सर्वसाधारण-समाज अहिंसा की खोज में आगे बढ़ता गया।

खेती के बाद गो-दुग्ध की महिमा। गाय का दूध दुहने की कल्पना भी मनुष्य की एक खोज है। भली-बुरी जो भी है, वह मनुष्य की खोज है। एक प्राणी दूसरे प्राणी का दूध पीने की योजना करते हुए सृष्टि में कहीं नहीं दीखता। एक योनि दूसरी योनि का दूध—व्याघ्र योनि सिंह योनि का दूध या खरगोश की योनि का दूध पीए, यह योजना व्याघ्र ने नहीं की। उसने योजना की तो खरगोश को खा डालने की की। लेकिन, मानव ने दूध पीने की योजना की—गाय, भैंस, बकरी इत्यादि के दूध की। उसने यह भी जाना-माना कि हम उनका दूध पीएंगे तो हमारे लिए ये प्राणी माता-पिता के समान हो जाएंगे। जिस किसी को यह अक्ल सूझी कि गाय पर हम प्यार कर सकते हैं, उसको कुछ खिला सकते हैं और उसके स्तनों से हम दूध ले सकते हैं—उसने कितना बड़ा भारी शोध किया।

खेती और गो-दुग्ध आदि के प्रयोग अहिंसा की खोज की परिणति है। शिकार तथा मांसाहार से मुक्ति दिलाने वाले गो-रक्षा, गो-सेवा और कृषि के प्रति भारतीय जनता की एक विशेष भावना है। गाय को मानव-कुटुंब में दाखिल कर लेने और अंत तक एक कुटुंबी की तरह उसे निबाहने की कल्पना इस देश को सूझी, यह भी अहिंसा का एक बड़ा भारी प्रयोग है।

मांसाहार-मुक्ति—यह अहिंसा की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम है। मैं सब मानवों को प्रेम करूं और आस-पास के प्राणियों की कत्ल करता रहूं, यह बड़ी विसंगति है। करुणा और प्रेम की प्रक्रिया हृदय में आती है, तो वह प्राणी-सृष्टि की तरफ भी मुड़ती ही है। इसलिए हिंदुस्तान में जो मांसाहार-परित्याग के प्रयोग हुए, वह अहिंसा के इतिहास में हमारी एक विशेष देन है।

यह नहीं कि सारे हिंदुस्तानी शाकाहारी होते हैं, लेकिन यह विचार यहां का सर्वमान्य विचार है। मेरी श्रद्धा है कि मांसाहार-परित्याग अहिंसा के विकास के लिए बहुत मददगार होगा और उसके बिना मानवता में कसर रहेगी। इस दलील में कोई सार नहीं है कि कुछ मांसाहारी भी दयालु होते हैं और कुछ शाकाहारी भी क्रूर होते हैं। ऐसे लोग मिलते हैं, फिर भी यह दलील काम की नहीं है। अगर दुनिया में शांति चाहते हैं, तो प्राणी-आहार छोड़ना पड़ेगा। हम आपस में प्यार से रहना चाहें और उधर प्राणियों को खाते रहें, तो इससे शांति नहीं होगी। जब हम 'जय जगत' कहते हैं, तो उसमें प्राणियों का भी समावेश है।

सामुदायिक मांसाहार-मुक्ति का सर्वाधिक श्रेय शायद जैनों को है। जैन धर्म ने सिखाया कि—'मनुष्य की मानवता दूसरे प्राणियों की रक्षा करने में है। उन्हें अपना आहार बनाना गलत है।'—इसलिए अहिंसा का कम-से-कम अर्थ किया जाए तो वह है—मांसाहार-मुक्ति। और, जैनों ने उसका उत्तम पालन किया है। जैनों की कुल दुनिया के लिए यह बहुत बड़ी देन है। फिर वैष्णव, ब्राह्मण आदि ने वह विचार उठाया। आज हमारे देश में करोड़ों लोग पूर्ण मांसाहार-मुक्त हैं। और, जो मांसाहार करते हैं, वे भी उसे अच्छा मान कर नहीं करते। यह जैन-विचार की विजय है।

आज तो अब मांसाहार-मुक्ति की आवश्यकता यूनो ने भी मान्य की है। यूनो ने कहा—सब दुनिया को अनाज पहुंचाना है, तो मांसाहार छोड़ना होगा। हम प्राणियों को खाएं और प्राणी अनाज खाएं—इसमें अनाज का बहुत ज्यादा क्षय होता है। मांसाहार करने वालों को, शाकाहार करने वालों की अपेक्षा चार गुना ज्यादा जमीन चाहिए। इसलिए मांसाहार छोड़ना पड़ेगा, तब सब दुनिया की भूख मिटेगी। यह यूनो ने भी कहा। इसका अर्थ यह हुआ कि अहिंसा के लिए मांसाहार-मुक्ति का सिद्धांत मान्य हो गया।

यह हमने अहिंसा का इतिहास देखा। हिंसा की आवश्यकता में से छुटकारा पाने के लिए मानव जीवन के एक क्षेत्र में किया हुआ पुरुषार्थ का इतिहास देखा।

अब हम जीवन के एक दूसरे क्षेत्र में किए हुए मानव-पुरुषार्थ का इतिहास देखें।

अहिंसा का विकास किस तरह होता आया है—यह देखने लायक है। पहले मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगों के हमले से कैसे बचाव किया जाए?

राम का युग आया। ब्राह्मणों ने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी और यह निश्चय किया था कि हम स्वयं हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसों के आक्रमणों से बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय तो हिंसा करने वाले हैं ही, इन्हीं से राक्षसों का संहार करा डालना चाहिए। कांटे से कांटा निकाल डालना चाहिए। हम स्वत: दूर रहें। अत: विश्वामित्र ने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मण को ले जाकर उनके द्वारा राक्षसों का संहार करवाया। विश्वामित्र, वसिष्ठ जैसों को क्षत्रियों के बल पर अपनी रक्षा करा लेने में कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई।

परंतु, यदि राम के जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो? विश्वामित्र कहते है—'मैं भले ही मर जाऊं, पर हिंसा नहीं करूंगा।'—क्योंकि हिंसक बन कर हिंसा दूर करने का प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चय हो ही चुका था कि स्वयं अहिंसा नहीं छोड़ेंगे। यदि कोई क्षत्रिय नहीं मिला, तो अहिंसक व्यक्ति मर जाना पसंद करेंगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी।

अरण्यकांड में एक प्रसंग है। राम पूछते है—'ये ढेर किस चीज के हैं?'—ऋषि कहते हैं—'ये ब्राह्मणों की हड्डियों के ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणों ने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसों का प्रतिकार नहीं किया। वे मर मिटे। उन्हीं की हड्डियों के ये ढेर हैं।'—इस अहिंसा में ब्राह्मणों का त्याग तो था, परंतु साथ ही दूसरों से अपने संरक्षण की अपेक्षा भी वे रखते थे। ऐसी कमजोरी से अहिंसा पूर्णता को नहीं पहुंच सकती थी।

संतों ने आगे चल कर तीसरा प्रयोग किया। उन्होंने निश्चय किया—'हम अपने बचाव के लिए दूसरों की सहायता कदापि नहीं लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।'—संतों का यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस प्रयोग को उन्होंने पूर्णता तक पहुंचा दिया, परंतु रहा यह व्यक्तिगत ही। समाज पर हिंसक लोगों के हमले होते और समाज संतों से आकर पूछते कि—'अब क्या करें?'—तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। अहिंसा के साधनों से सामूहिक प्रयोग करने की उन्हें प्रेरणा नहीं हुई, ऐसा तो नहीं कह सकते, लेकिन उस समय की परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किए, परंतु ऐसे पृथक-पृथक किए गए प्रयोगों से ही शास्त्र की रचना होती है। सम्मिलित अनुभवों से शास्त्र बनता है।

संतों के प्रयोग के बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिल कर अहिंसात्मक साधनों से हिंसा का प्रतिकार करे। आज हिंदुस्तान में एक और चीज की खोज हुई और वह है—'सत्याग्रह।' खेती की खोज जैसी ही यह अहिंसा की दिशा में एक खोज है। जैसे प्राचीनकाल में खेती की खोज हुई और हम अहिंसक जीवन के लिए प्रस्तुत हो गए, वैसे ही अर्वाचीन काल में सामाजिक मसले 'सत्याग्रह' के द्वारा हल करने के तरीके की एक झलक हमारे हाथ आई है। हमें इसे विकसित करते रहना है। जिस तरह खेती से जीवन के अंतर्गत हिंसा से मुक्त होने के साधन की खोज तो हुई, लेकिन अभी भी लोग मांसाहार से पूर्ण निवृत्त नहीं हुए हैं। फिर भी खेती की खोज से एक मार्ग खुल गया है। वैसे ही 'सत्याग्रह' का मार्ग खुल गया है, उसका विकास करना बाकी है। खेती का विकास पांच हजार साल से होता आ रहा है, फिर भी वह बाकी है। इसलिए 'सत्याग्रह' के विकास के लिए भी हजारों वर्ष लगें, तो कोई आश्चर्य नहीं। किंतु, वह चीज हाथ आ गई है।

अहिंसा की आदिम खोज ऋषियों ने की थी और उसका अंतिम संशोधन गांधीजी ने किया। गांधीजी को भारत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का लाभ मिला। यहां जो अध्यात्म-संशोधन हुआ था, वह यदि न हुआ होता, तो समाज गांधीजी की बात सुनने को तैयार न होता। यहां की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के कारण ही लोगों ने

अहिंसा के विचार को स्वीकार किया। गांधी-विचार का बीज रोपने के लिए इस देश की आध्यात्मिक मनोभूमि तैयार थी।

गांधीजी ने कहा—हिंसा का प्रतिकार अहिंसा से करो, असत्य का प्रतिकार सत्य से करो। उन्होंने नि:शस्त्र प्रतिकार करना सिखाया। यों तो यह पुरानी बात है, कोई नई नहीं। यह तो हिंदुस्तान की संस्कृति का ही फूला-फला स्वरूप है। बुद्ध, महावीर और अनेक संतों ने हमें यही सिखाया। लेकिन, जब गांधीजी की जबान पर यह बात आई, तो उसका क्रांतिकारी अर्थ प्रकट हुआ, क्योंकि उसके लिए ऐतिहासिक भूमिका थी।

पहले के जमाने में शस्त्र थे, सबको शस्त्र रखने की छूट थी। लेकिन, भारत ने अहिंसा का एक प्रयोग किया कि शस्त्र केवल एक वर्ग के हाथ में रहे, बाकी सब लोग शस्त्र छोड़ दें। परिणाम यह हुआ कि अहिंसा का विचार भारत में पैठ गया। फिर भी 'शस्त्र द्वारा रक्षण' की बात तो कायम रही।

लेकिन, अंग्रेजों ने आकर एक बेजोड़ काम किया। अंग्रेजों ने शस्त्र छीन लिए और जनता को बिलकुल नि:शस्त्र बना दिया। ऐसी स्थिति में हिंदुस्तान के सामने एक बड़ा सवाल खड़ा हो गया कि या तो हमेशा के लिए अंग्रेजों का गुलाम बन कर रहे या फिर कोई नया अधिक शक्तिशाली शस्त्र खोज निकाले। अत: नि:शस्त्र मार्ग की खोज करने की ऐतिहासिक आवश्यकता पैदा हुई। इसी में से महात्मा गांधी आए। सारी दुनिया के दुखों का निवारण एक विशिष्ट प्रकार के प्रतिकार से हो सकता है—इसका दर्शन गांधीजी ने कराया। उनको जमाने की मांग का बल मिला। लोग उनके पीछे गए। वे युगपुरुष साबित हुए।

यह क्या हुआ? वैसे तो अहिंसा की बात अनेक संतपुरुषों ने बरसों से कही थी। लेकिन, वह संदेश उस जमाने के लिए अत्यंत जरूरी नहीं था। इसलिए वे सब संतपुरुष सनातन सिद्धांत पेश करने वाले धर्मपुरुष माने गए, गांधी की तरह युगपुरुष नहीं।

यह फर्क समझ लेना चाहिए। युगपुरुष और धर्मपुरुष। चैतन्य महाप्रभु ने भी अहिंसा की बात कही थी। लेकिन, वे धर्मपुरुष थे। जब जमाने की मांग और महापुरुष की वाणी का संयोग होता है, तब वह पुरुष युगपुरुष बन जाता है और लोक-क्रांति होती है।

हिंदुस्तान में जैनों, बौद्धों और ब्राह्मणों में अहिंसा तो थी, पर उसमें ताकत नहीं थी। अहिंसा की ताकत बनाई गांधीजी ने। उन्होंने अहिंसा को खाने-पीने के क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा, मरहम पट्टी लगाने या बीमार की सेवा करने तक ही अहिंसा की मर्यादा नहीं मानी, इसलिए उनकी अहिंसा में शौर्य दाखिल हुआ। शौर्य के लिए हाथ में तलवार लेने की जरूरत नहीं है। तलवार लेना तो डर का लक्षण है। हम प्रेम से, निर्भयता से आगे बढ़ें और मरने का मौका आए तो मरें, इस तरह की वृत्ति गांधीजी ने सिखाई। अहिंसा वीरों की होती है। उसके लिए शौर्य चाहिए।

जैनों ने भी अहिंसा का नाम लिया और गांधीजी ने भी लिया। लेकिन, हमने देखा कि गांधीजी की अहिंसा से जो शक्ति पैदा हुई, वह सांप्रदायिक अहिंसा से नहीं हुई। क्योंकि उन्होंने अहिंसा का अर्थ इतना संकुचित कर लिया कि उसमें खेती करना भी गौण माना गया! कहा, खेती में कीड़ों की हिंसा होती है! अहिंसक को व्यापार की मनाही नहीं है। खेती में पैदा हुए माल का व्यापार हो सकता है, परंतु खेती नहीं कर सकता! आचार्यों ने तो 'कृत, कारित, अनुमोदित', तीन प्रकार की हिंसा बताई है। कृषि में पैदा हुए अनाज का व्यापार करना उस हिंसा को दिया अनुमोदन ही तो है। जबकि गांधीजी ने सिखाया कि अहिंसा की शक्ति मानव-मानव के बीच का वैर भाव मिटाने में हम लगा दें। चित्त में से मत्सर, क्रोध, आदि को मिटा कर चित्तवृत्ति शुद्ध करें। मानवों से व्यवहार में ही हमारी अहिंसा की कसौटी होती है। फिर अहिंसा के साथ सत्य भी जुड़ा हुआ रहता है। अगर सत्य नहीं रहा, तो अहिंसा की भी रक्षा नहीं हो सकती। उपरांत, अहिंसा यानी विनाश के काम में हिस्सा न लेना, इतना ही नहीं। रचनात्मक कामों में, मानवता का विकास करने वाली सेवा में तन्मय हो जाना ही अहिंसा का मुख्य रूप है।

अहिंसा का व्यक्तिगत प्रयोग संतों ने किया ही था। गांधीजी ने सामाजिक तौर पर उसका प्रयोग किया और सामूहिक साधना की प्रक्रिया चलाई। गांधीजी ने अहिंसा को हमारे सामने एक वैज्ञानिक ढंग से रखा। उन्होंने कहा कि—नूतन मानव-जीवन की बुनियाद अहिंसा ही हो सकती है।—गांधीजी ने अहिंसा का क्रांतिकारी स्वरूप दुनिया के सामने प्रकट किया।

अहिंसा एक सार्वभौम निष्ठा या दर्शन है। वह जीवनव्यापी होना चाहिए। समाज की वर्तमान आर्थिक-सामाजिक-राजकीय व्यवस्था ज्यों-की-त्यों रहेगी, तो अहिंसा के लिए उसमें गुंजाइश कैसे रहेगी? कुल व्यवस्था अहिंसा के सिद्धांत पर खड़ी की जानी चाहिए। हमें हिंसा की एक-एक शक्ति के सामने अहिंसा का विकल्प पेश करना पड़ेगा।

गांधीजी ने इसके लिए प्रचंड पुरुषार्थ किया। अहिंसक समाज-रचना की बुनियाद डालने के लिए जिन-जिन तत्त्वों की आवश्यकता है, इन-इन तत्त्वों को समाज-जीवन में प्रस्थापित करने की गांधीजी ने कोशिश की। उन्होंने बहुत पहले ही यह बात समझ ली थी कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के कारण सत्ता और संपत्ति के केंद्रीकरण का रास्ता खुल जाएगा और केंद्रित सत्ता तथा केंद्रित संपत्ति सारी मानव जाति को अपना गुलाम बना लेगी। इसलिए उन्होंने 'ग्राम स्वराज्य' का उद्घोष किया था। उन्होंने कहा था कि भारत को अपना विकास यदि अहिंसा अर्थात् अशोषण और न्याय की दिशा में करना हो, तो बहुत सारी चीजों का विकेंद्रीकरण करना पड़ेगा। उसके बदले यदि केंद्रीकरण किया गया, तो उसे कायम रखने और उसकी रक्षा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाएगा। अहिंसक समाज-रचना तो स्वाश्रयी गांवों के आधार पर ही खड़ी की जा सकती है।

विकेंद्रीकरण और ग्राम स्वराज का यह विचार मानव जाति के लिए गांधीजी की अनोखी देन है। समस्त मानवीय गतिविधियों का केंद्रीकरण विज्ञान का एक अभिशाप है। गांधी हमारे युग की इस विभीषिका से छूटने के मानव जाति के प्रयास के प्रतीक स्वरूप थे। गांधी एक व्यक्ति नहीं, अपितु अहिंसा-तत्त्व के प्रतीक थे। उनके मार्फत अहिंसक समाज-रचना की एक अच्छी रूपरेखा मानव जाति को मिली है।

किसी भी काम को केंद्रित रीति से करना, अहिंसा की पद्धति नहीं। अहिंसा की योजना केंद्रित पद्धति से नहीं हो सकती। अतिकेंद्रित तरीके से काम करने जाएंगे, तो बड़े-बड़े यंत्र आएंगे। फिर उसके लिए फौज लगेगी। फिर 'महानेता' जैसा बोलेगा—वैसा होगा। यह अहिंसा की पद्धति नहीं। अहिंसा में विकेंद्रित और स्वयं-प्रज्ञ व्यवस्था होगी। आयोजन स्थानिक हो और ऊपर सिर्फ संयोजक ही रहे, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। अहिंसा की व्यवस्था ऐसी होगी। हमारी ग्राम संस्कृति यह अहिंसक समाज-रचना का ही एक प्रयोग है।

खादी-ग्रामोद्योग आदि रचनात्मक कार्यक्रम के पीछे भी गांधीजी का एक समग्र दर्शन था। उसमें केवल थोड़ी राहत पहुंचाने का या सेवा करने का ही उद्देश्य नहीं था, बल्कि अपने देश की परिस्थिति के अनुरूप नई अहिंसक अर्थव्यवस्था के गठन की दृष्टि थी। स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व खादी स्वराज्य की आकांक्षा का प्रतीक रूप थी। वह आजादी का गणवेश मानी जाती थी। अब वह ग्रामस्वराज का गणवेश बनना चाहिए। इसके लिए खादी का नवसंस्करण करना पड़ेगा। गांव-गांव की ग्रामसभा द्वारा खादी काम का आयोजन करना पड़ेगा। गांव की समग्र अर्थरचना खादी-ग्रामोद्योगमूलक करनी पड़ेगी। ऐसी ग्रामाभिमुख और ग्रामनिष्ठ योजना बनेगी, तभी खादी का अपना मंत्र साकार माना जाएगा। खादी एक महामंत्र है। गांधीजी तो कहते हुए थकते नहीं थे कि चरखा यानी अहिंसा और अहिंसा यानी चरखा। इस बात का मर्म जानना पड़ेगा। खादी का मूलभूत विचार क्या है, इसका चिंतन-मनन करना पड़ेगा।

अंततोगत्वा अहिंसा एक नया जीवन-दर्शन है, एक नई जीवन पद्धति है। जीवन के रोजमर्रा के व्यवहार में अहिंसा की कसौटी है। वाक्-संयम भी अहिंसा है। अनिंदा भी अहिंसा का एक अंग है। सबके मन को

रखना और साथ-साथ अपने सत्य को न छोड़ना—इसी में अहिंसा की कसौटी है। अस्तेय और अपरिग्रह के बिना अहिंसा तथा अहिंसक समाज-रचना टिक नहीं सकती। अस्तेय को चोरी न करने तक ही सीमित न मानें। अतिरिक्त तनख्वाह, अतिरिक्त मुनाफा, ब्याज, दलाली—आखिर यह सब चोरी ही तो है! हम अपना खुद का जीवन देखें, तो मालूम होगा कि हम कितनी चोरियों में हिस्सा ले रहे हैं! इसलिए अपना भोग उत्तरोत्तर कम करना चाहिए। यह भी समझ लें कि दुनिया में संग्रह भी बढ़ता रहे और अहिंसा भी चले—यह कभी संभव नहीं। दूसरों को जो चीज नहीं मिलती उसका मैं संग्रह करूं, यह गुनाह है। हमारे पास धन न होने मात्र से हम अपरिग्रही नहीं बन जाते। हमारे पास दूसरा भी संग्रह पड़ा होगा। पैसे नहीं, अन्य अनावश्यक चीजें होंगी। इस तरह हमें अपने जीवन का शोधन करते रहना चाहिए। अपरिग्रह एक बुनियादी विचार है और उस पर हमें अमल करना चाहिए। अस्तेय और अपरिग्रह—दोनों मिल कर अर्थशुचित्व पूर्ण होता है। जब तक हम शरीर श्रम से रोटी कमाने का व्रत नहीं लेते, तब तक शक्तिशाली अहिंसा प्रकट नहीं होगी। आज श्रम के बदले पैसे को महत्त्व दिया गया है—यही गलत काम हुआ। पैसे का मोह रखने वाला अहिंसा का साक्षात्कार नहीं कर सकेगा। हमें पैसे की आसक्ति से मुक्त होना चाहिए। इसी तरह जमीन आदि कुदरती साधन-संपत्ति की एवं अन्य भौतिक संपत्ति की व्यक्तिगत मालिकी भी छोड़े बिना अहिंसा शक्ति प्रकट नहीं होगी।

हम कहते हैं—**'अहिंसा परमो धर्मः'**—अहिंसा परम धर्म तो है ही, लेकिन साथ-साथ वह निकट का धर्म भी है। इसलिए हम सबकी कोशिश यह होनी चाहिए कि अपने निजी जीवन में अहिंसा कैसे लाएं। उसकी उपासना कहां तक और कितनी एकाग्रता से हम करते हैं, यही सोचने का विषय होना चाहिए। अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा न करना ही नहीं। अहिंसा की ओर केवल स्थूल दृष्टि से न देखा जाए। किसी को न मारना, वह शारीरिक अहिंसा का आरंभ मात्र है। कुविचार मात्र हिंसा का लक्षण है। असत्य भाषण भी हिंसा है। जल्दबाजी की वृत्ति हिंसा का ही एक रूप है। द्वेष की वृत्ति तो स्पष्ट ही हिंसा है। अतएव अहिंसा के बारे में अत्यंत सूक्ष्मता से विचार करके, उसका अमल करना होगा। हमें ज्ञानपूर्वक अहिंसक बनना होगा। अहिंसा सिर्फ बाहर की क्रिया नहीं, हृदय की निष्ठा है। अगर हम अधिक विचार-परायण बनें और क्रिया की मर्यादाओं को ठीक-ठीक समझें तो अहिंसा अधिक फैलेगी। तब हमारे कार्य का मूल्य बाह्य क्रिया पर निर्भर नहीं रहेगा, बल्कि उसका जो भाव-मूल्य होगा, उसमें शक्ति होगी।

आज अब अहिंसा के लिए मात्र श्रद्धा नहीं, पक्की निष्ठा लोगों के चित्त में पैदा करनी है। आज के जमाने में नूतन मानव-जीवन की बुनियाद अहिंसा ही हो सकती है। यकीन मानिए कि वास्तव में आज दुनिया अहिंसा की तरफ तेजी से आगे बढ़ रही है।

गांधीजी जब परलोक सिधारे, तो दुनियाभर के लोगों ने संवेदना प्रकट की। उसमें प्रसिद्ध अमेरिकन सेनापति मैकआर्थर भी था, जिसने अधिक-से-अधिक हिंसा शक्ति को बढ़ावा दिया था। उनने कहा कि—'अगर हम लोगों को मानवता की रक्षा करनी है, तो कभी-न-कभी सुलह और प्यार से मानवता की रक्षा करने की गांधी की बात सोचनी ही होगी।'

विज्ञान ने आज मनुष्य के सामने एक समस्या पैदा कर दी है, जो पहले नहीं थी। हिंसा के जो साधन आज मनुष्य के हाथ में आए हैं, वे इतने विनाशक हैं कि अब या तो अहिंसक समाज बनेगा या मानव-जाति ही खत्म हो जाएगी। यह समस्या आज विज्ञान ने मनुष्य के सामने खड़ी कर दी है। मेरी श्रद्धा है कि ये अणु-अस्त्र मनुष्य को अहिंसा की ओर ले जाएंगे, नहीं तो मानव जाति खत्म हो जाएगी। ईश्वर अगर संहार नहीं चाहता, तो अहिंसक समाज-रचना अनिवार्य है। इसलिए मुझे विश्वास है कि दुनिया आज अहिंसा की तरफ तेजी से आगे बढ़ रही है। हिंसा आज बीते जमाने की चीज हो गई है और अहिंसा की बात आज के जमाने के बिल्कुल अनुकूल है।

आज का युग विज्ञान का युग कहलाता है। अगर हम विज्ञान की प्रगति को निरंकुश मौका देना चाहते हैं और उसकी गति रोकना नहीं चाहते, तो हमें विज्ञान के साथ अहिंसा का संबंध जोड़ना होगा। आज मनुष्य के सामने है—विज्ञान + हिंसा = सर्वनाश, विज्ञान + अहिंसा = सर्वोदय।

विज्ञान के साथ अब हिंसा नहीं चलेगी। अगर विज्ञान के साथ यदि हिंसा जुड़ी, तो मानव जाति का खात्मा होगा। इसलिए अहिंसा ही आज तरणोपाय है।

आज दुनिया एक होने जा रही है, मानव-मानव नजदीक आ रहे हैं। विज्ञान ने आज मनुष्य का दिमाग बहुत बड़ा बना दिया है। जब दिमाग इतना बड़ा हो गया है, तब दिल छोटा रहेगा, तो मनुष्य के जीवन में विसंवाद खड़ा होगा। व्यापक दिमाग के साथ आज व्यापक दिल चाहिए। ऐसे विशाल दिल के साथ ही हम विज्ञान युग में जीने के लायक बन सकेंगे। जब मनुष्य शस्त्रास्त्रों का परित्याग कर परस्पर प्रेम और सहयोग से दूसरों के लिए जीना सीखेगा, आत्मौपम्य वृत्ति से सबके साथ व्यवहार करेगा, तब उसका बेड़ा पार होगा। बाइबिल पढ़ कर जो काम नहीं हुआ, अनेक धर्मोपदेशकों के व्याख्यान सुन कर जो काम नहीं हुआ, वह आज अब विज्ञान युग ही कर देगा। मनुष्य को बुद्धि आएगी कि आखिर हिंसा के परित्याग में ही मानवता और मानव समाज का विकास है, कल्याण है। अहिंसा के लिए आज विश्व-शक्ति अनुकूल है, यह मैं स्पष्ट देख रहा हूं। अहिंसा आज का युग-धर्म है। ❖

आर्थिक हिंसा

इस्लाम में आर्थिक हिंसा के दो पहलू उभर कर सामने आते हैं—

1. इस्लाम धन कमाने के हर तरीके को, जिसमें घमंड और धोखा हो, अवैध ठहराता है। इसी तरह शोषण द्वारा कमाए हुए धन को भी अवैध ठहराता है। अर्थात् धन कमाने के वे तरीके जो इस्लाम की नजर में अवैध हैं और वे तरीके जिनमें शोषण की मिलावट हो, इस्लाम की नजर में आर्थिक हिंसा के खाने में आते हैं।
2. इस्लाम की नजर में आर्थिक हिंसा का दूसरा पहलू माल को रोके रखना है और उसमें से उन लोगों के हक अदा न करना है, जिनके हक इस्लाम ने हर धनवान के माल में निश्चित किए हैं। यदि कोई व्यक्ति इन अधिकारों को, जो अनिवार्य हैं, अदा नहीं करता और माल में कंजूसी करता है, तो वह भी इस्लाम की नजर में कठोर यातना व दंड का हकदार है। कुरआन में कहा है कि ऐसे लोगों का माल कियामत के दिन जमा किया जाएगा और उससे उन्हें दागा जाएगा। फारसी के प्रसिद्ध कवि शेख सादी ने इस बात को अपने एक शेर में इस प्रकार व्यक्त किया है—**बखील अज बुवद जाहिद बहरो बर/बहिश्ती न बाशद बहुक्म खबर** (कंजूस आदमी चाहे धरती व दरिया में उपासना करता रहे, लेकिन हदीस का फैसला है कि उसको जन्नत नहीं मिलेगी)।

—प्रो. अख्तरुल वासे

आध्यात्मिक और सामाजिक संदर्भ में अहिंसा

❑ मुनि धनंजयकुमार

आज मनुष्य हिंसा की समस्या से आक्रांत है, व्यथित है, चिंतित है। वह चाहता है कि हिंसा घटे, अपराध मिटे, अहिंसा का विकास हो, सर्वत्र शांति का साम्राज्य हो। यह चाह तभी सफल हो सकती है, जब अहिंसा ग्रंथों और पंथों से निकल कर जीवन-व्यवहार में आए।

❑

जीवन सबको प्रिय है—**सव्वेसिं जीवियं पियं**[1]—भगवान महावीर के इस वचन में शाश्वत सत्य का उद्‌गान है। सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता—**सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।**[2] जीवन की आकांक्षा और मरण की अनाकांक्षा—यह प्राणी जगत की मौलिक मनोवृत्ति है। प्रत्येक प्राणी में जिजीविषा है, जीने की इच्छा और मौत का भय है। संस्कृत भाषा में एक मार्मिक पद्य है—

अमेध्ये मध्यकीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
तुल्यास्ति जीविताकांक्षा, तुल्यं मृत्योर्भयं द्वयोः।।

अकूरड़ी के मध्य उत्पन्न कीड़ा है या देवलोक में उत्पन्न इंद्र—इन दोनों में जीवन की आकांक्षा समान है और मृत्यु का भय भी।

जीवन और मरण प्रकृति का नियम है। जो जन्म लेता है, वह एक दिन मौत का आलिंगन भी करता है। जन्म के साथ ही जीवन का एक-एक क्षण कम होता चला जाता है। जीवन का कोई भी क्षण ऐसा नहीं है, जिसमें मौत का क्षण अंतर्हित नहीं है। मृत्यु का कोई भी क्षण ऐसा नहीं है, जो जीवन से अनुस्यूत नहीं है। फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि व्यक्ति जीवन के क्षण-क्षण को तो देखता है, मौत के क्षण को नहीं देखता। जबकि जो जीवन का क्षण है, वही मौत का क्षण है और जो मौत का क्षण है, वही जीवन का क्षण है। जीवन के क्षण और मौत के क्षण के मध्य कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं है। वस्तु-सत्य यह है कि सामान्यतः व्यक्ति जीवन के क्षण को देखता है, मृत्यु के क्षण को नहीं देखता। मौत के अंतिम क्षण का साक्षात्कार भले कर लेता हो, पर जीवन के अंतिम क्षण के प्रति जागरूक नहीं होता।

शरीर का निर्माण होता है और शरीर का विध्वंस भी होता है। शरीर के निर्माण और विध्वंस का स्रष्टा और द्रष्टा है—चेतन। उसका अस्तित्व कभी विलुप्त नहीं होता। चैतन्य ध्रुव है, शाश्वत है। शरीर अशाश्वत है, उत्पाद विनाश-धर्मा है।

जन्म का अर्थ है—चेतना का अपने अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए शरीर का निर्माण। जीवन का अर्थ है—शरीर में चेतना की अवस्थिति और मरण का अर्थ है—चेतना की अवस्थित शरीर से विच्युति।

नए शरीर के निर्माण, अवस्थान और अवसान में कर्म की भी प्रमुख भूमिका रहती है।

जीवन का आदि बिंदु है—जन्म और जीवन का अंतिम बिंदु है—मरण। जीने और मरने के साथ हिंसा और अहिंसा का संबंध नहीं है। व्यक्ति जन्म लेता है, जीता है, वह अहिंसा नहीं है। व्यक्ति मरता है, वह हिंसा नहीं है। हिंसा और अहिंसा का संबंध मारने और न मारने के साथ है। आचार्यश्री भिक्षु का बहुत मननीय पद है—

जीव जीवै ते दया नहीं, मरै ते हिंसा मत जाण।
मारण वाला नै हिंसा कही, नहीं मारे ते दया गुणखांण।।[3]

भगवान महावीर ने एक महाव्रती मुनि के लिए निर्देश दिया—निर्ग्रंथ मुनि घोर प्राणवध का वर्जन करते हैं—**तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं।**[4]

इसका अर्थ है कि हिंसा किसी को मारने का संकल्प है और अहिंसा किसी को न मारने का संकल्प है।

जीवन और अहिंसा

अनेक बार प्रश्न उभरता है कि क्या 'जीवन और अहिंसा' तथा 'जीवन और हिंसा' के मध्य कोई अंतर्संबंध है? क्या अहिंसा से जीवन-यात्रा का निर्वाह हो सकता है? क्या हिंसा के बिना जीवन चल सकता है? हिंसा जीवन की अनिवार्यता है, विवशता है। हिंसा-मुक्त जीवन की कल्पना जितनी सहज और सुंदर है, क्या उसकी क्रियान्विति उतनी ही कठिन और दुष्कर नहीं है? मनुष्य की कितनी प्रवृत्तियां ऐसी हैं, जिनमें हिंसा नहीं है, जीवों का हनन नहीं है?

यह भी कहा गया कि—जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य है—**'जीवो जीवस्य जीवनम्'**—जीव जीव का जीवन है। क्या इस स्थिति में प्राणी जीव-हिंसा से विरत हो सकता है? जैन परंपरा में माना गया है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति—इन सबमें जीव हैं। आज यह तथ्य विज्ञान सम्मत भी हो चुका है। क्या इनके बिना जीवन चल सकता है? एक व्यक्ति को रहने के लिए मकान चाहिए, जिससे कि वह सर्दी, गर्मी और वर्षा में सुरक्षित रह सके। मकान के निर्माण में कितनी हिंसा होती है? व्यक्ति को तन के ढकने के लिए वस्त्र चाहिए। क्या वह हिंसा से निष्पन्न नहीं होता? मनुष्य को भूख लगती है, प्यास सताती है। क्या भूख और प्यास के शमन के लिए जीव-हिंसा अपरिहार्य नहीं है?

रोटी, कपड़ा, मकान—ये जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं मानी गई हैं। इनकी उपलब्धि में जीव-हिंसा का प्रसंग बना रहता है। शायद इसीलिए मनुस्मृति में गृहस्थ जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों को वध-स्थान माना गया है—

पंच शूना गृहस्थस्य, चुल्ली पेशण्युपस्करः।
कंडनी चोपकुंभश्च, वध्यन्ते यास्तु वाहयन्।।[5]

महात्मा गांधी के विचारों में भी इसी सत्य की प्रतिध्वनि है—'मानवों में जीवन संचार किसी न किसी की हिंसा से होता है। इसलिए सर्वोपरि धर्म की परिभाषा एक नकारात्मक कार्य अहिंसा से की गई है। यह शब्द संहार की संकड़ी में बंधा हुआ है। दूसरे शब्दों में यह कि शरीर में जीवन-संचार के लिए हिंसा स्वाभाविक रूप से आवश्यक है। इसी कारण अहिंसा का पुजारी सदैव प्रार्थना करता है कि उसे शरीर के बंधन से मुक्ति प्राप्त हो।'[6]

अहिंसा : आध्यात्मिक संदर्भ

जन्म एक नियति है और मृत्यु भी एक नियति है। व्यक्ति जन्म और मृत्यु की नियति से बंधा हुआ है।

क्या जन्म का सूत्र उसके हाथ में है? क्या मृत्यु का सूत्र उसके हाथ में है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रति-प्रश्न में छिपा है कि क्या जीवन का सूत्र उसके हाथ में है? यदि जीवन का सूत्र उसके हाथ में है, तो जन्म और मृत्यु का सूत्र भी उसके हाथ में आ सकता है। यदि जीवन का सूत्र उसके हाथ में नहीं है, तो वह कभी अपनी नियति का नियंता नहीं हो सकता। अपनी नियति का नियंता वही हो सकता है—जिसने अपनी मुट्ठी में जीवन के सूत्र थाम रखे हैं। अपनी मुट्ठी में जीवन के सूत्रों को वही बांधे रख सकता है—जिसने अहिंसा, अनुकंपा, दया और संयम का मूल्यांकन किया है। जिसकी चेतना अहिंसा, अनुकंपा, दया और संयम की भावना से अनुप्राणित रही है।

अहिंसा और संयम

अहिंसा, संयम, दया, अभयदान—ये शब्द प्रथम द्रष्ट्या भिन्नार्थक प्रतीत होते हैं, किंतु हम गहराई में जाएं—इन शब्दों की अर्थात्मा तक पहुंचें, तो प्रश्न उभरेगा कि इन शब्दों के तात्पर्य में भेद का सूत्र कहां है? भगवान महावीर ने अहिंसा की परिभाषा की—**अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।**[7]—अहिंसा है सर्व भूतों/प्राणियों के प्रति संयम।

भगवान महावीर की वाणी में उपलब्ध अहिंसा की यह परिभाषा अहिंसा और संयम को एक आसन पर प्रतिष्ठित करती है। इस परिभाषा का संदेश है—जहां अहिंसा है, वहां संयम है, जहां संयम है—वहां अहिंसा है। संयम के बिना अहिंसा की और अहिंसा के बिना संयम की साधना नहीं की जा सकती।

अहिंसा और अभयदान

अहिंसा और अभयदान में भी इसी एकात्मकता का दर्शन होता है। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यश्री हेमचंद्रजी ने अभयदान की परिभाषा इन शब्दों में की है—

भवत्यभयदानं तु, जीवानां वधवर्जनम्।
मनोवाक्कायकरणैः, कृतकारितानुमतैः।।

मन, वचन और काया से जीवों का वध न करना, न कराना, न उसका अनुमोदन करना—इसका नाम है अभयदान।

आचार्यश्री भिक्षु ने अभयदान की इसी परिभाषा का समर्थन करते हुए इसे 'जिन' द्वारा प्ररूपित माना है और कहा है—

छह काय मारण रा त्याग ए,
कोई पचखै आण वैराग ए।
ए अभयदान कह्यो जिनराय ए,
धर्मदान में मिलियो आय ए।।[8]

किसी व्यक्ति ने वैराग्यपूर्वक छह काय के जीवों को मारने का त्याग किया, यह अभयदान है, धर्मदान है।

पृथ्वीकाय, अपकाय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये जीवों के छह निकाय हैं। इन छह जीव निकायों को न मारने का संकल्प अभयदान है। अभयदान की इस परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जहां अभयदान हैं, वहां अहिंसा है। जहां अहिंसा है, वहां अभयदान है।

महात्मा गांधी के विचारों में आचार्य हेमचंद्र और आचार्यश्री भिक्षु की विचार-सरणि का समर्थन सूत्र उपलब्ध होता है—**'कोई पण सजीव वस्तु प्रत्ये वैर न होय, तेनु नाम शुद्ध अहिंसा। आंथी जीव, जंतु, पशु क्षुद्र प्राणी मात्र ने अभयदान मले छै।'**[9]

अहिंसा और अभयदान की एकात्मकता के आधार पर क्या इस व्याप्ति की संरचना नहीं हो सकती? जहां अभय है, वहां अहिंसा है, जहां भय है—वहां हिंसा है?

अहिंसा और दया

आचार्यश्री भिक्षु ने अहिंसा और दया को एकार्थक माना है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की कि दया की करणी में हिंसा नहीं है और हिंसा की करणी में दया नहीं है। हिंसा और दया में वही दूरी है, जो दूरी धूप और छांह में है। जैसे धूप-छांह का कभी मिलन नहीं होता वैसे ही दया और हिंसा का कभी मिलन नहीं होता।[10]

सर्व प्राणातिपात का त्याग अहिंसा महाव्रत है। इसमें दया अंतर्हित है।[11] प्राणी को भयाकुल न करना, संतप्त न करना, किसी का प्राण वियोजन न करना—यह अभयदान है, दया है, अहिंसा है। आचार्यश्री भिक्षु ने अभयदान को अहिंसा और दया का दूसरा नाम माना है।[12] जो अभयदान को नहीं पहचानता, वह दया को भी नहीं पहचानता।[13]

संयम, अहिंसा, दया, अभयदान—अध्यात्म की भूमिका पर ये एकार्थक जैसे बन जाते हैं। इनमें शब्द-भेद तो दिखाई देता है, पर अर्थ-भेद का दर्शन दुर्लभ हो जाता है।

अहिंसा और वीतरागता

एक जैन मुनि पांच महाव्रत को स्वीकार करता है। अहिंसा महाव्रत का पूर्णतः पालन तभी संभव होता है, जब वह सतत अप्रमत्त और संयत रहता है। उसके हृदय में प्राणिमात्र के कल्याण की शुभ-भावनाएं स्पंदित होती रहती हैं, उसका चित्त सब जीवों के प्रति मैत्री और अभय की भावना से अनुप्राणित होता है। **'तिन्नाणं तारयणं'**—यह उसका लक्ष्य-सूत्र होता है। इसीलिए उसके अंतःकरण में करुणा, दया, अभयदान और संयम का अक्षय स्रोत सतत प्रवाहित रहता है। वह न किसी तरह के असंयम मय जीवन की इच्छा करता है, न किसी तरह के असंयम मय मरण की आकांक्षा करता है। वह सबके आध्यात्मिक उन्नयन की कामना करता है।

इसी आध्यात्मिक भूमिका पर आचार्यश्री भिक्षु ने एक गंभीर संबोध दिया था—'असंजती जीव के जीने की इच्छा करना—राग, उसके मरने की इच्छा करना—द्वेष और उसके संसार समुद्र से तरने की इच्छा करना—वीतराग देव का धर्म है।'[14]

जहां राग-द्वेष है—वहां वीतरागता नहीं है, जहां वीतरागता है—वहां राग-द्वेष नहीं है। जहां वीतरागता है और राग-द्वेष भी नहीं है—वहां अहिंसा है।

मूल्य अहिंसा व्रत का

अहिंसा-व्रती मुनि के जीवन का मूल्य कितना होता है, इसका एक अपूर्व संदर्भ भगवती सूत्र में उपलब्ध है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—'भंते! पुरुष पुरुष का हनन करता हुआ क्या पुरुष का हनन करता है या नो पुरुष का हनन करता है?'

—'गौतम! पुरुष का भी हनन करता है, नो पुरुष का भी हनन करता है।'

गौतम ने दूसरा प्रश्न पूछा—'भंते! पुरुष ऋषि का हनन करता हुआ, ऋषि का हनन करता है? नो ऋषि का हनन करता है?'

—'गौतम! ऋषि का भी हनन करता है, नो ऋषि का भी हनन करता है।'

—'भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है कि ऋषि का भी हनन करता है, नो ऋषि का भी हनन करता है?'

—'गौतम! वह इस प्रकार सोचता है कि मैं एक ऋषि का हनन करता हूं, किंतु वह एक ऋषि का हनन करता हुआ, अनंत जीवों का हनन करता है। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है कि—वह ऋषि का भी हनन करता है, नो ऋषि का भी हनन करता है।'[15]

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस संदर्भ में अपना समीक्षात्मक मंतव्य प्रस्तुत किया है—एक पुरुष का हनन करने वाला अनेक जीवों का हनन करता है, यह बात बुद्धिगम्य है। एक जीव के आश्रित अनेक जीव होते हैं, इसलिए एक जीव का हनन करने वाला अनेक जीवों का हनन कर सकता है। अनंत जीव एक जीव के आश्रित नहीं होते, इसलिए यह सिद्धांत बुद्धि से अगम्य प्रतीत हो रहा है।[16]

वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इसे बुद्धिगम्य बनाने के लिए दो हेतु प्रस्तुत किए हैं, उनमें से एक हेतु यह है—ऋषि अनंत जीवों के वध से विरत होता है। मृत्यु के पश्चात् वह अविरत हो जाता है, अनंत जीवों के हनन के प्रति उसकी विरति नहीं होती, इसलिए ऋषि का हंता अनंत जीवों का हंता होता है।[17]

इस सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि एक अहिंसा-व्रती संत अनंत जीवों का अभयदाता होता है। जीव-हिंसा न करने का उसका संकल्प अनंत जीवों के लिए त्राण और

प्राण बना रहता है। अहिंसाव्रती ऋषि का हंता केवल ऋषि का ही हनन नहीं करता, अनंत जीवों का हनन भी करता है। इसका तात्पर्य है कि अनंत जीव उसमें अपना मंगल देखते हैं, प्राण और त्राण का अनुभव करते हैं। एक अहिंसाव्रती के हनन से अनंत जीवों को अभय देने वाला, मंगल-पावन भावनाएं करने वाला, प्राण और त्राण बनने वाला जाज्वल्यमान नक्षत्र अस्त हो जाता है। अतः एक अहिंसाव्रती साधक का जीवन कितना मूल्यवान है, कितना हितकारी है, प्राणिमात्र के लिए कितना अभय, आश्वास और विश्वास का स्थान है—यह उपर्युक्त मंतव्यों से स्पष्ट है। अध्यात्म की इस गहन-गंभीर भूमिका पर हम अहिंसा का मूल्यांकन करते हैं तो '**अहिंसा सव्व भूयखेमंकरी**—अहिंसा सब जीवों का कल्याण करने वाली है'—यह सूक्त बहुत सार्थक और सच प्रतीत होता है।

अहिंसा : सामाजिक संदर्भ

अध्यात्म की भूमिका पर अवस्थित व्यक्ति अहिंसा की गहराई का जितना स्पर्श कर पाता है, समाज की भूमिका पर जीने वाले व्यक्ति के लिए यह उतना सुलभ नहीं है। एक गृहस्थ अथवा सामाजिक प्राणी की अपनी इच्छाएं/आकांक्षाएं होती हैं, आवश्यकताएं/प्राथमिकताएं हैं, बंधन/विवशताएं हैं। अनेक इच्छाओं/आकांक्षाओं का संयम उसके लिए संभव नहीं होता। अनेक आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं की वह उपेक्षा नहीं कर सकता, अनेक बंधनों और विवशताओं से मुक्त नहीं हो पाता। क्या इस स्थिति में हिंसा-मुक्त समाज की बात दिवा-स्वप्न जैसी नहीं है? क्या हिंसा-मुक्त समाज की कल्पना अतिकल्पना नहीं है? जहां जीवन-यात्रा का निर्वाह, जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी हिंसा के बिना संभव नहीं है—वहां अहिंसा की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है? अनेक बार अहिंसक समाज रचना की चर्चा होती है, उसके लिए संगोष्ठियां और अभियान चलते हैं, पर क्या इनमें अहिंसक समाज रचना संभव प्रतीत होती है? या वह आकाश कुसुम जैसी कल्पना है? इस प्रश्न का समाधान पाने के लिए हिंसा के स्वरूप को समझना जरूरी है।

जैन दृष्टि से हिंसा को तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। ये तीन कोटियां हैं—

1. **आरंभजा हिंसा**—आजीविका के लिए खेती आदि में होने वाली हिंसा, व्यावसायिक हिंसा।
2. **प्रतिरोधजा हिंसा**—आक्रांता से अपनी सुरक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा।
3. **संकल्पजा हिंसा**—दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए की जाने वाली हिंसा, साम्राज्यवादी और भोगवादी मनोवृत्ति से की जाने वाली हिंसा।[18]

आरंभजा हिंसा जीवन-यापन के लिए अपरिहार्य है। इसलिए एक गृहस्थ/सामाजिक प्राणी उससे-कैसे बच सकता है? इस हिंसा की वर्जना उसके लिए संभव नहीं होती। वह उसका सीमाकरण अथवा अल्पीकरण अवश्य कर सकता है। प्रतिरोधजा हिंसा सुरक्षा से जुड़ी हुई है। व्यक्ति अपने जीवन की, स्वत्व की सुरक्षा करना चाहता है। जब भी जीवन और स्वत्व पर आक्रमण होता है—वह प्रतिरोध करता है, प्रत्याक्रमण करता है, अपना बचाव करता है।

संकल्पजा हिंसा अनावश्यक और अवांछनीय है। वर्तमान युग में हिंसा की भयावहता ने जिस प्रकार समाज को आक्रांत किया है, उसका मूल कारण संकल्पजा हिंसा में खोजा जा सकता है। यदि संकल्पजा हिंसा नहीं होती तो समस्या के बीज के अंकुरित होकर वट-वृक्ष बनने का अवसर नहीं मिलता। आज समाज में अपराध, आतंक, अराजकता की जो स्थिति है—वह संकल्पजा हिंसा की निष्पत्ति है। संकल्पजा हिंसा प्रबल है, इसीलिए आक्रमण और प्रत्याक्रमण की घटनाओं से समाचार-पत्र भरे हुए दिखाई देते हैं। इसी हिंसा से वैर और प्रतिशोध की आग को नित नया ईंधन मिलता है, वैर और प्रतिशोध की भट्टी जलती रहती है, उद्दीप्त होती

रहती है। इस आग की आंच से प्रभावित हर व्यक्ति स्वयं को संतप्त और असुरक्षित अनुभव करता है। उसके मन में यह आशंका बनी रहती है कि न जाने किस दिन यह आग उसके अस्तित्व को लील जाए।

अहिंसक समाज रचना का तात्पर्य है—अपराध-मुक्त समाज, भय, असुरक्षा और आतंक से मुक्त समाज। इस समाज का निर्माण तभी संभव है, जब मनुष्य संकल्पजा हिंसा से मुक्त बने।

हिंसा के आंतरिक और बाह्य कारण

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने सात वर्षीय (5 दिसंबर, सन् 2001 से 14 दिसंबर 2008) अहिंसा यात्रा की। इस यात्रा में वे अनेक प्रांतों के हजारों गांवों में गए। उन्होंने जन-जीवन की समस्याओं को निकटता से देखा, उनका विश्लेषण किया और उनके समाधान-सूत्र भी प्रस्तुत किए। अहिंसा यात्रा का एक प्रमुख उद्देश्य रहा—हिंसा के कारणों की खोज। हिंसा के कारणों को खोजे बिना, उनका निराकरण किए बिना अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। जब तक हिंसा के कारण समाप्त नहीं होंगे, अहिंसा तेजस्वी नहीं बनेगी। अहिंसा की तेजस्विता और व्यापकता के लिए हिंसा की जड़ों का उन्मूलन जरूरी है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में हिंसा के पंद्रह कारणों का उल्लेख है— 1. क्रोध, 2. मान, 3. माया, 4. लोभ, 5. हास्य, 6. वैर, 7. रति, 8. अरति, 9. शोक, 10. भोग, 11. अर्थ, 12. काम, 13. धर्म, 14. पराधीनता और 15. मोह। इस विवरण के साथ यह भी संकेत किया गया है कि हिंसा के कारण इतने ही नहीं हैं। वे सैकड़ों हैं।[19]

भगवान महावीर की वाणी का एक प्रतिनिधि ग्रंथ है—आयारो। उसमें प्राण-वध के अनेक हेतु बतलाए गए हैं। कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं। कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, सींग, विषाण, हस्तिदंत, दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति प्रयोजन वश प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति—इन्होंने मेरे स्वजन वर्ग की हिंसा की थी, यह स्मृति कर प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति—ये मेरे स्वजन वर्ग की हिंसा कर रहे हैं, यह सोचकर प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति—ये मेरे स्वजन वर्ग की हिंसा करेंगे, इस संभावना से प्राणियों का वध कर रहे हैं।[20]

वर्तमान युग में हिंसा के कुछ नए प्रकल्प सामने आए हैं। बीजू, बीवर आदि जीवों का प्रसाधन-सामग्री के लिए वध किया जाता है। मेढक, चूहे आदि जानवरों का मानवीय स्वास्थ्य से संबंधित वैज्ञानिक शोधों एवं परीक्षणों के लिए वध होता है। बकरी, भैंस आदि पशुओं का यांत्रिक बूचड़खानों में निर्ममता से वध होता है। पशु-पक्षियों का मांस खाने के लिए शिकार की प्रवृत्ति भी रही ही है। **न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**—मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं है। क्या आज इस कथन का दुरुपयोग नहीं हो रहा है? इस कथन का आधार यह है कि—मनुष्य को जैसा विकसित मस्तिष्क और नाड़ी-तंत्र मिला है, वैसा किसी अन्य प्राणी को उपलब्ध नहीं है। किंतु, आज श्रेष्ठता को इस रूप में व्याख्यायित किया जा रहा है कि मनुष्य को बचाने के लिए कुछ भी किया जा सकता है। श्रेष्ठता की इस गलत अवधारणा और व्याख्या ने हिंसा की उच्छृंखलता को बढ़ाया है। क्या मनुष्य निरपराध प्राणियों का निर्ममतापूर्वक वध करते हुए संकोच का अनुभव करता है? क्या संवेदनशीलता और करुणा का रस सूखता सा प्रतीत नहीं हो रहा है? क्या उसके क्रूरतापूर्ण कृत्य इस संसार के अभिनव सौंदर्य पर कालिख पोतते से परिलक्षित नहीं हो रहे हैं? क्या मात्र मनुष्य-जीवन के लिए इतने निरपराध प्राणियों का वध उचित है? क्या यह क्रूरता जीवन में सुख, संतुष्टि और शांति की सृष्टि करेगी?

ऐसी मानवीय क्रूरता और संवेदनहीनता मूक पशु-पक्षियों तक ही सीमित नहीं है। स्वार्थांध और लोभांध मनुष्य ने अनेक स्थलों पर क्रूरता की पराकाष्ठा का स्पर्श किया है। पशु में तो विवेक-चेतना विकसित नहीं है, उसमें करणीय-अकरणीय का बोध भी प्रवर नहीं है,

पर मनुष्य में विवेक-चेतना है, उसे करणीय-अकरणीय का बोध और विवेक प्राप्त है, फिर भी वह अकरणीय कार्य करने में क्यों नहीं सकुचाता? क्या उसकी विवेक-चेतना सुप्त हो गई है? क्या पाशविक चेतना अधिक सक्रिय हो गई है? क्या ये कृत्य उसकी पाशविक चेतना के ही परिलक्षण नहीं हैं?

दहेज की बलिवेदी पर कितनी युवतियों का जीवन झुलस जाता है। कन्या भ्रूण-हत्या से असंख्य चेतनाओं के चिराग जलने से पूर्व ही बुझ जाते हैं। अरब देशों में धनी मनुष्य मनोरंजन के लिए ऊंट-दौड़ का आयोजन करते हैं और ऊंटों पर गरीब देशों/परिवारों से खरीदे हुए बच्चों को बिठाया जाता है। जब ऊंट दौड़ते हैं, बच्चे भय से चिल्लाते हैं। अनेक बच्चे ऊंटों के पैरों तले कुचल दिए जाते हैं। मृत्यु का ग्रास बनते शिशुओं की करुण चीत्कारें उनके आह्लाद का कारण बनती हैं। मनुष्य धन और संपत्ति के लिए अपने स्वजनों की हत्या कर देता है। धन के लिए बच्चों आदि का अपहरण किया जाता है, हत्या भी कर दी जाती है। सांप्रदायिक और जातीय विद्वेष के कारण कितने दंगे होते हैं और कितने निरपराध लोगों का जीवन-दीप बुझ जाता है, कितने लोग निराश्रित और असहाय बन जाते हैं। युद्ध, कलह, राजनीतिक और आर्थिक प्रतिद्वंद्विता आदि अनेक कारक-तत्त्व बनते हैं, जिनका परिणाम वीभत्स हिंसा के रूप में सामने आता है। यह सब क्या है? आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी के हिंसात्मक प्रयोगों की चर्चा करते हुए लिखा है—'इस शताब्दी ने हिंसा के बहुत प्रयोग किए हैं—अणुअस्त्रों का निर्माण, शस्त्रीकरण का विकास, शस्त्रों का मुक्त बाजार, उग्रवाद अथवा आतंकवाद का प्रशिक्षण, आर्थिक साम्राज्य का विस्तार, असमर्थ जनता का शोषण और उत्पीड़न। सांप्रदायिक कट्टरता, जातीय संघर्ष, सत्ता की लोलुपता, बाजार पर प्रभुत्व और अपराध—ये हिंसा और आतंकवाद के प्रमुख कारण माने जाते हैं। ये हिंसा के बीज नहीं हैं—पत्र, पुष्प और फल हैं। क्रोध का आवेश, अहंकार, लोभ, भय, घृणा और काम-वासना—ये हिंसा के बीज हैं। ये देश, काल और व्यक्ति-भेद से सांप्रदायिक कट्टरता, जातीय संघर्ष, सत्ता की लोलुपता, बाजार पर प्रभुत्व और अपराध के रूप में प्रकट होते रहते हैं।'[21]

हिंसा की समस्या से केवल व्यक्ति और समाज नहीं, पूरा विश्व आक्रांत है, उसके दुष्परिणामों को भोग रहा है। इसीलिए प्रत्येक चिंतनशील व्यक्ति इसके कारणों को खोजना और मिटाना चाहता है। वैज्ञानिक भी इस समस्या के उत्स की खोज में लगे हुए हैं। वैज्ञानिकों ने इस संदर्भ में कुछ नई खोजें की भी हैं। इन वैज्ञानिक खोजों का निष्कर्ष है—'नाड़ीतंत्र, ग्रंथितंत्र और जैव-रसायन हिंसा और अहिंसा के बीजों को अंकुरित करने में निमित्त बनते हैं। सामान्य धारणा यह है कि सांप्रदायिक कट्टरता ही मस्तिष्कीय विकार अथवा मस्तिष्कीय रोग है। मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तिष्क की तीन परतें हैं—'लिंबिक सिस्टम', 'रेप्टेलियन' मस्तिष्क, 'निओ-कार्टेक्स'।

'रेप्टेलियन' मस्तिष्क का प्रभाव अपने संप्रदाय को श्रेष्ठ मानने और दूसरे संप्रदाय को हीन मानने की भावना को जन्म देता है। घृणा और द्वेष के बीज भी उससे अंकुरित होते हैं। सांप्रदायिक हिंसा से मुक्ति पाने का मार्ग है—मस्तिष्कीय शक्ति का सम्यक् विकास, विस्तार और उपयोग।

हिंसा की जड़ें कहां है? इस प्रश्न का दार्शनिक उत्तर होगा—हिंसा की जड़ वृत्ति में है, कर्म-संस्कार में है। जीव विज्ञानी मानते हैं—हिंसा की जड़ 'जीन' में है। 'जीन' को हर अच्छे-बुरे गुण के लिए जिम्मेदार माना जाता है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि हिंसा का जन्म न मनोवैज्ञानिक कारण से होता है और न 'जीन' के कारण, इसका कारण रासायनिक परिवर्तन है। अमेरिकी वैज्ञानिकों ने इस पर काफी खोज की है। इनसे कई रोचक नतीजे सामने आए हैं। वैज्ञानिकों ने पाया कि हिंसा का कारण पुरुष यौन 'हार्मोन टेस्टोस्टेरोन' है। जिन पुरुषों में इनकी मात्रा सामान्य से अधिक होती है, उनकी प्रवृत्ति हिंसात्मक होती है। इसी प्रकार 'सेरोटोनिन' वह रसायन है, जो मस्तिष्क में शांति का संदेश फैलाता है।

इसका एक उप-उत्पाद है—'एच. आई. ए. ए.' नामक रसायन, जो रीढ़ की हड्डी में द्रव रूप में पाया जाता है। इसे मापकर यह जाना जा सकता है कि व्यक्ति में हिंसात्मक प्रवृत्ति किस हद तक पनप चुकी है, लेकिन इस रसायन को निकालना बड़ा कठिन है। क्योंकि रीढ़ की हड्डी से द्रव निकालने में असहनीय दर्द होता है। इसी वजह से यह खोज आगे नहीं बढ़ पा रही है। अगर निकट भविष्य में कोई बात बन गई तो शायद हिंसा का रासायनिक उपचार सामने आ जाए।'[22]

भूख, गरीबी और बेरोजगारी की समस्या भी हिंसा के लिए ऊर्वरा भूमि का निर्माण करती है। संस्कृत का प्रसिद्ध सूक्त है—**बुभुक्षितः किं न करोति पापम्**—भूखा आदमी क्या पाप नहीं कर सकता? आंकड़े बताते हैं कि आज भी दुनिया में करोड़ों लोग ऐसे हैं, जिन्हें दो वक्त पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। यह जठराग्नि की पीड़ा हिंसा के बीजों का वपन करती है। गरीबी और बेरोजगारी से भी हिंसा के बीजों को सिंचन मिलता है।

एक ओर जहां धन के अभाव से हिंसा के बीजों को अंकुरित होने का अवसर मिला है, वहीं दूसरी ओर धन के अतिभाव/प्रभाव ने एक प्रतिक्रियात्मक स्थिति का निर्माण भी किया है। एक ओर गगनचुंबी अट्टालिकाएं, विलासिता पूर्ण जीवन और दूसरी ओर झुग्गी-झोंपड़ियां, जीवन-निर्वाह के साधनों की दुर्लभता—क्या समाज की इस विषम स्थिति में हिंसा के बीजों को कभी निर्वीर्य बनने का अवसर मिल सकता है?

हिंसा का एक कारण है—नशा। मादक वस्तुओं के सेवन से हिंसात्मक वृत्तियों को उद्दीपन मिलता है। नशा और अपराध का बहुत गहरा संबंध है। अपराधी मनोवृत्ति के निर्माण में नशे का बहुत बड़ा योग है। मद्यपान न करने वाला शायद उतना क्रूर नहीं हो सकता, जितना कि एक मद्यपायी हो सकता है। मद्यपान से करणीय-अकरणीय के विवेक की चेतना सो जाती है, व्यक्ति को अपराध करने में कोई संकोच नहीं होता।

नागरिक आचार-संहिता और अहिंसा

भगवान महावीर ने द्विविध धर्म का प्रतिपादन किया—1. अगार धर्म, 2. अनगार धर्म। अगार धर्म, यानी गृहस्थ (श्रावक) का धर्म। अनगार धर्म—मुनि का धर्म। उन्होंने कहा—यदि शक्य हो तो अनगार धर्म की आराधना करो। यदि वह शक्य नहीं है, तो अगार धर्म का अनुपालन करो।

भगवान महावीर ने हिंसा के दो प्रकार बतलाए—अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा। एक मुनि के लिए दोनों प्रकार की हिंसा से विरत रहने का विधान किया है। जबकि एक गृहस्थ (श्रावक) को अनर्थ हिंसा से बचने का निर्देश दिया।

भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त बारहव्रती नागरिक (श्रावक) की आचार-संहिता अहिंसक समाज अथवा स्वस्थ समाज की आचार-संहिता है। इस आचार-संहिता के सूत्रों में हिंसा की समस्या के समाधान-सूत्र सन्निहित हैं। प्रस्तुत संदर्भ में चार व्रत अनुशीलनीय हैं।

1. **स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत**—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत का तात्पर्य है—संकल्पजा हिंसा का परित्याग। एक बारहव्रती श्रावक स्थूल प्राणातिपात का दो करण—न करूंगा, न कराऊंगा तथा तीन योग—मन से, वचन से, काया से प्रत्याख्यान करता है।[23]

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने संकल्पजा हिंसा को इन शब्दों में व्याख्यायित किया है—'द्वेषवश या लोभवश दूसरों पर आक्रमण करना, बिना प्रयोजन किसी को सताना, दूसरों का स्वत्व छीनना, अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए मनमाना प्राणवध करना तथा अपनी वृत्तियों को उच्छृंखल करना आदि—संकल्पजा हिंसा है।[24]

बारहव्रती श्रावक का पहला व्रत है—निरपराध त्रस प्राणी की संकल्पपूर्वक हत्या न करना। यह संकल्प हिंसा के अल्पीकरण का तथा अहिंसा की साधना का पहला प्रयोग है।

प्राणातिपात विरमण व्रत के निम्नोक्त पांच अतिचार भी वर्जनीय हैं—1. **बंध**—पशु, पक्षी, दास आदि को बंधन ग्रस्त करना। 2. **वध**—निर्दयता पूर्वक पीटना, प्रहार करना। 3. **छविच्छेद**—अंग भंग करना।

4. **अतिचार**—पशुओं और मनुष्यों पर अतिभार लादना। 5. **भक्त विच्छेद**—अपने आश्रित व्यक्तियों की आजीविका का विच्छेद करना।[25]

आचार्यश्री तुलसी ने नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत की आचार-संहिता के कुछ सूत्र इसी व्रत की भावना को परिपुष्ट करते हैं—• मैं किसी निरपराध प्राणी को नहीं मारूंगा। • मैं किसी प्राणी या मनुष्य के साथ क्रूर व्यवहार नहीं करूंगा। • मैं अनावश्यक हिंसा नहीं करूंगा। • मैं आक्रमण नहीं करूंगा। • मैं आक्रामक मनोवृत्ति का समर्थन नहीं करूंगा।

क्रूर व्यवहार से मुक्ति अहिंसा की आधार-भूमि है। स्थूल-प्राणातिपात विरमण व्रत और अहिंसा अणुव्रत के संकल्पों से क्रूरता की मनोवृत्ति बदलती है। यदि यह व्रत व्यापक बने तो आतंकवाद, उग्रवाद, अपराध, शोषण आदि ज्वलंत समस्याओं का मूलोच्छेद हो सकता है।

2. **इच्छा-परिमाण व्रत**—श्रावक की आचार-संहिता का पांचवां व्रत है—इच्छा-परिमाण।[26] हिंसा का मूल है—असीम संग्रह और परिग्रह। व्यक्ति धन-संपत्ति के लिए हिंसा करता है। परिग्रह, संग्रह और अधिकार के लिए हिंसा करता है। हिंसा की मनोवृत्ति सामने आती है और संग्रह व परिग्रह की वृत्ति उसकी पृष्ठभूमि में छिपी रहती है। अनेक बार यह उद्घोष सुना जाता है—**'अहिंसा परमो धर्मः'**। इस उद्घोष की उदात्त भावना तभी साकार हो सकती है, जब इससे पहले यह उद्घोष जीवन में आत्मसात हो जाए—**'अपरिग्रह परमो धर्मः'**। 'अहिंसा और अपरिग्रह', 'हिंसा और परिग्रह'—इन दोनों में एक अनुबंध सा है। **'अपरिग्रह परमो धर्मः'**—यह सूक्त जिस दिन जीवन चर्या का हिस्सा बनेगा, उस दिन **'अहिंसा परमो धर्मः'** स्वतः प्रतिष्ठित हो जाएगा। हिंसा कार्य है और परिग्रह उसका कारण है। असीम संग्रह और असीम लालसा के घृत का सिंचन मिलता रहे और हिंसा का चूल्हा न जले—क्या यह संभव हो सकता है? हिंसा की प्रज्वल लपटें तभी प्रदीप्त रह सकती हैं, जब उसे आसक्ति या परिग्रह का घृत-अभिषेक निरंतर मिलता रहता है। हिंसा की प्रज्वल ज्वाला का उपशमन ममत्व या परिग्रह के अल्पीकरण से ही संभव है। आसक्ति या परिग्रह के अल्पीकरण का सूत्र है—इच्छा परिमाण-व्रत।

इच्छा परिमाण व्रत को स्वीकार करने वाला अपने स्वामित्व का सीमाकरण करता है। धन, संपत्ति आदि को एक निश्चित सीमा से अधिक न रखने की प्रतिज्ञा करता है।

वर्तमान युग की समस्या यह है कि एक ओर धन का अभाव है, जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं सुलभ नहीं हैं। दूसरी ओर धन का अतिभाव और प्रभाव है, विलास की सारी सुविधाएं सुलभ हैं। जहां अभाव है—वहां प्रतिक्रियात्मक हिंसा की भावना जन्म लेती है। जहां विलास है—वहां अपव्यय है, क्रूरता है।

स्वामित्व के सीमाकरण का संकल्प असीम संग्रह और परिग्रह की मनोवृत्ति का नियमन है। इससे संग्रह और परिग्रहजनित समस्याएं जटिल नहीं बनतीं। स्वामित्व के सीमाकरण का यह संकल्प व्यापक बने तो सामाजिक, आर्थिक विषमता से उत्पन्न अनेक समस्याओं का समाधान उपलब्ध हो सकता है।

3. **उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत**—श्रावक आचार-संहिता का एक व्रत है—उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत।[27] यह व्रत वर्तमान उपभोक्तावादी युग में बहुत प्रासंगिक बन गया है। आज का मानस असीम इच्छा, असीम उत्पादन और असीम उपभोग की अवधारणा से रंजित बना हुआ है। इस उपभोक्तावादी मानसिकता का परिणाम है—आज पदार्थ का मूल्य बढ़ रहा है, चेतन का मूल्य घट रहा है। मानवीय चेतना पर पदार्थ हावी होता जा रहा है। मनोरंजन, प्रसाधन, दहेज आदि के लिए होने वाली हिंसा इस पदार्थवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति की फलश्रुति है। उच्छृंखल भोगवाद, विलास, यौन-अपराध, भ्रष्टाचार आदि इसी उपभोगवादी मानसिकता के नतीजे हैं। नैतिक और

चारित्रिक मूल्यों का क्षरण भी इसी उपभोगवाद की देन है।

उपभोग संयम का यह व्रत जितना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है, उतना ही स्वस्थ समाज अथवा अहिंसक समाज रचना के लिए अनिवार्य है। भगवान महावीर के प्रथम श्रावक आनंद ने उपभोग-परिभोग का जो संयम किया—वह एक गृहस्थ के लिए आदर्श है। यदि उपभोग संयम चेतना पुष्ट बनती रहे, तो अहिंसा और शांति के सुमनों की सुगंध से जीवन महक उठे।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत में जहां एक ओर जीवन की आवश्यकताओं/अपेक्षाओं के संयम का मंत्र प्राप्त होता है, वहीं दूसरी ओर व्यवसाय की शुचिता का निर्देश भी प्राप्त होता है। भगवान महावीर ने इस व्रत के अंतर्गत पंद्रह कर्मादानों का निषेध किया है। कर्मादान के वर्गीकरण में तत्कालीन पंद्रह व्यवसायों का उल्लेख है। हिंसा की अधिकता के कारण इन व्यवसायों को कर्मादान कहा गया। हिंसक व्यवसाय क्रूरतापूर्ण मनोभावों के बिना नहीं हो सकता। 'धन ही सब कुछ है', 'धन के लिए कुछ भी किया जा सकता है'—जहां यह मान्यता होती है, वहां क्रूरतापूर्ण हिंसक व्यवसाय करने में भी ग्लानि का अनुभव नहीं होता। भगवान महावीर ने एक श्रावक को इन हिंसक व्यवसायों से विरत रहने का जो निर्देश दिया है, वह अहिंसक समाज रचना की दृष्टि से भी बहुत मूल्यवान है। प्रस्तुत संदर्भ में पंद्रह कर्मादानों का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा[28]—

1. **इंगाल कम्मे**—अंगार कर्म, कोयला बनाना, ईंट बनाना आदि और उनका विक्रय करना।
2. **वण कम्मे**—वन कर्म, जंगल की कटाई, विक्रय।
3. **साडी कम्मे**—शकट कर्म, गाड़ी, रथ आदि का निर्माण, वाहन और विक्रय।
4. **भाडी कम्मे**—भाटी कर्म, बैलगाड़ी आदि के द्वारा दूसरों के माल को देशांतर ले जाना।
5. **फोडी कम्मे**—स्फोट कर्म, सुरंग आदि बिछाकर विस्फोट करना, खाने खोदना। जैनेंद्र सिद्धांत कोश में इसका अर्थ पटाखे, आतिशबाजी आदि बारूद की चीजों से आजीविका करना किया है।[29]
6. **दंतवाणिज्जे**—दंतवाणिज्य, हाथी दांत आदि का व्यापार।
7. **लक्खवाणिज्जे**—लाक्षावाणिज्य, लाख का व्यापार।
8. **केसवाणिज्जे**—केशवाणिज्य, केश वाले जीव—गाय, भैंस, स्त्री आदि का व्यापार।
9. **रसवाणिज्जे**—रसवाणिज्य, मादक द्रव्यों का व्यापार।
10. **विषवाणिज्जे**—विष वाणिज्य, विष का व्यापार।
11. **जंतपीलणकम्मे**—यंत्रपीलन कर्म, तिल, ईक्षु आदि को पेलना।
12. **निल्लंछणकम्मे**—निर्लांछन कर्म, बैल आदि को बधिया करना।
13. **दवग्गिदावणया**—जंगल को जलाना।
14. **सरदहतलाय सोसणया**—सरोवर, द्रह, तालाब आदि को सुखाना।
15. **असईजणपोसणया**—असतीजन पोषणता, आजीविका के लिए दासी तथा कुर्कुट, मार्जार आदि का पोषण करना।

श्रीमद् जयाचार्य ने असतीजन पोषण पर विस्तार से विचार किया है। उनका निष्कर्ष है—आजीविका के लिए असंयमी का पोषण करना असती पोषण है।[30]

यदि हम वर्तमान के उद्योग-व्यवसायों का विश्लेषण करें तो कर्मादानों की संख्या सैकड़ों तक पहुंच सकती है। जिस व्यक्ति के हृदय में करुणा है, संवेदनशीलता है, पर-दुःख-कातरता है, वह हिंसाजन्य क्रूर व्यवसायों से आजीविका की कामना नहीं कर

सकता। महात्मा गांधी ने अहिंसक व्यापार के अनेक प्रयोग निर्दिष्ट किए। यदि व्यापार में हिंसा के अल्पीकरण की भावना रहे तो करुणा और अहिंसा जीवनशैली का प्रमुख अंग बन जाए।

4. **अनर्थदंड विरमण व्रत**—श्रावक की आचार-संहिता का सातवां व्रत है—अनर्थ दंड विरमण व्रत। इस व्रत को स्वीकार करने वाला—1. अपध्यानाचरित 2. प्रमादाचरित 3. हिंस्रप्रदान 4. पाप कर्मोपदेश—का प्रत्याख्यान करता है।[31] यद्यपि ये चारों ही हिंसा को उद्दीपन देने वाले हैं, किंतु प्रस्तुत संदर्भ में अपध्यानाचरित और हिंस्रप्रदान—इन दो पर विमर्श अपेक्षित है।

अपध्यानाचरित का तात्पर्य है—दुर्ध्यान। यह भाव-शस्त्र है। भगवान महावीर ने छब्बीस शताब्दी पूर्व निःशस्त्रीकरण का मंत्र दिया। संभवतः शस्त्र निर्माण और शस्त्र व्यापार के संदर्भ में उन्होंने जो निर्देश दिए, वे आज भी अहिंसा के क्षेत्र में अपूर्व हैं। उन्होंने धातु आदि से निर्मित शस्त्रों को शस्त्र की परिगणना में पहला स्थान नहीं दिया। उन्होंने पहला स्थान दिया शस्त्र-निर्माण में क्रियाशील भाव को तथा उस अविरति और आकांक्षा को, जो शस्त्र-निर्माण की मूलभूत प्रेरणा है। संयुक्त राष्ट्र संघ का यह वक्तव्य—'युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, फिर समरांगण में'—इसी भाव-शस्त्र की प्रतिध्वनि है। यदि भाव-शस्त्र निष्क्रिय हो जाए तो धातु के संहारक शस्त्र भी भोथरे बन जाएंगे। धातु के शस्त्रों की संहारकता और मारकता की पृष्ठभूमि में भाव-शस्त्र की सक्रियता होती है। अपध्यानाचरित से विरत होने का संकल्प भाव-शस्त्र से विरति का संकल्प है। भाव-शस्त्र से विरत होने का अर्थ है—शस्त्र को जन्म देने वाली, शस्त्र का प्रयोग करने वाली चेतना का विलय तथा अशस्त्र और अहिंसक भावों से अनुप्राणित चेतना का उदय।

भगवान महावीर ने जहां हिंसा के उपादान कारणों पर ध्यान दिया, वहीं निमित्त कारणों की भी उपेक्षा नहीं की। 'हिंस्रप्रदान' के वर्जन का निर्देश निमित्त कारणों के वर्जन का निर्देश है। इसलिए एक बारहव्रती नागरिक (श्रावक) के लिए घातक शस्त्रों का आदान-प्रदान निषिद्ध है।

भगवान महावीर ने संयुक्ताधिकरण्य को अनर्थदंड विरमण व्रत का एक अतिचार बताया। संयुक्ताधिकरण्य का अर्थ है—शस्त्रों के कलपुर्जे तैयार करना और उनका संयोजन करना। भगवान महावीर ने एक बारहव्रती श्रावक के लिए शस्त्र के व्यापार का निषेध ही नहीं किया, शस्त्र के कलपुर्जों के निर्माण और संयोजन को भी अतिचार की श्रेणी में स्थान दिया है।

वस्तुतः जितने भी शस्त्र निर्मित होते हैं, उनका सबसे पहले जन्म भाव के स्तर पर होता है। आदिम युग से लेकर वर्तमान अणुशस्त्रों के युग तक—जितने भी शस्त्रों का निर्माण हुआ है, मनुष्य के मस्तिष्क में उतने ही भाव पहले उत्पन्न हुए हैं। विश्व शांति और निःशस्त्रीकरण के लिए अनेक गोष्ठियां होती हैं, उच्च स्तरीय सम्मेलन होते हैं। उनमें संहारक अणुशस्त्रों को नष्ट करने की बात प्रमुखता से उभरती है। जब तक भाव-शस्त्र प्रखर और प्रबल बना हुआ है, तब तक निःशस्त्र विश्व की कल्पना साकार नहीं हो सकती।

जब तक भाव-शस्त्र है, क्या नित नए शस्त्रों के उत्पादन को रोका जा सकेगा? जब तक भाव-शस्त्र है, क्या संहारक शस्त्रों के विनाश की कल्पना साकार हो सकेगी? जब तक भाव-शस्त्र है, क्या निःशस्त्रीकरण का सपना सच बन सकेगा? निःशस्त्रीकरण के लिए अनिवार्य है—भाव-शस्त्र की समाप्ति। जिस दिन भाव-शस्त्र समाप्त होंगे, संभवतः उस दिन न शस्त्रों का निर्माण होगा, न शस्त्रों का प्रयोग होगा। अपध्यानाचरित अथवा भाव-शस्त्र से विरति ही वह सुदृढ़ आधारभूमि है, जिस पर अहिंसा और शांति का भव्य प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।

हिंसा की समस्या और अहिंसा प्रशिक्षण

आज मनुष्य हिंसा की समस्या से आक्रांत है, व्यथित है, चिंतित है। वह चाहता है कि हिंसा घटे, अपराध मिटे, अहिंसा का विकास हो, सर्वत्र शांति का

साम्राज्य हो। यह चाह तभी सफल हो सकती है, जब अहिंसा ग्रंथों और पंथों से निकल कर जीवन-व्यवहार में आए। आज स्थिति यह है कि हिंसा की समस्या जिस प्रबलता से बढ़ रही है, उसी गति से अहिंसा का विकास नहीं हो रहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसके चार हेतु बतलाए हैं—1. हिंसा की रणनीति है, अहिंसा की कोई रणनीति नहीं है। 2. हिंसा की व्यूह रचना है, अहिंसा की कोई व्यूह रचना नहीं है। 3. हिंसा का 'नेटवर्क' है, अहिंसा का कोई 'नेटवर्क' नहीं है। 4. हिंसा का प्रशिक्षण है, अहिंसा का कोई प्रशिक्षण नहीं है।[32]

इन समस्याओं के आलोक में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'अहिंसा समवाय' मंच की कल्पना की और अहिंसा प्रशिक्षण की प्रविधि विकसित की। 'अहिंसा समवाय' मंच का उद्देश्य रहा—अहिंसा की रणनीति, व्यूह रचना और 'नेटवर्क' का निर्माण। इसी तरह अहिंसा प्रशिक्षण की प्रविधि के माध्यम से हिंसा के निमित्त और उपादान—दोनों कारणों के निवारण के उपाय प्रस्तुत किए गए हैं। अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम हैं—1. सिद्धांत और इतिहास, 2. हृदय परिवर्तन, 3. अहिंसा जीवनशैली, 4. सम्यक् आजीविका और आजीविका प्रशिक्षण। इनमें प्रथम तीन आयाम सैद्धांतिक और व्यक्तित्व परिवर्तन के हैं। चौथा आयाम परिस्थिति में परिवर्तन लाने का है।[33]

आध्यात्मिक जीवन में अहिंसा का बहुत महत्त्व है, तो पारिवारिक/सामाजिक जीवन में भी अहिंसा का महत्त्व कम नहीं है। अहिंसा का आध्यात्मिक पक्ष है—भाव विशुद्धि, संयम और संवेदनशीलता का विकास। उसका सामाजिक पक्ष है—सामुदायिक चेतना का विकास। इस उभयपक्षीय विकास की दिशा में चिंतन, प्रयत्न और प्रयोग चलते रहें, तो जीवन के हर क्षेत्र में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो सकती है। **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:**—अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर वैर-विरोध का परित्याग हो जाता है, जीवन का हर क्षण शांति, प्रेम और मैत्री की सौरभ से सुरभित बना रहता है। जीवन की इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती है? ❖

संदर्भ

1. आयारो 1/64
2. दसवेआलियं 2/10
3. अनुकंपा की चौपई 5/51
4. दसवेआलियं 2/10
5. मनुस्मृति 3/68
6. जी. एफ. पंडुयून—महात्मा गांधी के विचार, 4/1383
7. दसवेआलियं 6/8
8. व्रताव्रत की चौपई 6/19
9. नवजीवन पुस्तक 20, पृ. 822
10. अनुकंपा की चौपई 9/70
    हिंसा री करणी में दया नहीं छे,
    दया री करणी में हिंसा नांहीजी।
    दया ने हिंसा री करणी छे न्यारी, ज्यू तावड़ो ने छांही रे।।
11. अनुकंपा की चौपई 9/8
    आहिज दया छे महावरत पहला,
    तिण में दया दया सर्व आई जी।
    ते पूरी दया तो साध जो पाले,
    बाकी दया नहीं रही कांई जी।।
12. अनुकंपा की चौपई 9/4
    त्रिविधे त्रिविधे छहकाय जीवा नें,
    भय नहीं उपजावे तामों जी।
    ए अभयदान कह्यो भगवंते, ते पिण दया रो नामो जी।।
13. अनुकंपा की चौपई 6/ दुहा 3
    अभयदान न ओलख्यो, दया री खबर न कांय।
    भोला लोका आगले, कूडा चोज लगाय।।
14. तेरापंथ : मर्यादा और व्यवस्था, पृ. 216
15. भगवई 9/246,249,250
    तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव एवं वयासी—पुरिसे णं भंते! पुरिसं हणमाणे किं पुरिसं हणइ? नोपुरिसे हणइ?
    गोयमा! पुरिसं पि हणइ, नोपुरिसे वि हणइ।।
    पुरिसे णं भंते! इसिं हणमाणे किं इसिं हणइ? नोइसिं हणइ?
    गोयमा! इसिंपि हणइ, नोइसिं पि हणइ।।

से केणट्ठेण भंते! एवं वुच्चइ—इसिं पि हणइ, नोइसिं पि हणइ?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं एगं इसिं हणामि, से णं एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—इसिं पि हणइ, नोइसिं पि हणइ।।

16. भगवई भाष्य खंड 3, पृ. 325
17. भगवई वृत्ति पत्र 9/249-50
18. युगीन समस्या और अहिंसा, पृ. 68
19. प्रश्नव्याकरण 1/11,12
20. आयारो 1/40
21. युगीन समस्या और अहिंसा, पृ. 69,73
22. युगीन समस्या और अहिंसा, पृ. 56-57
23. उवासगदसाओ 1/24
24. अहिंसा तत्त्व दर्शन, पृ. 48
25. उवासगदसाओ 1/32
26. उवासगदसाओ 1/28
27. उवासगदसाओ 1/29
28. भगवई 8/242
29. जैनेंद्र सिद्धांत कोश, भाग-4, पृ. 422
30. भगवती की जोड़ 2/143/38-47
31. उवासगदसाओ 1/30
32. यात्रा अहिंसा की : खोज हिंसा के कारणों की, पृ. 21
33. यात्रा अहिंसा की : खोज हिंसा के कारणों की, पृ. 44,45

❖❖

पंचशील

बौद्ध धर्म में आचार की प्रधानता है। उचित आचरण के बिना जीवन में शांति प्राप्त नहीं हो सकती। उचित आचरण को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक बौद्ध को पंचशीलों का पालन अनिवार्य है।

शील समाधौ अथवा **शील उपधारणे (अभ्यासे)** धातु से **धन** प्रत्ययपरक **शील** शब्द चित्त की एकाग्रता अथवा आचरण-अभ्यास का अर्थ देता है। बौद्धों ने शील को ऐसे सदाचार के अर्थ में लिया है, जो स्वभाव बन जाता है—**किशीलंति? पाणातिपातादीहि वा विरमंतस्य वत्तपटिपत्तिं वा पूरें तस्स चेतनादयो धम्मा।···· चेतनाशीलं चेतसिक सीलं संवरो सीलं अवीतिक्किमो सीलं ति (विसुद्धिमग्ग 1)**।

अर्थात् **प्राणातिपातादि** (हिंसा) से विरत रहने वाले अथवा **वृत्तप्रतिपत्ति** (सदाचार) को पूर्ण करने वाले ये चार धर्म शील कहे गए हैं—चेतनाशील, चैतसिकशील, संवरशील, अव्यतिक्रमशील।

यह पांच शील हैं—प्राणातिपात (प्राणीहिंसा) से विरति, अदत्तादान (चोरी) से विरति, काम-मिथ्याचार (व्यभिचार) से विरति, मृषावाद (असत्याभाषण) से विरति, सुरामेरयमद्य प्रमाद-स्थान (मादकद्रव्यों की मादकता) से विरति। इनमें से प्रथम अहिंसा अष्टांग मार्ग के दो भागों **सम्यक् संकल्प** एवं **सम्यक् कर्मांत** में विद्यमान है। सम्यक् संकल्प के अंतर्गत तीन संकल्प हैं—**निष्कामता सम्यक् संकल्प**—कामनाओं से रहित होना, **अव्यापाद**—घृणा न करना, मैत्री, करुणा की भावना होना, तथा **अविहिंसा सम्यक् संकल्प**—हिंसा से विरत होना।

—प्रो. शत्रुघ्न चतुर्वेदी

विक्षिप्त समाज का उपचार है हिंदस्वराज

❑ राजीव वोरा

अहिंसा के पक्षधरों के लिए यह गहरी चिंता और चुनौती का समय है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—जिसमें पहला कारण है हमारी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और राजनीतिक व्यवस्था के भीतर पैदा हो रहे और बढ़ रहे अन्याय, भेद और हिंसा के विविध रूपों की पहचान करने की हमारी क्षमता का कम होना, जिसके कारण सुधार के लिए, न्याय के लिए हिंसक उपायों का सहारा ही अधिकतया लिया जा रहा है। हिंसा और अन्याय का क्षेत्र बढ़ रहा है। उनकी तीव्रता भी बढ़ रही है और उनकी जड़ें भी मजबूत हो रही हैं।

चिंता का दूसरा कारण है—जिन्हें अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करना जरूरी है, उनका अहिंसा में भरोसा कम होते जाना और भरोसा बढ़ाने वाले अहिंसा के प्रयोगों का कम होना।

हिंसा की निंदा करना और अहिंसा का बखान करना बेहद आसान है, लेकिन अन्याय के क्षेत्र में अहिंसा के द्वारा न्याय की स्थापना तथा हिंसा के स्थान पर अहिंसा के तरीकों की सार्थकता सिद्ध करना आसान नहीं है। अहिंसा की बातें होती हैं, व्याख्याएं होती हैं, लेकिन हिंसा और अन्याय के निराकरण के लिए प्रयोग क्षेत्रों को बढ़ाना और इन प्रयोगों को विकसित करना आज अधिक जरूरी है।

एक समय गांधी-विनोबा-जयप्रकाश का था, जब सामाजिक और आर्थिक अन्याय से त्रस्त समुदायों ने अहिंसा का रास्ता अपनाया था। गांधीजी के समय के बाद भूदान और ग्रामदान जैसे व्यापक और आमूल परिवर्तन की गुंजाइश पैदा करने वाले महान प्रयोग हुए। लेकिन, आने वाले वर्षों में खेतिहर प्रजा और धनवान आदिवासी समाज की समस्याओं का समाधान करके

अहिंसा व्यवहार को निर्धारित और नियंत्रित करने का जीवन-सिद्धांत है, न कि मात्र तत्त्व-चर्चा का। क्योंकि जो सिद्धांत, जो नियम, जो संस्कार जीवन का निर्माण और संचालन न कर सके, जीवन के विकास में आती बाधाओं को समझने और उनका व्यक्तिगत और सामूहिक सामना तथा निराकरण करने का रास्ता न बता सके—वह 'सिद्धांत' सिद्धांत होता ही नहीं। वह फिर कपोल कल्पना ही कही जाती है।

❑

उन्हें न्याय दिलाने में व्यापक समाज तथा राज्य तंत्र की असमर्थता, असफलता और संवेदनहीनता ने उन्हें बंदूक उठाने को मजबूर किया है। सन् 1959 में बंगाल का केवल एक ही जिला जहां नक्सलवादी, माओवादी की हिंसक 'क्रांति' का प्रयोग क्षेत्र बना, वहीं आज माओवाद का विस्तार दो सौ तीस जिलों तक हो गया है। लोकतांत्रिक देश में एक निहायत हिंसावादी, अलोकतांत्रिक और राष्ट्र विरोधी विचारधारा और उसकी पद्धति के इस विस्तार पर बाकी समाज की प्रतिक्रिया भी बेहद चिंताजनक है। लगता है कि माओवाद और उनकी शक्ति का इतना विस्तार इसलिए चिंता का विषय बना हुआ है कि वह राज्य विरोधी है। इसका राज्य विरोध मूल चिंता का विषय है, न कि उसका हिंसक होना और न ही उसका अन्याय में निहित होना। अन्याय और शोषण कम चिंता का विषय है और राज्य विरोध अधिक परेशानी है। हम कारण की चिंता करेंगे, तभी परिणाम पर असर होगा। इसमें शक नहीं कि राज्य विरोध और हिंसा से राज्य क्रांति का उनका हेतु जरूर चिंता का विषय होना ही चाहिए। लेकिन, उनका यह हेतु, उस हेतु में सफल होने की उनकी शक्ति और क्षमता जिन कारणों से बढ़ रही है, उनका अगर निराकरण करने के प्रति उदासीनता रही, तो उनकी ताकत उसी प्रकार बढ़ती रहेगी, जिस प्रकार पिछले पचास वर्षों में बढ़ती ही रही है। यह चुनौती जितनी लोकतंत्र को आदिवासी, वनवासी समाज तक पहुंचाने की और उसे उनके अनुकूल बना कर न्यायशील बनाने की है, इतनी ही यह चुनौती विचार की भी है।

अहिंसा की स्वीकृति वह व्यक्ति तय करेगा, जो अत्याचार और अन्याय से त्रस्त है और जब अहिंसा उसकी रक्षा करने में समर्थ होगी। उसके सामर्थ्य में विश्वास तब बनेगा, जब उसके साथ हो रहे अन्याय के कारणों की समग्र व्याख्या करने में भी अहिंसा का दर्शन समर्थ होगा। जो शोषित है, शोषण के कारण जिसका जीवन और आत्मसम्मान असुरक्षित है, उसकी सबसे बड़ी भूख यह जानने-समझने की है कि—'मैं ऐसा क्यों हूं, मेरे साथ ऐसा क्यों हो रहा है?'—माओवाद इस दृष्टि से सटीक उदाहरण है। यह केवल बगावत नहीं है, उसके पीछे विचार भी है।

स्वराज क्या है? गांधीजी ने 'हिंदस्वराज' में इसकी क्यों और किस प्रकार से व्याख्या की है। इस विषय पर समाज के अलग-अलग तबकों में 'स्वराज शिविर' करने के क्रम में एक बात समझ में आई—वह यह कि अपनी कठोर वास्तविकता के पीछे सत्य को जानने की भूख शोषित समाज में अदम्य होती है। जो उन्हें समझाएगा, उसके पीछे वे चलेंगे। माओवाद से अधिक सशक्त विचार यदि उनके पास पहुंचेगा, तो वे माओवादी हिंसा का रास्ता छोड़ेंगे। हिंसा की चुनौती वहां बड़ी है—जहां उसके पीछे विचार, दर्शन और व्याख्या है। चाहे वह किसी प्रकार का 'क्रांतिवाद' हो—जैसे कि माओवाद। किसी प्रकार का धर्मवाद हो—जैसा कि अधिकतर आतंकवाद के पीछे, या सांप्रदायिक हिंदुत्व तथा सांप्रदायिक इंसानियत, या किसी प्रकार का विकासवाद—जो कि वर्तमान हिंसा, अन्याय, शोषण का कारण है। ये समस्त प्रकार की हिंसाएं विचार के बल पर खड़ी और बढ़ रही हैं और सभी की जड़ में मनुष्य की अस्मिता का सवाल है।

अहिंसा के विचार की उस धार को समझना जरूरी है—जिसमें व्यक्ति की अस्मिता की रक्षा संभव दिखे। मनुष्य जहां अपनी अस्मिता की रक्षा चाहता है, वहीं वह अपने 'स्व' की व्यापकता से साक्षात्कार भी चाहता है। वह दूसरे से—यहां तक की अपने प्रतिपक्ष तक से—जुड़ने की, उससे तारतम्य की आंतरिक भूख रखता है। इसे हम आध्यात्मिक भूख कह सकते हैं। अपने हित को व्यापक हित के संदर्भ में देखना, अपनी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उन्नति को बाकी समाज की उन्नति के विरोध में नहीं, बल्कि उसके साथ देखना, न्याय के लिए खड़े होने की शक्ति रखना और द्वेषरहित होना, निर्वैर होकर लड़ना। यह तब संभव है, जब जो 'दूसरा' है, भिन्न है, प्रत्यक्ष रूप से विरोध में है—उससे आत्मभाव रखा जाए। प्रतिपक्ष के प्रति न्याय का कुछ भी भेदभाव रखे बिना, द्वेष-क्लेशरहित

मन से लड़ने का तरीका गांधीजी ने सिद्ध किया था। यह तरीका—सत्याग्रह—भारतीयों के मन, बुद्धि और संस्कार के अनुरूप होने के कारण भारतवासी गांधीजी के पीछे चले और बड़े से बड़े आत्म-बलिदान किए।

अहिंसा केवल भारत-विशेष ही नहीं है। अहिंसा के जिस मूल तत्त्व को गांधीजी ने सामाजिक जीवन में सक्रिय किया, वह तत्त्व सार्वभौमिक है। मनुष्य मात्र में वह तत्त्व उसके प्रकृतिदत्त संस्कार के रूप में पड़ा है। कहीं वह मुखरित है, कहीं मुखरित होने के लिए उत्सुक या प्रयत्नशील है, तो कहीं वह दब गया है, लेकिन है। अहिंसा को सक्रिय करने के लिए और उसे सिद्ध करने के लिए केवल यही जरूरी नहीं है कि खुद की अहिंसक शक्ति में विश्वास हो, लेकिन यह भी जरूरी है कि प्रतिपक्ष में दबी पड़ी अहिंसा—अर्थात् मनुष्य की मूलभूत अच्छाई—में विश्वास हो। उस अच्छाई को उभरने में सहायता करना, उसे प्रेरित करके सक्रिय करना सत्याग्रह का काम है। सत्याग्रह 'सत्य का आग्रह' इसीलिए है कि सत्याग्रही केवल अपने खुद के सत्य को, खुद के पक्ष को ही संपूर्ण सत्य नहीं मानता। और, जो ऐसा मानता है, वह सत्याग्रही नहीं है।

अनेकांतवाद को समझने और सिद्धरूपी श्रीमद् राजचंद्रजी से संवाद करने पर गांधीजी का यह विश्वास और अधिक दृढ़ हुआ। वेदांत से लेकर जैन और बौद्ध दर्शन ने इस तत्त्व-विचार को जिस सूक्ष्मता में देखा और समझा है, उस सूक्ष्मता की तुलना और किसी भी शास्त्र की सूक्ष्मदृष्टि से शायद नहीं की जा सकती। तत्त्वज्ञान जितनी सूक्ष्मता में पहुंचता है, उस विचार की जड़ें उतनी ही दृढ़ होती जाती हैं। भारत में इसी कारण अहिंसा की जड़ें गहरी हैं।

महात्मा गांधी ने फिर से हमारा उससे साक्षात्कार कराया, लेकिन बेहद भिन्न रूप से। उसे साधु-संन्यासियों की चर्या से निकाल कर विस्तृत संसार की उन्नति का, उसके 'मोक्ष' का साधन बनाकर दिखाया। अहिंसा व्यवहार को निर्धारित और नियंत्रित करने का जीवन-सिद्धांत है, न कि मात्र तत्त्व-चर्चा का। क्योंकि जो सिद्धांत, जो नियम, जो संस्कार जीवन का निर्माण और संचालन न कर सके, जीवन के विकास में आती बाधाओं को समझने और उनका व्यक्तिगत और सामूहिक सामना तथा निराकरण करने का रास्ता न बता सके—वह 'सिद्धांत' सिद्धांत होता ही नहीं। वह फिर कपोल कल्पना ही कही जाती है।

जिनका भरोसा अहिंसा की इस शक्ति में नहीं था, ऐसे अनेक महापुरुषों ने गांधीजी के विचार और पद्धति पर शंकाएं जताईं। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर तक ने गांधीजी को कहा कि मानव-जाति के समस्त इतिहास में कहीं पर भी अहिंसा से ऐसा युद्ध नहीं जीता गया, न हुआ है। गांधीजी ने लिखा—'क्या मानवजाति के इतिहास का अंतिम अध्याय भी लिख दिया गया है और इतिहास का ग्रंथ हमेशा के लिए बंद कर दिया गया है?'—मनुष्य जाति के उत्थान के इतिहास में गांधीजी ने नया अध्याय ही नहीं जोड़ा, इतिहास की नई धारा को भी शुरू कर दिया। इस नई धारा में अहिंसा व्यक्ति के आध्यात्मिक और सांसारिक जीवन की कड़ी बनी। दोनों का भेद, दोनों को एक-दूसरे के विरोध में देखने की 'धार्मिक' दृष्टि को गांधीजी ने उसके मूल में चुनौती दी। उसे बदला। दार्शनिक और व्यावहारिक स्तर पर सिद्ध किया कि संसार और अध्यात्म—ये दो अलग क्षेत्र नहीं हैं। सांसारिक जीवन तो बनता ही आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक (बौद्धिक और शैक्षणिक) और धार्मिक दायरों से है। ये सभी हमारे सांसारिक जीवन के विभाग हैं और अगर जीवन को समग्ररूप से अभय पर खड़ा करने की व्यवस्था और उसके साधन उनमें नहीं हैं—तो ऐसा सांसारिक जीवन हिंसा और अन्याय पर ही चलेगा।

गांधीजी ने इसीलिए हिंसा के विविधरूपों का दर्शन दिया। आधुनिक समय में समाज, राज्य और व्यक्ति को अनैतिक बनाने वाले कौन से कारक हैं, उसकी पहचान गांधीजी ने कराई। हिंसा, अनैतिकता, अन्याय और असत्य ने आधुनिक 'सभ्यता' के नाम से किस-किस प्रकार के रूप धारण किए हैं—यह सर्वप्रथम 'हिंदस्वराज' में गांधीजी बताते हैं। यह हमारी

सबसे गंभीर बौद्धिक और आध्यात्मिक असफलता है और इसीलिए समस्या भी है कि हमें दृष्टिभ्रम हो गया है कि हम हिंसा, अन्याय, असत्य और अधर्म के उन रूपों को पहचानने की दृष्टि गंवा बैठे हैं। गांधीजी के समक्ष भी इसीलिए सबसे बड़ी चुनौती यही थी। 'हिंदस्वराज' हमें—मनुष्यमात्र को—सत्य और धर्म की दृष्टि देने हेतु लिखी गई, ताकि मनुष्य की स्वाधीनता उसकी मुक्ति का साधन कैसे बने, न कि उसकी पराधीनता, बंधन और अधोगति का। उनका एक वाक्य यह सब स्पष्ट कर देता है—'राष्ट्र सेवा मेरे लिए अपनी आत्मा को शरीर के बंधन से मुक्त करने की तालीम का मार्ग है।'

अंग्रेजी शासन के माध्यम से भारत में जड़ें जमा रही आधुनिक (पाश्चात्य) भोगवादी जीवन-दृष्टि, जीवन-विचार और जीवन-व्यवस्था में अनैतिकता निहित है, यह उन्होंने देखा। कमजोरों पर बलिष्ठ का अन्याय उसके स्वभाव में है और इससे मुक्त होना आजादी है—यह गांधीजी ने प्रतिपादित किया और पूरे तार्किक तत्त्व-विचार के आधार पर बताया कि अहिंसा ही केवल एक साधन है—मुक्ति का, न्यायपूर्ण जीवन-व्यवस्था का। ऐसी जीवन-व्यवस्था संयम पर आधारित होती है।

जीवन में संयम दो प्रकार से आता है—सहज आत्म-प्रेरणा से और बाहरी प्रभाव से। बाहरी प्रभाव दो प्रकार के हो सकते हैं—(1) मनुष्य के आसपास की व्यवस्था से; जैसा कि परिवार, सामूहिकता, सामाजिकता इत्यादि। ऐसी व्यवस्था जिसमें आंखों की शर्म, बड़े-बुजुर्गों की मर्यादा का सहज प्रभाव बना रहता है। अपनी समाज व्यवस्था—परिवार से होकर ग्राम तक—की रचना में यह नैतिक निगरानी सहज थी। दूसरा रास्ता है—बाहरी प्रभाव से उत्पन्न संयम और मर्यादा का। राज्य व्यवस्था और उसके कानून, जहां अपवाद रूप दंड-शक्ति की जरूरत पड़ती है—इसका भी स्थान है।

आज जीवन में, जीवन-व्यवस्था में संयम के स्थान पर राज्य-व्यवस्था और उसके समस्त तंत्रों की धारा केवल असंयम, अमर्यादा को ही बढ़ावा देती है और यही उसका धर्म है। इसे ही विकास, 'ग्रोथ' और प्रगति कहते हैं। हिंदस्वराज का विस्तार गांधी ने अपने समस्त जीवन-काल, जीवन-कार्य में किया और बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया कि यह अर्थतंत्र किस प्रकार 'अनर्थतंत्र' है, मौजूदा संसदीय तंत्र के क्या मूलभूत दोष हैं, शिक्षातंत्र किस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता और उनकी सत्ता के दलाल हमें बना रहा है—इत्यादि-इत्यादि।

भारत का मध्यवर्ग इस समय पूरी तरह 'विकार-ग्रस्त' हो चुका है। इसलिए सारी बुराई का दोष राज्यतंत्र पर मढना बिलकुल गलत है। राज्यतंत्र की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, लेकिन अगर यह मध्यवर्ग वह सब चाहना, मांगना और न मिलने पर चीखना-चिल्लाना बंद कर दे—जो केवल तब ही मिल सकता है और तभी मिल भी रहा है।

जब हमारे किसान, कारीगर, आदिवासी और समस्त मेहनतकश वर्ग का दिन-रात शोषण हो और ऐसा असंतोषी मध्यवर्ग पैदा करना अंग्रेजी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य रहा हो, तो विकारग्रस्तता को मिटाना दुस्तर कार्य हो जाता है। यह समस्या गहरी है, लेकिन ऐसी भी नहीं है कि हथियार डाल दिए जाएं।

गांधीजी ने इस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है—'भारत की सभ्यता और उसकी नींव मजबूत है'—यह नींव इसका विचार-दर्शन है, जीवन-दर्शन है। इसी कारण भारतवासी कितना भी लालची, असंयमी, असंतोषी अभी दिख रहा या बरत रहा है और वह पश्चिम की नकल करने के लिए पूरे उत्साह और जोश से निकल पड़ा है, लेकिन उसे कुरेदा जाए और सही सवाल किए जाएं, तो पाया जाता है कि उसके अंतर्मन में एक नैतिक और न्यायिक जीवन की तलाश है। हिंदस्वराज पर विभिन्न स्थानों, समुदायों के बीच किए गए अध्ययन शिविरों में यह साफ सामने आया है।

हमारा व्यापक समाज—खासकर मध्यवर्ग—स्पष्ट रूप से विक्षिप्तावस्था में है। उसका मन बंटा

हुआ है। बंटे हुए मन वाला मध्यवर्ग, अन्यायी व्यवस्था से लगातार लड़ता हुआ आर्थिक रूप से निम्न और शोषित वर्ग, भ्रष्टाचार से बदनाम हो चुका राज्यकर्ता वर्ग और राजतंत्र, हमारे देश की यह मौजूदा स्थिति है। लेकिन, शरीर और मन रोगग्रस्त हो जाने के बावजूद, जीवन तो कहीं ओर ही होता है—वैसा ही हमें राष्ट्र के विषय में समझना चाहिए। राष्ट्र के जीवन की जड़ें और भी अधिक गहरे में होती है और राष्ट्र के जीवन में पचास-साठ या सौ वर्ष तो एक मामूली कालखंड ही माना जाएगा। इसलिए सवाल यह है कि 'जीवन' कहां है। कहां है वह 'नाड़ी' जिसे पकड़कर उसके रक्तचाप को देखकर गांधीजी ने निदान किया और उपचार भी।

आज हमारे पास उनका दिया आर्षग्रंथ 'हिंदस्वराज' है, जो उनका समस्त अक्षरदेह है, जो इस युग का 'धर्मशास्त्र' ही है—स्वराज धर्म का धर्मशास्त्र। पिछले दशक से देश के विभिन्न समुदायों में हिंद स्वराज अध्ययन और विमर्श शिविरों का आयोजन तथा 'स्वराज' विषय पर अनेक संवाद करके इस लेखक का यह दृढ़ विश्वास बना है कि 'हिंदस्वराज' पर अगर गंभीर और व्यापक चिंतन किया जाए, तो हमारा देश स्वस्थ हो सकता है और विश्व को मार्ग दिखा सकता है। ❖

कबीर : संचय और संयम का संतुलन

सबकुछ त्याग कर कबीर वैरागी न स्वयं हुए, न आपसे मांग करते हैं कि आप हो जाएं। उनकी मांग थोड़ी ज्यादा कठिन है। संसार में रहते हुए, जीवन-यापन करते हुए भी संचय और संयम का संतुलन बनाए रखने की बात करते हैं—कबीर। **सांई ऐता दीजिए जामें कुटुम समाए** के साथ ही कबीर का यह भी कहना है—

कबीर सो धन संचिए जो आगे कूं होइ।
सीस चढ़ाए पोटली, ले जात न देखा कोइ।।

बहुत सारे धार्मिक और राजनीतिक अभियानों में भोग-लिप्सा को मनोहर नाम देकर हिंसा को जायज ठहराया जाता है। मूल बात है **स्वाद** की, जिस पर संयम न कर पाने के कारण ही पाखंड भी उत्पन्न होता है, और व्यक्तिगत तथा सामूहिक हिंसा भी। इसीलिए कबीर केवल मांसाहार की ही नहीं, उन **साधुओं** की भी आलोचना करते हैं, जो बड़ी-बड़ी सेनाएं लेकर एक-दूसरे का विनाश धर्म और आस्था के नाम पर करते हैं। मांसाहार की हो, या बाह्याचार की, कबीर जब आलोचना करते हैं, तो अंततः याद यही दिलाते हैं कि—**भूला वे अहमक नादाना, जिन्ह हरदम राम न जाना।** जो लोग विभिन्न बहानों से लोगों को लड़ाने का, हिंसा को जायज ठहराने का काम करते हैं—उनसे और उनकी बात मानने वालों से कबीर का दो टूक कहना है—

उसका खून तुम्हारी गर्दन, जिन्ह तुमको उपदेश दिया।
स्याही गई सफेदी आई, दिल सफेद अजहूं नहीं हुआ।।

कबीर भक्त थे। ऐसे भक्त जिनके लिए भक्ति केवल उपासना पद्धति नहीं, जीवन-पद्धति या रहनि थी। वे **उन्मुनि अवस्था** को उचित रहनि की परिणति ही मानते थे। संयम और करुणा से परिभाषित होने वाली अहिंसा कबीर की उन्मुनि और रहनि दोनों का सार है। पंथी मान्यताओं के अनुसार इस जन्म में कबीर का अवतार लेने वाले सत्यपुरुष का पिछला अवतार **करुणामय स्वामी** के रूप में ही हुआ था। यह इस बात का एक और संकेत है कि आधुनिक लोगों द्वारा कबीर की खोज के दावे किए जाने के बहुत पहले कबीर का अपना समाज उनकी संवेदना का मर्म खोज चुका था।

—प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल

अहिंसा-हिंसा : परिवेश देता है अंकुरण की उत्तेजना

❑ कुमार प्रशांत

मुझे यह बात अब अधिकाधिक अमान्य होती जा रही है कि हम अहिंसा को हिंसा के जवाब के रूप में देखें या समझें।

समाज में हिंसा की ताकत मान्य है, स्थापित है और राज्य व समाज दोनों उसी का ही आखिरी आलंबन लेते हैं। इसलिए हिंसा पहले से ही मैदान में खड़ी है। अगर आप अहिंसा की बात करते हैं, तो आप इससे मुंह नहीं चुरा सकते हैं। इसलिए अहिंसा को हिंसा के सामने खड़ा होना ही पड़ेगा, इसे मैं समझता भी हूं और मानता भी हूं। मैं यह भी जानता व मानता हूं कि जब तक अहिंसा हिंसा के सामने खड़ी नहीं होती है और सफल नहीं होती है, तब तक समाज उसे किसी ताकत के रूप में कबूल नहीं करेगा। लेकिन, इसके साथ ही मैं यह भी जान चुका हूं और मान चुका हूं कि जब तक हम अहिंसा को हिंसा के जवाब के रूप में देखते व समझते रहेंगे, तब तक इसकी पूरी व्याप्ति को भी नहीं समझ सकेंगे और आचरण में इसे सिद्ध भी नहीं कर सकेंगे।

ऐसा क्यों है?

इसलिए कि अहिंसा भी हमारे भीतर उसी तरह छिपी पड़ी है, जिस तरह हिंसा छुपी पड़ी है। जो छिपा है, उसे खोजना पड़ता है। वह आप-से-आप प्रकट नहीं होता है। यह बहुत कर के उस ईश्वर की तरह है, जो हम सबके भीतर धूनी रमाए बैठा है, लेकिन तब तक हाथ नहीं आता है, जब तक हम उसकी तरफ सावधान नहीं होते हैं। और, जब हम उसे सिद्ध कर पाते हैं, तभी यह पहचान पाते हैं कि यह खोज किसी दूसरे को पाने की नहीं थी, यह तो खुद को ही खोजने की खोज थी।

सच तो यह है कि हमारे भीतर हिंसा व अहिंसा, दोनों के बीज पड़े हैं। अब सबकुछ इस पर निर्भर करता है कि हमारी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियां और शैक्षणिक, सांस्कृतिक प्रणालियां आदि— यानी कि कुल मिला कर हमारा परिवेश इनमें से किसे अंकुरित होने की उत्तेजना देता है। ❑

आप देखें कि सामान्यत: हिंसा की खोज नहीं करनी पड़ती है। समाज व जीवन में वह इस तरह मान्य है कि हमें लगता है कि वह हमें सांस की तरह मिलती है। हमें लगता है कि हिंसा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है, जबकि सच दूसरा ही है। सदियों से मनुष्य की सोच में, उसके तमाम क्रिया-कलापों में, उसके हास्य-वियोग में, खान-पान, गीत-संगीत में, आपसी व्यवहार में—यानी कि हमारे रोम-रोम में हिंसा का बीज बोया जाता है। समाज उसमें निरंतर खाद-पानी भी डालता है, उसे प्रतिष्ठित व सम्मानित भी करता है। हिंसा एक संस्कृति की तरह हमारे ऊपर थोप दी जाती है। इसलिए छाप ऐसी पड़ती है कि जैसे वह हमारा स्वाभाविक स्वभाव है, जबकि सच तो यह है कि हमारे भीतर हिंसा व अहिंसा, दोनों के बीज पड़े हैं। अब सबकुछ इस पर निर्भर करता है कि हमारी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियां और शैक्षणिक, सांस्कृतिक प्रणालियां आदि—यानी कि कुल मिला कर हमारा परिवेश इनमें से किसे अंकुरित होने की उत्तेजना देता है।

आप देखिए कि आदमी एक ही है, जो किसी से इतनी चरम घृणा करता है कि उसकी जान ले लेता है और किसी से इतना गहन प्यार करता है कि उसके लिए अपनी जान दे देता है। आदमी एक ही है—बात सिर्फ यही रह जाती है कि आप उसके भीतर की किस प्रेरणा को प्रोत्साहित करते हैं।

संस्कार वह है, जो हम अपने से पहले वालों से पाते हैं, ग्रहण करते हैं। यह हमारे भीतर इतनी गहराई में पैठ जाता है कि अकसर तो हम यह पहचान भी नहीं पाते हैं कि यह हमारे पास भीतर से नहीं आया है, बाहर से भीतर जा कर अब बाहर आ रहा है। निष्प्रयास हम जो कहते-करते हैं, वह सदियों के प्रयास से हमारे भीतर आरोपित किया गया है, इसके प्रति जागने की जरूरत है। हमारे जड़ संस्कारों से अलग, विपरीत कोई आचरण करता है तो हम उसे संस्कारहीन कहते हैं। लेकिन, यथार्थ यह है कि संस्कारहीन जैसा कुछ होता नहीं है। मैं औसत व्यवहार की बात नहीं कर रहा हूं, गहरे तात्त्विक स्तर पर संस्कार की बात कर रहा हूं। गाली के जवाब में गाली या घूंसे के जवाब में घूंसा हमारे संस्कार में से निकल कर आता है।

वह दार्शनिक कामू कहता है न कि—'द अदर इज हेल!'—यह 'अदर' या दूसरा कौन है? वही जो हमारा पड़ोसी है, वही जो सड़क पर हमारे साथ चल रहा है, या बस में साथ की सीट पर बैठा है। वह अगर 'हेल' है तो 'हैवन' क्या है? साथ ही तो स्वर्ग है। अकेले होना और अकेलेपन के भाव से ग्रसित होना नरक है। लेकिन, वह कहता है कि हर दूसरा प्रतिद्वंद्वी है। तुम्हारे हिस्से में से बांटने आया है। इस संस्कार में से आता है कि हर दूसरा अविश्वसनीय है और इसलिए हमला करने लायक है। ऐसे में कोई ईसा मसीह सामने आते हैं और कहते हैं कि अपने पड़ोसी से उतना ही प्यार करो, जितना तुम खुद से करते हो। तो, हमारे संस्कार की जड़ें हिल जाती हैं, जैसे हमारे पांव के नीचे से जमीन खिसक जाती है और फिर हम उस पर पुराने संस्कार वाले रास्ते से हमला बोल देते हैं। उसे सूली पर चढ़ा देते हैं। यहां तक तो ठीक-ठीक ही चलती है—बात, क्योंकि ऐसा ही होना चाहिए था, लेकिन हैरानी तब होती है कि जब हम पाते हैं कि यह आदमी तो सूली पर चढ़ते हुए भी यही कहता रहा कि हे परमपिता, इन्हें क्षमा करना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।

ईसा नाम के उस आदमी ने हमारे सामने बड़ी उलझन पैदा कर दी कि उसने जड़ संस्कारों को कोई जगह ही नहीं दी। उसे मार कर भी हम मार नहीं सके, क्योंकि वह हमारे भीतर पैदा हो गया—एक सवाल की शक्ल में। यह उन गहरे अर्थों में संस्कारहीनता है, जहां से नए संस्कार पैदा होते हैं। यह उन गहरे अर्थों में उन्मेष है कि जिससे हिंसा के हमारे संस्कारों की दीवार में सेंध लगती है।

विश्वयुद्ध का जहरीला बादल घुमड़ रहा था। भारतीय राजनीति के सारे दिग्गज अंतरराष्ट्रीय संकट की इस घड़ी में, गुलामी के अपने एहसास को किनारे रख कर, ब्रिटिश हुकूमत के साथ खड़े होने को तैयार थे। बाधा पैदा कर रहे थे—महात्मा गांधी। वे इसी

वक्त अपना सबसे बड़ा प्रतिरोध आंदोलन खड़ा करने की बात कर रहे थे। वे कहते हैं—ऐसे समय में, जबकि मैं अपने जीवन का सबसे बड़ा संघर्ष छेड़ने वाला हूं, मेरे दिल में अंग्रेजों के लिए कोई घृणा नहीं है। मेरे दिल में ऐसा खयाल बिल्कुल नहीं है कि चूंकि वे मुश्किल में फंसे हुए हैं, इसलिए मैं उन्हें धक्का दे दूं। मेरे सामने सवाल है, तो यही कि यदि हम युद्ध-प्रयत्न में शरीक होंगे तो अंततः हिंसा का ही कुछ पाठ सीखेंगे। इससे हमें कुछ अनुभव मिलेगा, जैसा सिपाही को प्राप्त होता है। वैसे कुछ अधिकार भी मिलेंगे, पर यह सब हमें स्वतंत्रता की कीमत पर हासिल होगा। मुझे यह चीज जंचती नहीं है। मैंने वाइसराय को बताया है कि अगर ब्रिटेन सफल हुआ तो वह मुसोलिनी और हिटलर से बेहतर नहीं रह जाएगा। अगर उसने हिटलर से शांति-समझौता किया तो, ये सारी शक्तियां मिलकर भारत का शोषण करेंगी। लेकिन, अगर हम अहिंसक रहते हैं और जापान हमारे देश में घुस आता है, तो हम इसका ध्यान रखेंगे कि जापानियों को हमारी इच्छा के बिना यहां कुछ भी न मिल सके....।—अब कांग्रेस ही नहीं, सारी दुनिया में उथल-पुथल हो गई कि यह आदमी संस्कारहीन हो गया। अभी मिल रहा फायदा छोड़ कर जो इसकी फिक्र करे कि युद्ध में शिरकत देश को व्यापक पैमाने पर हिंसक बनाएगा और अंतरराष्ट्रीय शक्तियों को मिल कर भारत को लूटने का मौका दे देगा, उसे कैसे समझाएं कि आज जो मिल रहा है, उसे ले लेना संस्कार से मिला सयानापन है और भविष्य में जो होगा, उसको हम तब देख लेंगे। यह संस्कार है, जो कांग्रेस के सारे नेताओं को अपनी तरफ खींच रहा था। वह गांधी की संस्कारहीनता थी, जो नया रास्ता खोजने की तरफ उन्हें धकेल रही थी। आज हम पाते हैं कि मानवीय चेतना गांधी की दिशा में कुछ आगे चली है। अगर यह कच्छप-गति है, तो यही इसकी गति है और यह भी कि गांधी ने अकेले दम पर जो प्रयोग किया, उसके प्रयोगकार बढ़ेंगे तो इस प्रयोग और इसके परिणाम की गति भी बढ़ेगी।

हम सभी आदमी के रूप में पैदा होते हैं, लेकिन मनुष्य बनने की हमें कोशिश करनी पड़ती है और वह भी लगातार। आदमी के भीतर छिपा हुआ मनुष्य—उसे खोजना ही अहिंसा की खोज है। इसलिए हम देखते हैं कि अहिंसा नकल से या अकल से नहीं आती है। इस तरह जो आती है, वह नकली अहिंसा है—ओढ़े हुए या थोपे हुए विनय की तरह। यह अपने भीतर से खोज कर, खींच कर बाहर लानी पड़ती है। इसे अहिंसा का आरोहण कह सकते हैं। यह खोज एक बार सिद्ध हो गई और आप सावधान रहे, तो फिर इसका विकास होता रहता है। यह आपके स्वभाव का हिस्सा बन जाती है। सावधानी की जरूरत इसलिए पड़ती है कि सदियों से बने, रूढ हो गए हिंसा के तत्त्व हमें लगातार अपनी तरफ खींचते रहते हैं। आप थोड़े भी असावधान हुए नहीं कि यह आपको खींच कर अपनी तरफ ले आता है। अहिंसक साधना में लगा एक आदमी भी हिंसा के सारे उपादानों को हिलाने लगता है। इसलिए हिंसा के कारक अपनी पूरी ताकत लगा देते हैं कि प्रवाह से अलग जा रहा वह एक आदमी विफल होकर, निरुपाय हो जाए। हिंसा के भव्य महल में एक-एक आदमी एक-एक ईंट की तरह है। हिंसा की संस्कृति जानती है कि एक ईंट का खिसकना भी दीवार के गिरने की घोषणा है। इसलिए वह हर तरह से हमें बांधती है, कसती है और हमारे भीतर के हर उन्मेष को काटती है। जिसे हम आदमी के भीतर सतत चलने वाले संघर्ष के रूप में पहचानते हैं और कहते हैं कि राम-रावण का एक युद्ध हमारे भीतर अहर्निश जारी रहता है; कि अंधकार और रोशनी की खींचतान से हमें हमेशा गुजरना पड़ता है; सत् और असत् के बीच एक तनी हुई डोर है, जिस पर से हमें हर वक्त गुजरना पड़ता है, या कि गांधी जैसा कोई आदमी गहन, घोर अंधकार के क्षणों में यह कहते हुए ठहर जाता है कि मैं ईश्वर से रास्ता दिखाने की याचना कर रहा हूं, तो यह इसी की तरफ इशारा करता है कि हिंसा की पुरानी मान्यताओं और अहिंसा की नई प्रतीति के बीच द्वंद्व चल रहा है। इसलिए बेहद जरूरी है कि अपनी बातों में, कथनी और करनी में, व्यवहार और अभिव्यक्ति में, उद्वेग और उन्माद में

हमारे भीतर से क्या उमगता है—हम इसके सावधान दर्शक बनें। इसे आंकें और इसे तौलें और फिर देखें कि इसमें से खारिज करने जैसा क्या है, कितना है, क्यों है। सावधान दर्शक बनने की सावधानी अहिंसा की तरफ उठाया हुआ पहला कदम है।

मेरी समझ में अध्यात्म का सीधा, सरल अर्थ है—अपने भीतर का अध्ययन। बाहरी ज्ञान का खजाना जमा कर लिया हमने, लेकिन अपने भीतर की दरिद्रता का कुछ भी रास्ता नहीं निकला तो प्रयोजन क्या? ज्ञान का प्रयोजन अगर अपनी विद्वत्ता का आतंक फैलाना नहीं है, विध्वंस की ताकतों को अपनी मुट्ठी में रख कर सारी मानवता को कातर बना कर रखना नहीं है, तो फिर ज्ञान की कसौटी यह है कि वह आपके भीतर कितना उतरती है। धरती के लिए बारिश वही और उतनी ही है, जो और जितनी उसकी सतह से नीचे उतरती है। जो जड़ों तक नहीं पहुंचे, वह रस नहीं है। जो आत्मा तक नहीं पहुंचे, वह ज्ञान नहीं है। इसलिए अध्यात्म हमें अपने भीतर उतरने का रास्ता बताता है। भीतर उतरना, यानी अपने भीतर छिपी उन शक्तियों का अन्वेषण करना—जो अब तक हमें अप्राप्त है, अनजान हैं, जो हमें अपने भीतर ही नई रोशनी, नई ऊर्जा के स्रोत दिखाती हैं। इसलिए अध्यात्म की कोई भी खोज अहिंसक ही होती है, अहिंसक ही हो सकती है। यह अकारण नहीं है कि कोई भी आदमी चेतना के चाहे जिस बिंदु पर खड़ा रहा हो, अपने विश्वासों और संस्कारों में जैसा भी रहा हो, अगर वह आध्यात्मिक खोज की दिशा में ईमानदार है—तो वह अहिंसक होता जाता है। उसमें जितनी कमी रहती है, वह उसकी खोज की कमी बन जाती है। हम जितना ऊपर चढ़ सके, वहीं शिखर खत्म नहीं होता है। वह तो अभी आगे भी है और हमें बुलाता भी है। हम कितना जा पाते हैं और कितनी दूरी तय कर पाते हैं, यह हमारी सीमा और साधना का सवाल बन जाता है। आसमान तो अनंत फैला है! वह चील, जो आसमान के अनंत विस्तार में हमें किसी काले धब्बे-सी दिखाई देती है, वह भी अपने ऊपर एक और आसमान पाती है। कवि ने गाया भी है—

मेरे पथ में न विराम रहा!
कुछ और दूर
कुछ और दूर
कहता मैं आठों याम रहा
मेरे पथ में न विराम रहा।

[जानकीवल्लभ शास्त्री]

इसलिए अध्यात्म की कसौटी है—अहिंसा। अहिंसा की उपलब्धि है—अध्यात्म। दोनों ही हमारे भीतर संचित हैं। अपने लिए इन्हें खोजना और समाज के लिए इन्हें स्थापित करना भारतीय सांस्कृतिक क्रांति की दिशा है। यहां भारतीय शब्द स्थान-विशेष का द्योतक नहीं है, मूल्य-विशेष का द्योतक है। जो समस्त सृष्टि के लिए नहीं है, वह भारतीय नहीं है। जो भारतीय है, वह देश-काल की सीमा को पार करता है। आज के दौर में, जब हमें संस्कारवश इस तरफ खींचा जा रहा है कि सत्ता व संपत्ति का संचय ही असली सफलता है, विश्व की सबसे मजबूत आर्थिक हैसियत प्राप्त करना ही राष्ट्र का मकसद है—तब हमें इसके प्रति सावधान होना है कि अहिंसक संस्कार व आस्था के बगैर यह संपन्नता सारी दुनिया में यादवी मचाएगी और हम अपना कोई कृष्ण भी नहीं खोज सकेंगे। ❖

इतिहास का सार है अहिंसा

❑ नंदकिशोर आचार्य

जैसे हम स्वास्थ्य के नियम के उल्लंघन का परिणाम मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए घातक मानते हैं, उसी तरह हिंसा द्वारा इतिहास के नियम का उल्लंघन अस्वस्थ समाज का निर्माण करता है, इसी दृष्टि से इतिहास को भी समझना होगा। यदि एक की संपन्नता किसी अन्य के शोषण-दमन या छल-फरेब पर आधारित है तो उसे स्वस्थ संपन्नता नहीं कहा जा सकता—यह व्यक्ति के लिए भी सच है और राष्ट्रों और सभ्यताओं के लिए भी। इस दृष्टि से देखा जाए तो हिंसक—प्रकृति और मनुष्य दोनों के लिए हिंसक—प्रक्रियाओं के माध्यम से हुए विकास को हम मानव-सभ्यता का विकास नहीं कह सकते।

❑

इतिहास विज्ञान है अथवा नहीं—इस सवाल पर इतिहास-दर्शन के अध्येताओं में पर्याप्त मतभेद हैं, लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इतिहास मानव-जाति के मानसिक-बौद्धिक एवं भौतिक उपलब्धियों का अध्ययन है। इसलिए **डिल्थे** की इस परिभाषा को स्वीकार करना ही होता है कि विज्ञान प्रकृति का तथा इतिहास मनुष्य का अध्ययन है और क्योंकि वह अध्ययन है, इसलिए उसमें वैज्ञानिक विधियों का विनियोग वांछित ही नहीं, स्वाभाविक भी है, अर्थात् इस अध्ययन का स्वरूप वैज्ञानिक है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार **ई.एच. कार** की यह स्थापना विचारणीय लगती है कि वैज्ञानिक, समाज-वैज्ञानिक तथा इतिहासकार एक ही विषय की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करते हैं। इतिहास में वैज्ञानिक विधि के विनियोग का तात्पर्य तथ्यों की प्रामाणिकता तक सीमित नहीं रह जाता, क्योंकि **डार्विन** के विकासवाद के सिद्धांत की सर्वसम्मत मान्यता के बाद इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन की एक आवश्यक शर्त मानव-जाति के विकास का अध्ययन हो जाता है। मनुष्य क्योंकि प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्रकृति से उद्‌भूत तथा उसी का विकसित रूप है, अत: उसके विकास की पृष्ठभूमि और भविष्य के निर्धारण में सक्रिय नियम की खोज भी इतिहास के अध्ययन का प्रयोजन हो जाता है। इस नियम की खोज करते समय यह फर्क ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रकृति की विकास-प्रक्रिया 'प्राकृतिक चयन' के आधार पर चलती है, लेकिन आत्मचेतन अस्तित्व होने के कारण मनुष्य अपनी विकास-प्रक्रिया में सोद्देश्य हस्तक्षेप करने का सामर्थ्य भी पा लेता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह अपनी उपलब्धियों एवं भटकावों—दोनों के लिए स्वयं उत्तरदायी हो जाता है। इसीलिए

नैतिक सवाल भी मनुष्य के ही संदर्भ में उठते हैं, प्रकृति और पशुजगत के संदर्भ में नहीं। स्वयं **डार्विन** ने अपने एक अन्य ग्रंथ 'दि डिसेंट ऑफ मैन'—में यह स्वीकार किया है कि जीवन का मनुष्य रूप में अवतरण और नैतिकता का उदय सहजात हैं।

जब हम मनुष्य के विकास का जिक्र करते हैं तो हमारा वास्तविक तात्पर्य क्या होता है? क्या जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति के नियमों के आधार पर अपने लिए अनुकूल भौतिक वातावरण का निर्माण कर लेने तक विकास-प्रक्रिया को सीमित कर लेना विकास का वास्तविक तात्पर्य है? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि चींटी से लेकर मनुष्य तक जीवन के सभी रूप प्राकृतिक नियमों के आधार पर अपने संरक्षण-संवर्धन के लिए आवश्यक जैविक-भौतिक उपाय करते हैं। इसलिए भौतिक जीवन के विकास की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी विकास की प्रक्रिया और दिशा को वहीं तक सीमित नहीं किया जा सकता—बल्कि उस सीमा तक तो जीवन के अन्य रूपों और मनुष्य रूप की उपलब्धियों के बीच कोई गुणात्मक अंतर करना विज्ञान-सम्मत नहीं ठहराया जा सकता—सिवा इस के कि मनुष्य इन उपलब्धियों के पीछे सक्रिय नियमों का सजग ज्ञान रखता है, जबकि अन्य जीवन-रूप अपनी सहज प्रवृत्ति से संचालित होते हैं। लेकिन, दोनों ही वैज्ञानिक नियमों का उपयोग तो करते ही हैं।

मनुष्य क्योंकि जीवन का आत्मचेतन रूप और स्तर है, अत: उससे उत्तरदायी होने की अपेक्षा स्वाभाविक है—और यह उत्तरदायित्व जीवन मात्र के प्रति है, केवल उसके वैयक्तिक अस्तित्व तक उसे सीमित नहीं समझा जा सकता, क्योंकि चेतना संपन्न होने के नाते वह जीवन के अन्य रूपों, स्तरों और अन्य व्यक्तियों के जीवन के साथ अपने अस्तित्वगत ऐक्य से इनकार नहीं कर सकता। इसलिए सवाल यह उठता है कि क्या मानव-जाति का इतिहास इस अस्तित्वगत ऐक्य के बोध के विकास का साक्ष्य प्रस्तुत करता है? क्या प्रेम, मैत्री, सहकार, करुणा आदि भावों को—जो अस्तित्वगत ऐक्य के अनुभव के व्यावहारिक रूप हैं—हम मनुष्य जाति के विकास में केंद्रीय भूमिका में पाते हैं या घृणा, हिंसा और युद्ध मानव-विकास के निर्धारित घटक हैं? मानव-चेतना के विकास की दिशा अहिंसा की ओर है या हिंसा की ओर? क्या अहिंसा इतिहास-सम्मत मूल्य है? यदि ऐसा नहीं है तो वह केवल 'यूटोपिया' रहती है। इसे दो तरह से समझा जा सकता है। एक तो यह कि मनुष्य का विकास हिंसा के माध्यम से हुआ है या अहिंसा के माध्यम से और दूसरे यह कि इतिहास के अनुभव के आधार पर हम कैसा मनुष्य और समाज चाहते हैं? जब हम अनुभव के आधार पर कोई आकांक्षा करते हैं तो वह केवल वायवीय नहीं कही जा सकती, क्योंकि स्वयं मानव-इतिहास की प्रयोगशाला उसकी पुष्टि करती है। इतिहास मानव-जाति की प्रयोगशाला है, जिसमें भूलें और असफलताएं भी होती हैं, लेकिन वे सही वैज्ञानिक नियमों की खोज का रास्ता भी इंगित करती और भावी प्रयोगों का आधार बनती हैं।

× × ×

सामान्यत: इतिहास में साम्राज्य-निर्माणों और युद्धों तथा उनके कारणों-प्रभावों का वर्णन-विश्लेषण पाया जाता है। लेकिन, पिछली दो शताब्दियों में यह अधिक स्पष्ट रूप से समझा जाने लगा है कि साम्राज्य-निर्माण और युद्ध—यद्यपि मनुष्य को प्रभावित करते हैं—मनुष्य की विकास-प्रक्रिया का न तो नियम है, न लक्ष्य। यह समझ लिया गया है कि उनसे इस विकास-यात्रा में बाधा या भटकाव ही आता है। दरअस्ल, यह इस पर भी निर्भर करता है कि विकास से हमारा तात्पर्य क्या है। यदि हम विकास का तात्पर्य संपूर्ण मनुष्य-जाति का सांस्कृतिक-नैतिक विकास मानते हैं—चाहे उसके आधार-रूप में आर्थिक प्रक्रिया भी रहती हो—तो युद्धों और सैनिक-अभियानों को हम इसमें बाधा ही पाते हैं। तब हमें हिंसा को इतिहास के नियम की तरह नहीं, बल्कि उसके उल्लंघन के रूप में देखना होगा और उस उल्लंघन के मानव-समाज पर पड़ने वाले अस्वस्थ प्रभावों को भी समझना होगा—जैसे हम स्वास्थ्य के

नियम के उल्लंघन का परिणाम मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए घातक मानते हैं, उसी तरह हिंसा द्वारा इतिहास के नियम का उल्लंघन अस्वस्थ समाज का निर्माण करता है, इसी दृष्टि से इतिहास को भी समझना होगा। यदि एक की संपन्नता किसी अन्य के शोषण-दमन या छल-फरेब पर आधारित है तो उसे स्वस्थ संपन्नता नहीं कहा जा सकता—यह व्यक्ति के लिए भी सच है और राष्ट्रों और सभ्यताओं के लिए भी। इस दृष्टि से देखा जाए तो हिंसक—प्रकृति और मनुष्य दोनों के लिए हिंसक—प्रक्रियाओं के माध्यम से हुए विकास को हम मानव-सभ्यता का विकास नहीं कह सकते। यह इतिहास के हमारे अध्ययन का ही परिणाम है कि आज विश्व-जनमत हिंसा के स्थूल रूप युद्ध तथा उसके सूक्ष्म रूपों—किसी भी प्रकार के शोषण, दमन और उत्पीड़न को अनैतिक, अवांछनीय और मानव-अस्तित्व के लिए ही नहीं, जीवन-मात्र के लिए बाधक और घातक मानता है। स्पष्ट है कि इतिहास की प्रयोगशाला ने हिंसक प्रयोगों की असफलता को स्वीकार कर लिया है—चाहे व्यवहार में हिंसा आज भी दिखाई देती है, पर मानव-चेतना अहिंसा को ही मूल्य के रूप में स्थापित करने की ओर उन्मुख दिखाई देती है। यही कारण है कि हिंसा के रास्ते का अनुकरण करने वाले भी अपनी हिंसा को रक्षात्मक या विवशता बताने की कोशिश करते और मूल्य-स्तर पर अहिंसा की वांछनीयता को स्वीकार करते दिखाई देते हैं—चाहे दिखावे के लिए ही सही। कोई हिंसा को इसलिए उचित नहीं बताता कि अधिक शक्तिशाली होने के नाते उसे दिग्विजयी होने का अधिकार है। अब कोई भी 'वीरभोग्या वसुंधरा' अर्थात् 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम के नैतिक औचित्य को स्वीकार नहीं करता। यह सब कम-से-कम भावना और विचार के स्तर पर इतिहास के हिंसक प्रयोगों की व्यर्थता का स्वीकार है। हिंसक क्रांति में विश्वास करने वाले भी अपना लक्ष्य अंतत: एक शोषण-दमन से रहित अहिंसक समाज की स्थापना ही मानते हैं, जिसका तात्पर्य है कि मूल्य-रूप में तो वे भी अहिंसा को ही स्वीकार करते हैं—यह न समझते हुए कि जिसे वे मूल्य मान कर सिद्ध करना चाहते हैं, अपनी प्रक्रिया में वे स्वयं ही उसे खारिज कर दे रहे हैं।

इसका तात्पर्य यही है कि इतिहास अर्थात् मानव-विकास या मानवीय चेतना के विकास की दिशा अहिंसा की ओर उन्मुख है—अहिंसा ही इतिहास-सम्मत मूल्य है। अगर वैश्विक स्तर पर मानवाधिकारों को स्वीकृति मिली है—चाहे सैद्धांतिक स्तर पर ही सही—और सभी राष्ट्रों ने अपने को उससे प्रतिबद्ध किया है तो यह इतिहास में अहिंसा की सैद्धांतिक स्वीकृति का तो प्रमाण है ही, लोकतंत्र की सर्वसम्मत स्वीकृति भी अंतत: अहिंसक राज्य की परिकल्पना का ही स्वीकार है। यह नहीं कि हम हिंसा मुक्त हो गए हैं, लेकिन विश्व-समाज के स्वास्थ्य के नियम के रूप में तो अहिंसा ही स्वीकार की गई है।

यही कारण है कि बहुत-से विचारक अहिंसा को केवल आदर्श नहीं, बल्कि इतिहास के नियम के रूप में स्वीकार करते हैं। **महात्मा गांधी** कहते हैं—'अगर दुनिया की कथा लड़ाई से शुरू हुई होती, तो आज एक भी आदमी जिंदा न बचता····· दुनिया लड़ाई के हंगामों के बावजूद टिकी हुई है। इसलिए लड़ाई के बल के बजाय दूसरा ही बल इसका आधार है। हजारों, बल्कि लाखों लोग प्रेम के बल रह कर अपना जीवन बसर करते हैं। करोड़ों कुटुंबों का क्लेश प्रेम की भावना में समा जाता है, डूब जाता है। सैकड़ों राष्ट्र मेलजोल से रह रहे हैं, इसको 'हिस्टरी' 'नोट' नहीं करती, 'हिस्टरी' कर भी नहीं सकती। जब इस दया की, प्रेम की और सत्य की धारा रुकती है, टूटती है, तभी इतिहास में वह लिखा जाता है।' **महात्मा गांधी** को आध्यात्मिक विचारक माना जाता है। लेकिन, पूर्णतया भौतिकवादी विचारक **एम.एन. राय** भी यही बात कहते हैं—वह 'प्रेम' या 'मेलजोल' के स्थान पर 'सहकार' शब्द का प्रयोग करते हैं—'यह सही है कि मनुष्य का प्राथमिक सरोकार उसका अपना अस्तित्व है, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि उसकी स्वार्थ वृत्ति अपना ही अतिक्रमण

करने के सामर्थ्य को उपजाती है। वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत इस तथ्य की अनदेखी करता है कि सहकार सदैव ही एक दृढ़तर सामाजिक कारक रहा है। अन्यथा, सभ्यता के प्रारंभ में ही समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता।'—राय, भौतिकवादी होने के नाते, नैतिक चेतना को भी जीवन के विकास की भौतिक प्रक्रिया से ही उद्‌भूत मानते हैं, लेकिन यह नैतिकता मानव-स्वातंत्र्य की उनकी विज्ञान-सम्मत परिकल्पना का ही एक आयाम है। **डॉ. राममनोहर लोहिया** स्वतंत्रता और समता को इतिहास की प्रेरक प्रवृत्तियां मानते हैं, जो अंततः, विश्व-बंधुत्व में पर्यवसित होती हैं—वसुधैव कुटुंबकं—और ये सब अहिंसा की ही इतिहास सम्मत व्यावहारिक व्याप्तियां हैं।

जब हम कहते हैं कि मनुष्य जीवन की विकास-प्रक्रिया का एक स्तर है, तब उसका एक मानी यह भी होता है कि वह विकासशील चेतना है, क्योंकि चेतना जीवन का ही गुणोत्कर्ष है और इसलिए, जीवन की विकास-प्रक्रिया का एक अर्थ चेतना का विकास हो जाता है—खासतौर पर मनुष्य के संदर्भ में। आत्मरक्षा जीवन की सहज प्रवृत्ति है, लेकिन चेतना का विकास होने पर आत्म का दायरा विस्तृत होता जाता है, क्योंकि अपने और शेष जीवन के साथ एक तात्त्विक ऐक्य का भाव विकसित हो जाता है। संतान, परिवार, जाति, धर्म, वर्ग, राष्ट्र आदि आत्म के इसी विस्तार के दायरे हैं और दायरे हैं, इसलिए उनसे होने वाली आत्म की पहचान और इनके माध्यम से जीवन के एकत्व के बोध की एक सीमा है, जिसे न समझ पाने पर आत्म का विस्तार और उसकी पहचान बाधित होती है। तब वह न केवल निर्दोष सत्य नहीं हो सकती, बल्कि कई बार उसी को अंतिम मान लेने पर एक आत्म-प्रवंचना हो कर न केवल जीवन और चेतना के विकास में बाधा बल्कि एक प्रकार की आत्म-हिंसा भी हो जाती है। नस्लवाद, राष्ट्रवाद, संप्रदायवाद, वर्गवाद, साम्राज्यवाद और आर्थिक विकास के नाम पर इतिहास में जो हिंसा घटित होती रही है, वह इतिहास के नियम के उल्लंघन का परिणाम है—इतिहास का नियम नहीं। **तोलस्तोय** ने कहा है कि—'विवेक अनिवार्यता के नियम को व्यक्त करता है, चेतना स्वतंत्रता के सार को व्यक्त करती है।' विवेक वैज्ञानिकता है और अहिंसा मूल्य-चेतना का सार, अर्थात् विवेकसम्मत स्वतंत्रता। ❖

आर्थिक व्यवहार : अध्यात्म, नीतिमत्ता और शरीर-धर्म

❑ प्रो. सुदर्शन आयंगार

जो सच्चा नीतिशास्त्र है, वह अच्छा अर्थशास्त्र भी होना चाहिए। वैसे ही सच्चा अर्थशास्त्र ऊंचे से ऊंचे नैतिक मापदंडों का विरोधी नहीं हो सकता है। जो अर्थशास्त्र धनपूजा का उपदेश देता रहता है और निर्बल लोगों की कीमत पर सबलों को धनसंचय करने देता है—वह गलत शास्त्र है। वह घातक है। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय के लिए होना चाहिए।

❑

धर्म और अध्यात्म के संदर्भ में अहिंसा और अर्थशास्त्र के संबंधों की चर्चा आदिकाल से ही होती आई है। मनुष्य जन्म के ऊर्ध्वगामी ध्येयों में मोक्षप्राप्ति को श्रेष्ठ ध्येय माना मया है। यह ध्येय आत्मोन्नति से जुड़ा हुआ है। शरीर के साथ आत्मा का अवश्यंभावी जुड़ाव शरीर-धर्म का निर्वाह और उससे संबंधित व्यवहारों में आर्थिक व्यवहार को अनिवार्य करता है। आर्थिक व्यवहारों के कारण ही भौतिक संसार का निर्माण हुआ और उसके बढ़ते हुए प्रभाव को लेकर शास्त्रीय वाद-विवाद भी हुए।

हिंदू धर्म में अनात्मवाद भी स्वीकृत है। शरीर का होना ही सत्य है, ऐसी मान्यता और दर्शन पर आधारित अर्थशास्त्र भौतिक दुनिया का निर्माण करने के लिए ही विकसित हुआ है। आत्मवाद के दर्शन में भी शरीर मिथ्या नहीं है—यह स्वीकृत है। शरीर-धर्म निभाने के लिए भौतिक संसार की रचना सहज है, परंतु इस प्रक्रिया से गुजरते हुए मनुष्य अपने आत्मोन्नति के मार्ग से भटक जाता है और इसी से मनुष्य जीवन के ऊर्ध्वगामी मूल्यों का टकराव मूलतः शरीर-धर्मी तथा भौतिक मूल्यों से होता है। इसी ऐतिहासिक विवाद की एक कड़ी प्रस्तुत लेख है। पर, हां! इतनी स्पष्टता के साथ कि यह लेखक कोई विद्वान तत्त्ववेत्ता नहीं है। अर्थशास्त्र को समझते हुए जो प्रश्न उठे हैं, उनके आधार पर इस लेख में कुछ मुद्दों पर चर्चा प्रस्तुत की गई है।

भौतिक संसार के निर्माण और विकास की प्रक्रिया में भौतिकता की घनिष्ठता और तीव्रता बढ़ने पर हर तरह की हिंसा बढ़ जाती

है। इसके मूल में लोभ, अति परिग्रह और अनीति है। परिग्रह का कारण और परिणाम भोग और अति भोग है। इस प्रक्रिया में सत्य और ब्रह्मचर्य का भी नाश होता है। इस तरह मनुष्य जीवन की मोक्षमुखी उदात्त यात्रा की दिशा बदल जाती है। अहिंसक और संवादी समाज होने की जगह वह हिंसाभिमुखी हो जाता है। भौतिक संसाधनों पर अंकुश हासिल करना, उसके द्वारा उत्पादन और उपभोग के साधनों का निर्माण करना और उनका निस्सीम उपभोग करना ही आर्थिक व्यवहार का मुख्य ध्येय बन जाता है। ऐसे में हिंसा छद्म और प्रकट—दोनों स्वरूप धारण करती है।

चूंकि हिंसा भोगवादी अर्थकारण का एक अवश्यांग ही बन जाती है, अतः यह जानना आवश्यक है कि अहिंसा और अर्थशास्त्र का संबंध कैसा हो सकता है। इसीलिए प्रस्तुत लेख में अहिंसा और अर्थशास्त्र के बीच के संबंधों की चर्चा की गई है। यह लेख तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग में धर्म और अर्थशास्त्र की चर्चा के आधार पर अहिंसा और अर्थशास्त्र के संबंध को समझने की कोशिश है। दूसरे भाग में आधुनिक अर्थशास्त्र में निहित धार्मिक मूल्यों की उपस्थिति या अनुपस्थिति को समझने की कोशिश करेंगे। इसमें विशेष ध्यान अहिंसा के मूल्य पर केंद्रित होगा तथा तीसरे और अंतिम भाग में हम अध्यात्मोन्मुखी धर्म और शरीर-धर्मी आर्थिक व्यवहारों के बीच शरीर-धर्म की अनिवार्यता के संदर्भ में अहिंसा के मूल्य पर आधारित अर्थव्यवस्था की संभावना का परीक्षण करेंगे।

1

भारत में अर्थ-व्यवहार संबंधी शास्त्रीय चर्चाएं आत्मवादी और अनात्मवादी—दोनों विचारधाराओं में हुई हैं। आत्मवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व मात्र शारीरिक नहीं है, आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकृत है। मनुष्य जीवन का मूल ध्येय आत्मोन्नति और मोक्ष है। अतः मनुष्य का व्यक्तिगत और सामूहिक आयास मूल ध्येय की दिशा में ही है। विश्व के लगभग सभी संस्थीकृत धर्मों में शरीर-धर्मी जीवन व्यवहार में व्यक्तिमूलक नैतिक मूल्यों का प्रवेश करा कर व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार को मूल ध्येय की दिशा देने की कोशिश की गई है। यह प्रयत्न अधिक सफल नहीं हुआ है, परंतु इसकी कोशिश अभी भी जारी है और लगता है कि जारी रहेगी। मनुष्य जीवन की यात्रा में यह प्रयत्न अथक है। इस विचारधारा के ठीक विपरीत अनात्मवाद शरीर के अस्तित्व को ही परम सत्य मान कर सामूहिक अस्तित्व को टिकाने के लिए व्यवहार नीतियों का निर्माण करता है।

धर्म को समग्र दृष्टि से समझने से धर्म में ही अर्थ, काम और मोक्ष का समावेश हो जाता है और इस भांति अर्थ भी धर्म है। परंतु, पृथक दृष्टि से देखें तो अर्थ शरीर केंद्री और धर्म आत्मा केंद्री है। अर्थ का अनुष्ठान लौकिक सुखाकारी के लिए है। हिंदू शास्त्रों की धर्म-दृष्टि में यह स्पष्ट है कि आत्मा शरीर के बिना अकेला ही धर्म का आचरण नहीं कर सकता है। शरीर मात्र पांच यम-नियम—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अस्तेय के सहारे टिक नहीं सकता। उसे अन्न-वस्त्रादि की आवश्यकता होती ही है। और, इसके लिए भौतिक साधनों की जरूरत भी होती ही है। प्रश्न अर्थ को धर्म के अनुकूल करने का है।[1] इसमें कभी धर्म सफल हुआ है, तो कभी दोनों में विरोध तीव्र हुआ है। अर्थ-व्यवहार की नींव में धर्म मूल्य तो हैं ही। आर्थिक व्यवहार भी बिना सत्य और अहिंसा के नहीं चल सकता है। विश्वास के बिना व्यापार कैसे संभव हो पाएगा? परंतु, व्यापार में मिथ्या प्रवेश भी होता ही है। अर्थ-व्यवहार में इस प्रकार की परिवर्तनशील भूमिका को देखते हुए पंडित ईश्वरचंद्र शर्मा लिखते हैं—इस कारण धर्मशास्त्र की दृष्टि में व्यापार ऋतानृत है।[2] अर्थात्—अर्थ का व्यवहार सत्य और मिथ्या मिश्रित है।

लोकतंत्र से बहुत पहले राजाओं के काल ही से भारत और पृथ्वी के अन्य भूभागों में राजनीतिक अर्थशास्त्र[3] प्रचलित हो चुका था। इन अर्थशास्त्रों में आत्मलक्षी धर्म-मूल्य दिखाई तो पड़ते हैं, परंतु अर्थ की सिद्धि के लिए व्यवहार कुशल व्यवस्था पर ही भार नजर आता है। इस संदर्भ में कौटिल्य के अर्थशास्त्र को

थोड़ी गहराई से देखने की जरूरत है और इसे देख कर अर्थ और धर्म के संबंध को समझा जा सकता है। चूंकि धर्म और अर्थ के संघर्ष की चर्चा जितनी भारत में हुई है, उतनी शायद ही बाहर की दुनिया में हुई होगी। साथ ही यह मर्यादा भी है कि बहुत व्यापक चर्चा को इस एक ही लेख में समाविष्ट कर लेना संभव नहीं होगा। एक अन्य सबल कारण यह भी है कि अति प्राचीन अर्थशास्त्र उपलब्ध नहीं हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उस ज्ञान का अच्छा संकलन किया है, ऐसा वह स्वयं पहले ही श्लोक में कहते हैं[4]—**पृथिव्यालाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम।1।**

पश्चिमी समाज में वास्तवदर्शी अर्थशास्त्र का जो विकास हुआ, उससे बहुत पूर्व ही भारत में उसकी नींव डल चुकी थी। मात्र इतना ही नहीं, उसको एक तरह से धर्म की स्वीकृति भी मिल गई थी। इसका कारण यह था कि अर्थ का स्वरूप स्थूल है और मनुष्य उसे इंद्रियों से महसूस कर सकता है। जहां वह प्रत्यक्ष नहीं है, वहां प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान से स्थापित किया जा सकता है। मनुष्य के हवा में और उसके पश्चात् ब्रह्मांड में उड़ान भरने के लिए साधनों का आविष्कार करना—प्रत्यक्ष-मूलक अनुमानों और उनसे स्थूल स्वरूपों को सिद्ध करने के उदाहरण हैं। स्थूल पर अधिकाधिक ध्यान केंद्रित करने के कारण मनुष्य अतींद्रिय बना और अर्थ-व्यवहारों के आधार पर बना अर्थशास्त्र आत्मावादी विचारों और स्थापनाओं से विमुख हो गया। उन पर शास्त्र का विश्वास शिथिल होता गया। लाभ संबंधी विचारों को रखते हुए कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहा गया है[5]—

नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थो अतिवर्तते।
अर्थो ह्यअर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः।।37।।
नाधनाः प्राप्नुवन्त्यार्थान्नरा यत्नशतैरपि।
अर्थैरर्थाः प्रबध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव।।38।।

इस श्लोक का संक्षिप्त अर्थ इतना ही है कि जो अजान, अबोध लाभ के लिए नक्षत्रों वगैरह की पूछताछ करते रहते हैं, कार्यसिद्धि उनको छोड़ कर आगे निकल जाती है। जिस तरह हाथी को पकड़ने के लिए हाथी की ही जरूरत होती है, वैसे ही अर्थ के लिए अर्थ ही नक्षत्र है। वहां तारे क्या कर सकते हैं?

उपरोक्त श्लोक को चाहे इतना महत्त्व न दें और चूंकि कौटिल्य ने कई स्थलों पर शासन में नीति की बात भी रखी है, परंतु शास्त्र के आधार में कुछ ऐसी स्थापनाएं भी की हैं कि शास्त्र आत्मवादी धर्मनीति से विमुख तो होता ही है। जितना पंडित शर्मा समझते हैं, उतने दर्जे तक कौटिल्य अनात्मवादी विचारकों का समर्थन नहीं करते हैं।[6] कौटिल्य प्रथम अधिकरण के दूसरे अध्याय से अलग-अलग विद्याओं की स्थापना करते हैं और अंत में अपना पक्ष रखते हैं। अपना पक्ष रखने से पहले वे शास्त्रों में स्वीकृत विद्याओं को परिभाषित करते हैं।

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति—यह चार विद्याएं हैं। मनु और उनके मत को मानने वाले आन्वीक्षिकी को अलग विद्या न मान कर उसे त्रयी का भाग बताते हुए, तीन विद्याओं को ही स्वीकार करते हैं। जबकि आचार्य बृहस्पति वार्ता और दंडनीति को ही स्वीकार करते हैं। यही मत आचार्य चार्वाक और उनके सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वालों का भी रहा है। कौटिल्य के अनुसार बृहस्पति चार्वाक के ही अनुगामी हैं।[7] मात्र लौकिक अस्तित्व को मानने वाले लोकायतिक (चार्वाक और उनके अनुयाई) त्रयी अथवा वेद विद्या को आडंबर मानते हैं। शुक्राचार्य, जो असुरों के गुरु व आचार्य हैं—वे व उनके अनुगामी सिर्फ दंडनीति को ही विद्या मान कर यह दर्शाते हैं कि दंडविद्या में ही अन्य सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है।

उपरोक्त चर्चा इसलिए प्रस्तुत है, क्योंकि शरीर-धर्म निभाव तथा आत्मोन्नति के लिए कौन-सी विद्याओं पर विशेष भार देना होता है—वह स्पष्ट हो सके। त्रयी अथवा वेद विद्या मनुष्य को धर्म-अधर्म की व्याख्या कर उसके भेद बताती है। वार्ता लौकिक संसार के कर्म कृषि, व्यापार व धन वृद्धि विद्या का संग्रह है। अर्थशास्त्र का उद्भव स्थान वार्ता हो सकता है। दंडविद्या में राजनीति

तथा कुटिलनीति का विवेचन होता है। आन्वीक्षिकी विद्या के बारे में कौटिल्य ने कहा है—

बलाबले चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेअभ्युदये च बुधिमवस्थापयति प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारध्यञ्च करोति[8]।

इन विद्याओं (त्रयी, वार्ता और दंड) की सार्थकता और निरर्थकता को हेतुवाद से सिद्ध कर संसार का उपकार करना, विपत्ति और संपत्ति में बुद्धि स्थिर रखने की शिक्षा देना, बुद्धिमत्ता, वाक्चातुर्य तथा कार्य में कुशलता उत्पन्न करना—ये सभी कार्य आन्वीक्षिकी विद्या के कार्य हैं। आन्वीक्षिकी विद्या विज्ञान शास्त्र भी कहलाती है और न्यायविद्या भी। इस विद्या-विशेष को इतना महत्त्व देने के बाद कौटिल्य अगले ही अध्याय में दंडनीति के महत्त्व पर आ जाते हैं और कहते हैं कि दंडनीति पर विश्वास करने वाले यही मानते हैं कि सभी विद्याओं का योग्य संचालन अच्छी और सबल दंडनीति के बल पर ही हो सकता है। अतः किसी भी राजा को अपनी दंडनीति को निर्बल नहीं होने देना चाहिए। जिस राजा की दंडनीति कठोर होती है, वही राजा सफल होता है। परंतु, कौटिल्य कठोर दंडनीति का प्रतिपादन नहीं करते हैं और कहते हैं, **'नेति कौटिल्य'**। कौटिल्य मानते हैं कि त्रयी, वार्ता और आन्वीक्षिकी विद्याएं दंडनीति के अधीन ही होती हैं, परंतु राजा को नरम दंडनीति का आधार लेना चाहिए और दंडनीति का संचालन विवेकपूर्ण होना चाहिए।

कौटिल्य की स्थापनाओं को थोड़ी गहराई से देखें, तो पता चलता है कि शरीर-धर्म के निभाव के लिए आर्थिक व्यवहार का तंत्र और उसका संचालन दंडनीति के आधार पर ही रहेगा, पर उस दंडनीति में अन्य विद्याओं का समावेश भी होगा ही। इसकी मुख्य जवाबदारी राजा की और उसके बनाए अधिकारी वर्ग की होगी। त्रयी और आन्वीक्षिकी विद्या को तिरस्कृत कर बृहस्पति और शुक्राचार्य के मार्ग पर—वार्ता और दंडनीति पर ही आधार रख कर—राजा चलेगा तो या तो लोकायतिक सिद्धांतों की पुष्टि होगी, अथवा मात्र दंडनीति के सहारे चलने वाले आर्थिक व्यवहारों में प्रजाजन पर अत्याचार होगा। मात्र दंडनीति से शासन करना असुर संस्कृति की पहचान थी। आसुरी संस्कृति भी अनात्मवादी विचारधारा का प्रतिपादन करती है। आसुरी संस्कृति में शरीर का अस्तित्व ही मुख्य है। मात्र वार्ता विद्या में ही आस्था और मान्यता रखने वाले और उसका प्रतिपादन करने वाले चार्वाक और उनके अनुयाई हुए। चार्वाक भी अनात्मवादी थे। इस विचारधारा में समस्त मनुष्य जीवन शरीर से आरंभ होकर, शरीर के साथ ही शेष हो जाता है। इसलिए शरीरसुख ही अंतिम है। ऐसी सभ्यता संपूर्ण तौर पर शरीर केंद्री होती है। चार्वाक या लोकायतिक विचारधारा—एक अथवा दूसरे स्वरूप में हर काल में प्रवर्तमान रहती है। चार्वाक के सिद्धांतों को आज भी हम प्रतिपादित होते देख पा रहें हैं—**ऋणं क्रत्वा घृतं पिबेत, यावत जिवेत सुखं जिवेत**—में आस्था रखते हुए पश्चिमी समाज का आम नागरिक बहुमत अनात्मवादी ही हो गया है अथवा उसका पूरा ध्यान शरीर तक सिमट कर रह गया है।

उसी तरह राजा अथवा शासकवर्ग भी अगर प्रमादी, शरीर प्रेमी व भोगी होगा, तो वह प्रजा का भौतिक और आत्मिक कल्याण—दोनों ही नहीं कर पाएगा। कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण का छठवां अध्याय इंद्रियजय पर है। जो राजा इंद्रियों के वश में हो गए, उनका किस तरह से ह्रास हुआ और किस तरह उनकी प्रजा का विनाश हुआ—यह इस अध्याय में दर्शाया है। इसलिए राजा तथा शासकवर्ग को भी षडरिपुओं को जीतना ही होगा। षडरिपुओं को जीतने का अर्थ है कि त्रयी और आन्वीक्षिकी विद्याओं के सहारे अपने व्यक्तित्व को नैतिक स्तर पर निखारना और वार्ता विद्या के घटकों का आयोजन कर और दंडनीति के आधार पर उनका संचालन करना। इस तरह पहली दो विद्याएं व्यक्ति को केंद्र में रख कर व्यक्ति की समझ को बढ़ाना है और विवेक को विकसित करना है। ये विद्याएं समाज के हर एक व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं। इन विद्याओं के दर्शनानुसार जीने के लिए और राज्य संचालन की साधना करने के लिए नियमों का पालन

करना होता है। व्यक्ति विकास के लिए बने नियम ही यम-नियम हैं। इन यम-नियमों में से एक अहिंसा है। इस तरह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा और प्रजा से यह अपेक्षा है कि वे अपने और अन्य के सुचारु संचालन के लिए षडरिपु पर विजय पाने का निरंतर प्रयास करते रहें और इस माध्यम से अहिंसा के मूल्य से जुड़े रहेंगे। इतनी स्पष्टता आवश्यक है कि तंत्र संचालन के लिए दंडनीति का ही विधान है। अलबत्ता राजकीय तथा सामाजिक व्यवहार संचालन में अहिंसा का होना अनिवार्य नहीं माना गया है। उलटे दंडविधान में हिंसा अनिवार्य है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अर्थ-व्यवहारों में अनीति करने पर अधिकतर तो मुद्राओं के स्वरूप में दंडविधान है, पर कहीं-कहीं हिंसक दंड का भी प्रावधान है। सारानुरूप देखें तो कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समाज दर्शन में अहिंसा मूल्य के रूप में विद्यमान है, चाहे वह परोक्ष तौर पर ही है।

पश्चिमी समाज की बौद्धिक भाषा के अनुरूप कहें, तो कौटिल्य का अर्थशास्त्र 'पॉजिटिव इकोनॉमिक्स' नहीं है। उसमें 'नॉरमेटिव इकोनॉमिक्स' के तत्त्व विद्यमान हैं। इस तरह तंत्र की स्थापना के लिए व्यक्ति विशेष के कर्तव्य भी अति आवश्यक हैं। मात्र तंत्र निर्माण से ही मूल्यनिष्ठ शासन और आर्थिक व्यवहार संभव नहीं है—ऐसा स्पष्ट हो जाता है। शासन करने वाला राजा हो या शासित प्रजाजन की इकाई, उस इकाई का मूल ध्येय और इसलिए देह-धर्म मोक्षाभिमुखी होगा, ऐसा मान कर षडरिपु को अंकुश में करना ही श्रेष्ठ कर्तव्य माना गया है। यही स्थापना महात्मा गांधी की भी है और इसके बारे में इस लेख के तीसरे भाग में विस्तार से देखेंगे। अर्थ शरीर का और धर्म आत्मा के कल्याण का साधन है। अर्थशास्त्र में अर्थ का अधिक प्रतिपादन होगा, यह समझ में आ जाता है। पर, उसमें धर्म का सर्वथा अभाव हो जाए—यह सोचना एंकदम गलत होगा। अर्थशास्त्र कई अवसरों पर धर्म से दूर हो जाता है, ऐसे समय में शास्त्र स्पष्ट है। जहां धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का विरोध हो, वहां धर्मशास्त्र बलवान है—**अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः।**

हिंदू धर्म के मूल मूल्यों से निर्मित हुए दो और धर्म हैं—जैन और बौद्ध धर्म। दोनों ही धर्मों में अर्थशास्त्र के बारे में विचारणा की गई है। जैन धर्म का मूल अहिंसा है। स्वाभाविक है कि इस धर्म का पालन करने वालों के लिए व्यवहार में भी अहिंसा का पालन आवश्यक होगा। भगवान महावीर, जो चौबीसवें तीर्थंकर हुए, उन्होंने त्याग और संयम के दो मुख्य नियम प्रस्थापित किए। इन नियमों में से एक और नियम अपरिग्रह निष्पन्न हुआ। आर्थिक व्यवहारों में अपरिग्रह का पालन करने से अहिंसा अपने आप स्थापित होती है। वर्तमान साहित्य में महावीर के इस योगदान का अच्छा वर्णन आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने किया है।[9] उनके ज्ञान के आधार पर एस. एल. गांधी ने एक लेख में भगवान महावीर के योगदान की उपयुक्त चर्चा की है। पहले महावीर स्वामी के विचार-तत्त्व को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में देखें—

महावीर स्वामी के दर्शन में हिंसा और परिग्रह—दोनों ही आत्मा और चेतना के विकास में बाधक हैं। इस तरह अपरिग्रह ही महावीर स्वामी के आर्थिक व्यवहारों में नीति का बीज-मंत्र है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी लिखते हैं कि—हिंसा और परिग्रह तथा अहिंसा और अपरिग्रह अलग शब्द प्रतीत होते हैं और उनके अर्थ भी अलग मालूम होते हैं, परंतु दोनों ही शब्दयुग्म सहवर्ती हैं। परिग्रह और अपरिग्रह कारण हैं, हिंसा और अहिंसा परिणाम हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी जैन अर्थशास्त्र को अहिंसा सापेक्ष मानते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विचारों का ही विस्तार करते हुए एस. एल. गांधी अपने लेख में महावीर स्वामी के आर्थिक विचार तत्त्व को समझाते हैं।[10] गांधी के अनुसार महावीर स्वामी ने मनुष्य की इच्छाओं व उसके व्यवहार का सूक्ष्म अध्ययन करके संयम और अंकुश के लिए बारह-सूत्र बनाए, जिनमें पांच मुख्य और शेष सात पूरक हैं—**स्थूल प्रणतिपतविरमन, स्थूल प्रसवदविरमन, स्थूल अदत्तदानविरमन, स्थूल मैथुनविरमन और स्थूल परिग्रहविरमन**—यह पांच मुख्य अणुव्रत हैं।[11] सात पूरक अणुव्रतों के अर्थ कुछ ऐसे हैं—अत्यधिक

दूरियों तक यात्राएं न करना। आस-पास के पर्यावरण को विचार, शब्द या कर्म से तहस-नहस नहीं करना, नियत समय के लिए पाप-वृत्तियों से दूर रहना, पवित्र दिवसों में उपवास करना, एकांत स्थलों पर विशेष मर्यादाओं का पालन करना, घुमंतू संतों को दान देना और भोग्य व अभोग्य पदार्थों का मर्यादित उपभोग करना। इनमें से एक **यथासंविभाग व्रत** कहलाता है। जिसका यह अर्थ भी है कि संसाधन, खाद्य सामग्री और अन्य दैनिक उपयोग के पदार्थों का आपस में मिल-बांट कर उपयोग करना। भगवान महावीर कहते हैं—जो ऐसा करने से कतराता है, वह कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। एस. एल. गांधी लिखते हैं कि महावीर स्वामी का एक यही पूरक अणुव्रत मूल्यनिष्ठ अर्थकारण की स्थापना में पूरा सहायक हो सकता है। इस तरह जैन धर्म का अपना अलग अर्थशास्त्र न होते हुए भी, अर्थ-व्यवहारों में **अपरिग्रह** और **यथासंविभाग व्रत** के पालन से व्यक्तिगत स्तर पर अहिंसा की स्थापना होती है। व्यक्ति-स्तर की स्थापना से ही समष्टि-स्तर की स्थापना की ठोस नींव पड़ती है।

बौद्ध धर्म में सामान्य मानवी को अपना दैनिक व्यवहार किस तरह से चलाना चाहिए, इस पर अधिक विचार हुआ है और उससे संलग्न विचार भी रखे गए हैं। बौद्धं धर्म का मूल मूल्य करुणा है। इस मूल्य से निर्मलता प्रकट होती है। अन्य धर्म शास्त्रों में रहे आर्थिक दर्शनों की चर्चा-विचारणा की तुलना में बौद्ध धर्म में रहे आर्थिक विचार दर्शन की चर्चा अधिक और ठोस हुई है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश अर्थशास्त्री ई. एफ. शुमाकर ने 'बुद्धिस्ट इकोनॉमिक्स' को प्रचलित किया। उनकी समझ में बौद्ध अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में मानव सभ्यता का हार्द निर्मल और पवित्र मानव चरित्र है। केंद्र में मानव है—पदार्थ नहीं और केंद्र में उपभोग नहीं, सर्जनात्मक क्रियाशीलता है।[12] बुद्ध के उपदेश में **सत्य की खोज** अथवा **आत्म-खोज** की ओर जाने के लिए **आर्य अष्टांगिकमार्ग** का विधान है। यहां आर्य का अर्थ पवित्रता से भी है। इन आठ मार्गों में से एक मनुष्य के आर्थिक व्यवहारों से सीधा संबंधित है, पर पहले यह जान लेना चाहिए कि इस **आर्य अष्टांगिकमार्ग** के दो प्रमुख भाग हैं। प्रथम *दर्शन-मार्ग* है और द्वितीय *भावना-मार्ग* है। अष्टांग मार्गों में एक मार्ग *दर्शन-मार्ग* से जुड़ा है और वह है—सम्यक् दृष्टि। यहां दृष्टि का सीमित अर्थ देखने मात्र से नहीं है। यहां दृष्टि का तात्पर्य दर्शन से ही है। *भावना-मार्ग* के लिए प्रशस्त अन्य सात मार्गों में से एक और महत्त्वपूर्ण मार्ग **सम्यक् आजीव** या **सम्मा आजीव** है।[13]

बुद्ध भगवान के मूल उपदेश में मात्र इतना इंगित है कि किस तरह के आर्थिक व्यवहार वर्जित होने चाहिए। इस उपदेश के अनुसार कोई भी आजीविका या व्यवसाय जो किसी अन्य जीव को हानि अथवा पीड़ा पहुंचाए अथवा व्यक्ति को पतन की ओर ले जाए, वह नहीं करना चाहिए। आजीविका नेक, शांतिमय, तथा हानि रहित व्यवसायों द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए। भगवान बुद्ध ने पांच व्यवसायों को निषिद्ध माना था। वे हैं—कसाई व मांस का व्यवसाय, विष का व्यापार, युद्ध के हथियारों का व्यवसाय, दास तथा गणिकाओं का व्यवसाय और शराब और नशीली दवाओं तथा तत्त्वों का व्यवसाय। इनके साथ-साथ भगवान बुद्ध ने आडंबर, ठगी, छल-कपट और हर प्रकार के गोरख-व्यवसायों को भी अपने अनुयाइयों के लिए निषिद्ध बताया था। बुद्ध के उपदेश को व्यापक अर्थ में समझें तो **सम्मा आजीव** अहिंसा समाज की कुंजी है। जीव-सृष्टि मात्र के प्रति अहिंसा भाव रखते हुए अपनी आजीविका चलाना ही बौद्ध अर्थशास्त्र की नींव है। जीव-सृष्टि के प्रति अहिंसा का भाव करुणा का भाव है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में अहिंसा ही करुणा का स्वरूप धारण करती है। यही करुणा अनुकंपा में परिवर्तित होकर **सम्मा आजीव** की ओर ले जाती है।

उपरोक्त संदर्भ में कुछ वर्षों पूर्व ही एक व्याख्यान में बौद्ध अर्थशास्त्र का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए रूसी अर्थशास्त्री स्टांसिलाव मॅनशिकोव ने कहा था कि परमार्थी होना और करुणावान होना, दोनों एक ही बात नहीं है। बिना करुणावान हुए या किसी प्रकार की अनुकंपा के बिना भी परमार्थी हुआ जा सकता है, पर अनुकंपा से किया हुआ परमार्थ गुणात्मक तौर पर ऊंचा होता

है। तिब्बत हाउस में 2005 में दिए चौदहवें पद्मपाणि व्याख्यान में[14] परमार्थ और अनुकंपा के बीच भेद करते हुए उन्होंने कहा है कि परमार्थ की प्रक्रिया में अपने उपभोग और संतोष में किसी भी प्रकार की कमी लाए बिना दूसरों को कुछ दान स्वरूप देकर उनका कल्याण बढ़ाया जा सकता है। जबकि अनुकंपा की प्रक्रिया में अपने उपभोग में से ही कुछ अंश निकाल कर औरों के कल्याण के लिए दिया जाता है। यह गुणात्मक अंतर है। पहली प्रक्रिया में औरों को स्वेच्छा से देने पर भी कुल संसाधनों का उपयोग बढ़ता है, जबकि अनुकंपा से प्रेरित कार्य उपलब्ध संसाधनों से ही कल्याण वितरण की समानता में वृद्धि करता है। उन्होंने इस भाव को बौद्ध अर्थशास्त्र में विकसित किया है। दोनों ही अर्थों में बौद्ध अर्थशास्त्र अहिंसा के अधिक निकट है।

भारत-मूल के धर्मों की तरह विश्व के अन्य धर्मों में भी अर्थ-व्यवस्थाओं में नीतिमत्ता की बात भार पूर्वक कही गई है। सादगी और ईमानदारी से आजीविका चलाने के उपदेश ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी मिलते हैं। इतनी बात को ध्यान में रखते हुए विश्व के धर्मों में अर्थकारण और अर्थ-व्यवस्थाओं में अहिंसा का मूल्य स्थापित है। ऐसी स्थापना करते हुए, आधुनिक अर्थशास्त्र में अहिंसा का क्या स्थान है—यह हम अगले भाग में देखेंगे।

2

आधुनिक अर्थशास्त्र अधिक पुराना नहीं है। उसका इतिहास कोई तीन या साढ़े तीन सौ वर्ष पुराना कहा जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्‌भव स्थान यूरोप और फलने-फूलने का स्थान अमरीका है। संस्कृतियों के अलगाव के संदर्भ में इन समाजों को पश्चिमी समाज कहा जाता है और भारत-चीन-जापान और सुदूर पूर्वी देशों का समाज पूर्वी समाज कहलाता है। इन दो भौगोलिक विस्तारों की संस्कृतियां भी भिन्न रही हैं। अतः उनकी पहचान भी भिन्न है। बहुत ही लंबे समय तक दोनों ही संस्कृतियों में आर्थिक व्यवहार के अभ्यास की इकाई व्यक्ति रहा है। चूंकि व्यक्ति के आर्थिक व्यवहारों के सामाजिक प्रभावों का मूल्यांकन समष्टि के लिए स्थापित नैतिक मूल्यों के आधार पर ही होता था और व्यवहार के नैतिक मूल्य धर्म से जुड़े हुए थे। इहलोक और परलोक की स्थापना पूर्व तथा पश्चिम, दोनों ही धर्मों में थी और लौकिक व्यवहार का असर मनुष्य के अलौकिक जीवन पर होता है—ऐसी दृढ़ मान्यता रही है। आधुनिक अर्थशास्त्र के विकसित होने में इस स्थापना का टूटना एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। अलबत्ता इसे टूटने और नई स्थापना को स्थापित होने में कुछ शताब्दियां लगी हैं।

इस आलेख के प्रस्तुत भाग में हम यह देखने-समझने की कोशिश करेंगे कि किस तरह व्यक्ति और समष्टि के स्तरों पर आर्थिक व्यवहार प्रणालीगत धर्मों से अलग हुए और नैतिक स्थापनाओं से स्वतंत्र बौद्धिक स्थापनाएं हुईं, जिन्हें वस्तुनिष्ठ, तर्कसिद्ध और वैज्ञानिक माना जाने लगा। और, इन स्थापनाओं का आदर बढ़ गया। कौटिल्य की विचार व्यवस्था में इन पर विचार करें, तो आधुनिक अर्थशास्त्र ने अपने विकास की प्रक्रिया में त्रयी (वेद-विद्या व मूल्य या धार्मिक मूल्य) को संपूर्णतः त्याग कर लोकायतिक (चार्वाक) और दंडनीति को आन्वीक्षिकी से जोड़ दिया। हमने पहले यह जताया है कि आन्वीक्षिकी विद्या सार्थकता और निरर्थकता को हेतुवाद से सिद्ध कर संसार का उपकार करने, विपत्ति और संपत्ति में बुद्धि स्थिर रखने की शिक्षा देने, बुद्धिमत्ता, वाक्‌चातुर्य तथा कार्य में कुशलता उत्पन्न करने की विद्या है। मूल्य स्थापना त्रयी व लोकायतिक दर्शन से होती है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने अपने आपको धर्म से विमुख कर आन्वीक्षिकी के आधार पर अपने को वैज्ञानिक घोषित कर दिया और इस नए और वैज्ञानिक अर्थशास्त्र को मूल्य-निरपेक्ष बना दिया, पर वह है नहीं। इस नए वैज्ञानिक अर्थशास्त्र में मूल्य छद्म स्वरूप में विद्यमान है—यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे।

आन्वीक्षिकी पर ही सारा भार डालते हुए जो ठोस रूप से प्रमाणित हो सकता है—वही वैज्ञानिक है और जो वैज्ञानिक है—वही सत्य है। ऐसी स्थापना का प्रारंभ ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। इस युग

में यूरोप में बहुत दिग्गज बौद्धिक हुए, जिन्होंने मिल कर पृथ्वी-ब्रह्मांड तथा उनकी भौतिकी की नई समझ खड़ी कर दी। सारे अर्थ बदल गए। मनुष्य के पृथ्वी-ब्रह्मांड की कल्पनाएं और विभावनाएं बदल गईं। अंग्रेजी में इसे 'पेराडाइम शिफ्ट' कहते हैं। इस युग को 'एज ऑफ एन्लाइटनमेंट'—संस्कार-प्रबुद्ध युग कहते हैं। भौतिक विज्ञान के नए क्षितिज खुले और इनका असर समाज-विद्याओं पर भी हुआ। इसका संक्षिप्त विश्लेषणात्मक विवरण बीसवीं सदी के भौतिक शास्त्री फ्रिट्जॉफ काप्रा ने अपनी एक पुस्तक में दिया है।[15] इस काल के कुछ पूर्व ही, यानी चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दियों में कला व साहित्य के क्षेत्र में वैचारिक एवं अभिव्यक्ति की क्रांति आई। जिसे 'रेनेसां' के नाम से जाना जाता है। सोलहवीं शताब्दी में जर्मनी के एक ईसाई पादरी मार्टिन लुथर ने साधारण मानव के जीवन में चर्च के अति हस्तक्षेप को ललकारा और यह स्थापित किया कि एक गृहस्थ अगर पूरी नेक-निष्ठा से अपने कुटुंब का पालन करता है, तो वह भी भगवान की कृपा का उतना ही अधिकारी है—जितना कोई विरक्त और मुक्त मानव, जो मात्र भगवान की भक्ति में ही लीन है।

उपरोक्त विभावना के पीछे धार्मिक विवाद के जो भी कारण रहे हों, परंतु इससे सामान्य जन-जीवन की रीति-नीति में क्रांति हो गई। एक नई नैतिकता का जन्म हुआ। जिसका नामाभिधान हुआ 'प्रोटैस्टैंट एथिक्स'।[16] यह धार्मिकता और पवित्रता की भी नई पहचान थी। स्थापना इस प्रकार की हुई कि अगर सामान्य मनुष्य अपने लौकिक कार्यों को नेकी, निष्ठा और त्याग भावना से करता है और ऐसा करते हुए अपने परिवार का पालन करता है, तो वह धार्मिक दृष्टि से पवित्र और भगवान का कृपापात्र बनता है। ऐसा करते हुए अगर उसके पास स्थूल संपत्ति संग्रहित होती है, तो उसे पापाचार नहीं माना जाएगा। मात्र इतना अपेक्षित था कि जीवन निर्वाह में वृत्ति उपभोग की न होकर बचत की हो। इस तरह परिग्रह को धार्मिक (नैतिक) मान्यता मिल गई और पूंजी संचय का मार्ग प्रशस्त हो गया।

इस संदर्भ में कई और मूल्यों में हुए परिवर्तन को समझ लेना उचित रहेगा। 'रेनेसां' के आते-आते वित्त व्यवहार में ब्याज मान्य हो गया था। ज्ञातव्य है कि यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों में ब्याज का व्यवहार निषिद्ध माना गया था और उसे पाप समझा जाता था। पूंजी संचय और ब्याज की मान्यता के साथ पश्चिमी सभ्यता में पूंजीवाद का आविर्भाव हो गया। 'एन्लाइटनमेंट' के साथ वैज्ञानिक क्रांति हुई और भौतिक उत्पादन के नए क्षितिज खुले। आर्थिक व्यवहारों में स्पर्धा का प्रवेश हुआ। इन सबके परिणामस्वरूप औद्योगिक क्रांति हुई। इसी प्रक्रिया में आधुनिक अर्थशास्त्र का स्वरूप निखरा। इस नए अर्थशास्त्र में 'आर्थिक मानव' की विभावना प्रकट हुई। वैसे तो यह अमूर्त स्वरूप में है, परंतु आर्थिक व्यवहारों में इसका अस्तित्व वास्तविक ही मान लिया जाता है। इस आर्थिक मानव की विभावना को थोड़ा समझें। अर्थशास्त्र में मानव अपनी अभिरुचियों और मांग के साथ बाजार में प्रवेश करता है। उसका उद्देश्य अपनी तुष्टि को (जो मापी जा सकती है), उसे अधिक से अधिक संतुष्ट करना है। बाजार में वस्तुओं और सेवा की कीमतें तय होती हैं और मानव उपभोक्ता के रूप में अपनी विनिमय शक्ति—जो बहुधा मुद्रा के स्वरूप में होती है—से चुका कर महत्तम तुष्टि प्राप्त करने की कोशिश करता है। वस्तुओं और सेवाएं बेचने वाला अपना लाभ महत्तम लेना चाहता है। इस तरह उत्पादक और उपभोक्ता—दोनों ही भूमिका में मानव अपने संतोष को महत्तम बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रक्रिया में वह शुद्ध तार्किक व्यवहार करता है। हर मानव के ऐसा करने पर बाजार खड़ा होता है, जहां कोई एक इकाई कीमतों पर अपना असर नहीं डाल सकती। कीमतें मांग और आपूर्ति पर अपने से तय होती हैं। इस प्रक्रिया में कहीं पर भी दया, दान, करुणा, अनुकंपा नहीं है। उत्पादन और उपभोग के सभी संसाधनों का उपयोग भी इष्टतम हो जाता है। कहीं किसी धार्मिक मूल्य या स्थापना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

आधुनिक अर्थशास्त्र में संसाधनों के आवंटन और आय वितरण के संदर्भ में समता का मूल्य स्थापित हुआ है और इस मुद्दे पर गंभीर विवाद भी है। पूंजीवादी

अर्थ-व्यवस्था में इकाई के स्तर पर स्थापित आर्थिक मानव का तार्किक व्यवहार आदर्श बाजार की स्थिति नहीं उत्पन्न कर सकता है। अतः इस प्रकार की मूल्य-निरपेक्ष अर्थ-व्यवस्थाओं में भी नीति और मूल्य के प्रश्न खड़े हुए हैं। आदर्श बाजार और स्पर्धा के मूल्य निरपेक्ष आधार पर पूंजीवाद बहुत फूला-फला, परंतु कार्ल मार्क्स जैसे क्रांतिकारी विचारकों ने इस व्यवस्था की कटु आलोचना भी की और बताया कि किस तरह से इस व्यवस्था में श्रम प्रदान करने वालों का शोषण होता है और किस तरह विषमताएं खड़ी होती हैं। इस आलोचना के आधार पर ही साम्यवाद की रचना हुई। ध्यान देने वाली बात यह है कि कार्ल मार्क्स भी अपने आपको उतना ही वैज्ञानिक सिद्ध करना चाहते हैं और अपने विश्लेषण को भी मूल्य-निरपेक्ष ही दर्शाना चाहते हैं। इस तरह पूंजीवादी और साम्यवादी अर्थशास्त्र की विचारधाराएं मूल्य-निरपेक्ष वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा आर्थिक व्यवहारों का संचालन करने का शास्त्र रचती हैं। ये दोनों धाराएं दर्शन में चार्वाक दर्शन के पास हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र का मूल ध्येय मात्र और मात्र भौतिक उत्पादन बढ़ाना और उसी के अनुरूप अमर्यादित उपभोग को बढ़ावा देना है। दंडनीति के द्वारा मनुष्य के आर्थिक व्यवहार का नियमन भी भौतिक कल्याण को बढ़ाना ही है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में त्रयी विद्या के सर्वथा अभाव को नोबेल पुरस्कार विजेता और भारतीय अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि हालांकि अर्थशास्त्र के विकास के आरंभ में नीति के प्रति पूरी संवेदनशीलता थी, परंतु शनैः-शनैः आन्वीक्षिकी, लोकायतिक और दंडनीति हावी होते चले गए। वह आधुनिक अर्थशास्त्र के मूल्य-निरपेक्ष स्वरूप को शास्त्र का 'एंजिनीयरिंग एप्रोच' कहते हैं। इस अभिगम के बढ़ने से 'एथिकल एप्रोच' यानी नीतिमत्त अभिगम कम होता गया है। उनका मानना है कि नीतिमत्त अभिगम से बढ़ती हुई दूरी के कारण आधुनिक अर्थशास्त्र गरीब होता गया है और यह स्थिति दयनीय है। ऐसे अर्थशास्त्र के पास गंभीर मानवीय समस्याओं का हल नहीं है।[17]

उपरोक्त मंतव्य से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जिस अर्थशास्त्र में नीतिमत्ता तक की चर्चा का लगभग अभाव है, उसमें अहिंसा के मूल्य की चर्चा कैसे हो सकती है? अहिंसा और आधुनिक अर्थशास्त्र का दूर का संबंध भी नहीं है। यह तथ्य जितना विचार योग्य है, उससे कहीं अधिक चिंता का विषय यह है कि आधुनिक अर्थशास्त्र के मुताबिक निर्मित हो रही अर्थ-व्यवस्था छद्म और संरचनात्मक या व्यवस्थाजन्य हिंसा को जन्म देकर उसे बढ़ावा देती है। इस प्रकार की हिंसा की विभावना का परिचय कराने का श्रेय विख्यात समाज विज्ञानी और शांति स्थापना के लिए कार्यरत विद्वान कर्मशील योहान गाल्तुंग को जाता है।[18] व्यवस्थाजन्य हिंसा मात्र आर्थिक ढांचों के कारण ही होती है—ऐसा नहीं है। यह सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के कारण भी होती है। परंतु, आर्थिक व्यवस्थाओं के कारण व्यक्तिगत और सामूहिक हिंसा को बढ़ावा मिल सकता है।

वर्तमान समय के एक उदाहरण से समाज के इस लक्षण को स्पष्ट किया जा सकता है। समग्र विश्व में सन् 1990 के बाद आर्थिक नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। उस वर्ष संयुक्त राष्ट्र सोवियत संघ में साम्यवाद का पतन हो गया। आर्थिक व्यवहारों में राज्य के अंकुश की सत्ता का दौर समाप्त हो गया। बाजार का अर्थशास्त्र हावी हो गया। कौटिल्य अर्थ-दर्शन के संदर्भ में अर्थघटन करें तो, कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद लोकायतिक (चार्वाक) यानी भौतिक सुख को ही सर्वोपरि मान कर राज्य उसकी स्थापन और संचालन दंडनीति द्वारा ही करता है—इस विचारधारा का श्रेष्ठ प्रतिरूप सोवियत संघ था। इसके विपरीत लोकायतिक दर्शन में ही विश्वास रखने वाला मानव समूह और समाज का श्रेष्ठ प्रतिरूप अमरीका है। इस लोकायतिक या चार्वाक दर्शन का निभाव यह समाज आन्वीक्षिकी पर आधार रख कर करता है। विद्वत्ता और बुद्धिवादिता के अधीन होने से वह वैज्ञानिक और मूल्य-

निरपेक्ष हो जाने का दावा करता है। वास्तविकता इससे भिन्न है। इसके दो कारण हैं। एक कारण तो, जो अभी बताया वह है। कोई भी आर्थिक व्यवहार मूल्य-निरपेक्ष नहीं होता। शास्त्र उसे ऐसा मानता है, तब वह उसकी अवधारणा है, सचाई नहीं।

मुक्त बाजार का पूर्ण स्पर्धात्मक अर्थशास्त्र आर्थिक मानव की कल्पना तो करता है, पर उसकी अभिरुचि और मांग को पूर्वनिश्चित मानता है। यह एक और काल्पनिक सूत्रीकरण है कि इस पूर्वनिश्चित अभिरुचि के साथ पूर्ण स्पर्धा के बाजार में आने वाला आर्थिक मानव उत्पादक और उपभोक्ता के रूप में पूरे बाजार को प्रभावित नहीं कर सकता और इस तरह मांग और आपूर्ति ही कीमतें तय करके उत्पादन और उपभोग के बाजार की समतुला प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में संसाधनों का आवंटन और उपभोग मूल्य का वितरण भी कार्यक्षम और न्यायी हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया में राज्य की दंडनीति द्वारा नियमन करने की अत्यंत सीमित भूमिका है।

वास्तविक संसार में अभिरुचि और मांग—दोनों ही पूर्वनिश्चित नहीं होते हैं। यहां संक्षिप्त में इतना दर्शाना पर्याप्त होगा कि उत्पादक मांग कृत्रिम रूप से पैदा करते हैं और समाज के हर क्षेत्र और विशेषकर भौतिकवादी और शरीर मात्र पर ध्यान केंद्रित करने वाले चार्वाक दर्शन के जनप्रिय प्रतिरूप (रोल मॉडेल) आम आदमी की अभिरुचियों को तीव्रता और घनिष्ठता से प्रभावित करते हैं।[19] इतना निश्चित है कि मनुष्य का अर्थ व्यवहार शरीर-धर्मी है और इसलिए उसमें भौतिकता का पुट हमेशा अधिक ही रहेगा। तार्किक होने मात्र से मनुष्य नैतिक भी हो जाएगा, यह कल्पना ही अनुचित है। बाजार की व्यवस्था में प्रवेश मात्र से मानव आर्थिक मानव नहीं बन जाता। वह तो उसका एक स्वरूप है और अत्यंत मर्यादित स्वरूप है। भौतिक सुखों को अधिक से अधिक प्राप्त कर लेने की लालसा जागती ही है और यह लालायित मानव धनबल, बाहुबल या बुद्धिबल से दंडनीति से व्यवहार नियमन करने वाले राज्यतंत्र को भ्रष्ट करने की कोशिश अवश्य करता है।[20] ऐसा होने पर मुक्त बाजार की सारी अवधारणाएं ढेर हो जाती हैं और समाज का एक विशेष प्रभावशाली वर्ग विशेष लाभ और विशेष तुष्टिगुण प्राप्त करने में सफल हो जाता है। इस प्रक्रिया में एक प्रतिक्रिया भी शामिल होती है। जब उद्योग या आर्थिक व्यवहारों के कर्णधारों और राज्यशासन के कर्णधारों के बीच लोभ-लाभ के आधार पर सांठ-गांठ हो जाती है, तब जनतंत्र में हर एक व्यक्ति को समान अवसर प्राप्य है—यह अवधारणा कपूर की भांति उड़ जाती है। इस खेल में गरीब वर्ग ही मारा जाता है। यह गरीबी धनबल, बाहुबल या बुद्धिबल—किसी भी या एक से अधिक क्षेत्रों की हो सकती है। अगर इन्हें खेल में हारा हुआ समझ लें, तो यह हारा हुआ वर्ग और उसकी अनेक इकाइयां अपने मन में उद्वेग और द्वेष को जन्म देकर बढ़ावा देती हैं। इसे गाल्तुंग और अन्य विद्वानों ने छिपी हिंसा का रूप कहा है।

एक ठोस उदाहरण लें। किसी भी देश में जंगलों के नीचे खनिज पदार्थ प्रचुरता से भरे हैं। इन जंगलों में सदियों से आदिवासी या सापेक्ष तौर पर विपन्न लोग बसते आए हैं। वे जंगलों के उत्पादन और थोड़ी खेती के आधार पर अपनी आजीविका चलाते हैं। माना जाता है कि वे लालची नहीं होते। अतः शायद बौद्ध उपदेश के अनुसार वे **सम्मा आजीव** में विश्वास रख कर चलने वाले लोग थे। आधुनिक परिस्थिति ऐसी है कि इन खनिजों की मदद से एक बड़ी भौतिक दुनिया का निर्माण संभव हो गया है। याद रहे कि यह संभावना विज्ञान और निरंतर बढ़ती 'टेक्नॉलोजी' और उससे जन्मी औद्योगिक क्रांति के कारण है। अब इस नई व्यवस्था में राज्य, जो इन खनिजों का मालिक है—उसे उद्योग साहसिकों को भेंट करना चाहता है। बीच में ये गरीब लोगों के समूह आ जाते हैं और वे राज्य द्वारा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति से संतुष्ट नहीं हैं। तो राज्य उन्हें बलपूर्वक खदेड़ता है। इन परिस्थितियों में वंचित वर्ग में क्षोभ उत्पन्न होता है, जो छिपी हिंसा को जन्म देता है। ऐसी अनेक परिस्थितियां आधुनिक अर्थशास्त्र के अर्थघटकों और उस पर आधारित राज्य की आर्थिक नीतियों और आर्थिक व्यवहारकों के व्यवहारों से खड़ी हो जाती हैं और हो

रही हैं। यह संरचनात्मक हिंसा का सचोट उदाहरण है। चिंता और चिंतन का मुद्दा यह है कि इस प्रकार की छद्म और संरचनात्मक हिंसा अकसर प्रकट हिंसा में परिवर्तित हो जाती है। विश्वभर में बढ़ता हुआ हिंसक आतंकवाद और उसका एक स्वरूप, जिसने भारत में नक्सलवाद के नाम से जन्म लिया है—यही है।

आधुनिक अर्थशास्त्र और अहिंसा की चर्चा को यहां समाप्त करना होगा। बाजार निष्ठ और पूंजीवादी अर्थशास्त्री और उनके समर्थक विचारक इस खेल में राज्य की कमजोरियां ही ढूढ़ेंगे और यह विमर्श जारी रखेंगे कि बाजार के परिबलों को अभी पूर्ण स्वतंत्रता देना शेष है और जब तक ऐसा नहीं होगा, राज्य द्वारा ऐसी अकल्याणकारी आर्थिक नीतियां बनती रहेंगी। आर्थिक मानव खंड-दर्शन का स्वरूप है और आर्थिक व्यवहारों पर पूर्ण मानव व्यवहार प्रभाव डालता है। इस बात को अभी मुख्यधारा के और नीति-निर्धारण में दखल रखने वाले 'आधुनिक और वैज्ञानिक' अर्थशास्त्री स्वीकार नहीं करते। अमर्त्य सेन जैसे कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में नीतिमत्ता के समावेश का विमर्श रखते हैं। उन्हें 'एंजीनियरिंग एप्रोच' के अति वर्चस्व और 'एथिकल एप्रोच' के अतिशीघ्र पतन के प्रति चिंता है।[21] परंतु, वे भी गांधी की तरह—बिना नीति के अर्थ-व्यवहार हो ही नहीं सकता और ऐसा अर्थशास्त्र अहिंसक समाज का निर्माण कर ही नहीं पाएगा—इस पर सहमत होते नहीं दिखाई देते।

अब हम इस आलेख के अगले और अंतिम भाग में अहिंसा और अर्थशास्त्र के गांधी विमर्श को रखने का प्रयत्न करेंगे।

3

गांधी विचार-विमर्श का एक रसप्रद लक्षण है। मानवता को सर्वोदय का ध्येय सुझाने वाले गांधी तमाम प्रकार के व्यवहारों के केंद्र में व्यक्ति को ही रखते हैं। यह लक्षण रसप्रद इसलिए है कि सामान्य मान्यता के अनुसार गांधी समाजवादियों के निकट माने जाते हैं, पर उस विचारधारा में अभिरुचि और पसंद सामूहिक या सामाजिक स्तर (सोश्यल चॉइस) की है। और, इस अभिरुचि-निर्धारण और उससे उत्पन्न कायांतरण की जवाबदारी राज्य की बन जाती है। गांधी मुक्त बाजार के आधुनिक अर्थशास्त्रियों की मानिंद राज्य को ये कार्य नहीं सौंपना चाहते हैं। गांधी अर्थ-विचार के विद्वान विचारक अजीत के. दासगुप्ता कहते हैं कि गांधी की गहरी व्यक्तिनिष्ठा के कारण ही वे हर एक प्रकार के व्यवहार के केंद्र में व्यक्ति को रखते हैं।[22] सामाजिक या सामूहिक अभिरुचि-निर्धारण और कार्यान्वयन में राज्य अथवा शासक की सरमुख्त्यारी निहित होने के कारण ही गांधी सामूहिक या समाज स्तरीय अभिरुचि या पसंद निर्धारण को मान्य नहीं रख सकते। और, इस तरह वे मूल सिद्धांत के दायरे में समाजवादियों की धारणा के विपरीत आधुनिक अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों से सहमति रखते हैं। पर, इसके आगे गांधी आधुनिक अर्थशास्त्र की विचारधारा से अलग हो जाते हैं।

गांधी समाजवादी विचारधारा से विपरीत क्यों हैं? इसे थोड़ी गहराई में जाकर समझ लें। गांधी हर एक व्यक्ति को पूरी तरह कुसुमित हुआ देखना चाहते हैं और समाज का हर एक मानव-कुसुम आत्म प्रफुल्लता की सुगंध फैलाए—ऐसी कल्पना करते हैं। हर एक मानव अपने आपमें निहित समस्त शक्तियों को पूर्ण विकसित कर पाने का अवसर प्राप्त करे, तब अपने आप सर्वोदय यानी समूह और समाज का कल्याण होगा, ऐसा उनका अनुमान है। सामाजिक या सामूहिक पसंद के ढांचे में कार्यान्वयन की शैली सरमुख्त्यारी वाली होगी, यह तय होने के कारण ऐसी किसी भी अवस्था का सामना करने के लिए व्यक्ति को सत्याग्रह का आश्रय लेना चाहिए। ऐसी गांधी की दृढ़ मान्यता है।

गांधी कौन से मोड़ से इस मुक्त बाजार के सिद्धांत मार्ग से रास्ता बदल लेते हैं? मुक्त बाजार के सिद्धांत के व्यक्ति-केंद्री-मार्ग में गांधी स्वयं ही एक ऐसा मोड़ लेते हैं, जहां मानव को अपने अखंड स्वरूप में व्यवहार को नियमित करना है। यहां से आधुनिक अर्थशास्त्र के मार्ग से गांधी अलग हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें 'आर्थिक मानव' का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकृत नहीं है। 'आर्थिक

मानव' खंड-दर्शन का प्रतिनिधि है। वह मूल्य-निरपेक्ष होने का दावा करते हुए भी छद्म रूप से ऐसे मूल्यों का आह्वान करता है, जो मानव समाज के विनाश का सामान जुटाते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र इस समस्या से परिचित तो है, पर उसे वह अपने शास्त्र की न तो देन मानता है और न ही उससे सीधे द्वंद्व में उतरना चाहता है। गांधी की भूमिका यहां स्फटिक की तरह स्वच्छ है। वे किसी ऐसे अर्थशास्त्र को मान्यता देने को तैयार नहीं होते, जिसमें नीतिमत्ता के सिद्धांत संकलित न होते हों। इसका कारण यह था कि अपने समय में पश्चिमी समाज के जिस आर्थिक विकास को देखा—वह उन्हें मानव के संपूर्ण विकास के साथ सुसंगत होता हुआ नहीं लगा। इंग्लैंड की अपनी उच्च शिक्षा के समय से उनके मन में एक प्रकार का भीषण मंथन चल रहा था और तेजी से आर्थिक प्रगति करते हुए पश्चिमी समाज को देख कर निरंतर कुछ खटक रहा था। उनका यह तीव्र मनोमंथन सन् 1909 में असह्य बन गया और उन्होंने अपनी यह कशमकश 'हिंद स्वराज' नामक पुस्तक में प्रकट की और अपने परिप्रेक्ष्य को भी दुनिया के सामने रखा। पश्चिमी समाज को अपनी आधुनिक सभ्यता पर बड़ा अहंकार था। इस सभ्यता की तीखी आलोचना करते हुए गांधीजी लिखते हैं—

पहले तो हम यह सोचें कि सभ्यता किस हालत का नाम है। इस सभ्यता की सही पहचान तो यह है कि लोग बाहरी दुनिया की खोजों में और शरीर के सुख में धन्यता, सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं। इसकी कुछ मिसालें लें। सौ साल पहले यूरोप के लोग जैसे घरों में रहते थे, उनसे ज्यादा अच्छे घरों में आज वे रहते हैं। यह सभ्यता की निशानी मानी जाती है। इसमें शरीर सुख की बात भी है। इसके पहले लोग चमड़े के कपड़े पहनते थे और भालों का इस्तेमाल करते थे। अब वे लंबे पतलून पहनते हैं और शरीर को सजाने के लिए तरह-तरह के कपड़े बनवाते हैं। और, भाले के बदले एक के बाद एक पांच गोलियां छोड़ सकें—ऐसी चक्करवाली बंदूक इस्तेमाल करते हैं, यह सभ्यता की निशानी है···· यह सभ्यता जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यह सोचा जाता है कि लोग हवाई जहाज से सफर करेंगे और थोड़े ही घंटों में दुनिया के किसी भी भाग में जा पहुंचेंगे। लोगों को हाथ-पैर हिलाने की जरूरत नहीं रहेगी। एक बटन दबाया कि आदमी के सामने पहनने की पोशाक हाजिर हो जाएगी। दूसरा बटन दबाया कि उसे अखबार मिल जाएंगे। तीसरा दबाया कि उसके लिए गाड़ी तैयार हो जाएगी। हमेशा नए भोजन मिलेंगे। हाथ-पैर का काम ही नहीं पड़ेगा, सारा काम कल से ही किया जाएगा। पहले जब लोग लड़ना चाहते थे, तो एक-दूसरे का शरीरबल आजमाते थे। आज तोप के एक गोले से हजारों जानें ली जा सकती हैं। यह सभ्यता की निशानी है।[23]

बीसवीं सदी के आरंभ तक पश्चिमी सभ्यता के जो लक्षण गांधीजी को दिखे और जो उन्होंने समझा, उसका बयान उन्होंने 'हिंद स्वराज' में किया। उनका मुद्दा यह था कि पश्चिमी संस्कृति के मानव का मूल लक्ष्य शरीरसुख और भौतिक संपन्नता हासिल करना है। हमने पहले यह दर्शाया है कि 'प्रोटैस्टैंट' धर्म का आशय सामान्य मेहनतकश आदमी को परलोक के सुख को हासिल करने के लिए संस्थीकृत धर्म और उसके कर्मकांडों और अंधविश्वासों से बचा कर नेकी से पसीना बहा कर शरीर-धर्म को निभाने का मूल्य स्थापित करना था। पर, दुर्भाग्य से उसी पश्चिम समाज में, ईसाई धर्म में दुनियाभर में जिसे जघन्य पाप माने जाते हैं—वैसे लोभ, स्वार्थ, असंतोष और अहंकार इस नए अर्थशास्त्र के कारण समाज में स्वीकृत एवं स्थापित हो गए।[24] एक तरह से कहें तो पश्चिमी समाज ईमान-धर्म से च्युत हो गया। गांधी अपनी आलोचना में आगे स्पष्ट लिखते हैं—सभ्यता के हिमायती साफ कहते हैं कि उनका काम लोगों को धर्म सिखाने का नहीं है। धर्म तो ढोंग है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। ····शरीर का सुख कैसे मिले, आज की सभ्यता यही ढूंढ़ती है और यही देने की कोशिश करती है।[25]

गांधीजी एक अर्थ में भविष्यद्रष्टा भी 'कहे' जा सकते हैं। 'हिंद स्वराज' लिखते समय तक उन्हें यह दिखाई दे रहा था कि इस भौतिक संपन्नता को हासिल

करने की कोशिशों में व्यक्ति और देश हिंसा में लिप्त हो जाएंगे और मानवता खतरे में पड़ जाएगी। संपत्ति कमाने वाला कमाने के बाद प्यार से सभी में बांट देगा, ऐसा तो नहीं—फिर वो चाहे व्यक्ति हो या देश—तब छीना-झपटी शुरू होगी, मारकाट होगी अथवा पैंतरे रचे जाएंगे। देशों के बीच युद्ध होगा और यह सब तो होता आया है। साधन और साध्य के बीच विसंगतता खड़ी होगी। 'बोया पेड़ बबूल का, आम कहां से पाय?' 'हिंद स्वराज' में गांधीजी ने लिखा है कि ऐसे समाज पशुबल से चालित होंगे। आज हम देख रहे हैं धनबल, बाहुबल और बुद्धिबल भी पशुबल से ही चालित हो रहे हैं। इस बल के आधीन होकर डर द्वारा और हिंसा के द्वारा व्यक्ति और समूहों को अंकुश में रखा जाता है। गांधीजी ने कहा कि—यह सभ्यता नहीं हो सकती। उनके लिए सभ्यता वह आचरण है, जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने के मानी है—नीति का पालन करना। नीति के पालन का मतलब है—अपने मन और इंद्रियों को बस में रखना। ऐसा करते हुए हम अपने को (अपनी असलियत को) पहचानते हैं। यही सभ्यता है। इससे जो उलटा है—वह बिगाड़ करने वाला है।[26]

इस सभ्यता को हासिल करने का मंत्र क्या है? गांधीजी यह दर्शाते हैं कि भारत देश ने सदियों से इसी रास्ते को अपनाकर पूरी दुनिया को राह दिखाई है। अहिंसा से समाज का निर्माण हो सकता है—उसके लिए आत्मबल या प्रेमबल को सबल बनाना होगा। 'हिंद स्वराज' में वह इस आत्मबल या प्रेमबल को समझाने के लिए तुलसीदास का यह दोहा उद्धृत करते हैं—

दया धरम का मूल है, देहमूल अभिमान।
तुलसी दया न छांडियें, जब लग घट में प्रान।।

इस बुनियादी मूल्य में बंटा हुआ मानव भौतिक संपदा हासिल करने के लिए छीना-झपटी और मारकाट नहीं करेगा। उसे धनी से धन लेकर रंक को देना है, तो उसका साधन 'सत्याग्रह' का ही होगा। इसमें गांधीजी को कोई संदेह नहीं है। इस तरह भौतिक संपदा उत्पन्न करने और उसका वितरण करने में चालकबल, प्रेमबल अथवा आत्मबल होगा तो सारे अर्थ-व्यवहारों में भी नीतिमत्ता ही आएगी। इस प्रक्रिया में मानवता की प्रगति का ध्येय आर्थिक विकास नहीं होगा। क्योंकि सही विकास मात्र आर्थिक विकास नहीं है। गांधीजी ने यह प्रश्न दिसंबर 1916 में इलाहाबाद के 'म्योर सेंट्रल कॉलेज' में अर्थशास्त्रियों के सम्मेलन में खड़ा किया था और कहा था कि उनके विचार में मानवता का सही विकास नैतिक विकास है।

'हिंद स्वराज' में गांधीजी ने अपना समाज-दर्शन रखने के बाद कई जगहों पर अपने आर्थिक विचार रखे। और, हर जगह पर आर्थिक व्यवहारों में अहिंसा के मूल्य को प्रस्थापित करते हुए उन्होंने नीतिमत्ता की बात ही रखी है। गांधीजी के उन सभी विचारों का संकलन करें, तो अहिंसक अर्थव्यवस्था का एक ढांचा खड़ा हो जाता है। इस पर थोड़ा दृष्टिपात कर लें। गांधीजी के विचारों के संकलन किए हुए पुस्तकों में से एक पुस्तक 'मेरे सपनों का भारत' भी है।[27] उसमें दो अध्याय 'अहिंसक अर्थव्यवस्था' और 'आर्थिक समानता' है, जिनमें स्पष्ट है कि अहिंसा के मूल्य पर आधारित अर्थव्यवस्था ही मानव के सही विकास की दिशा होनी चाहिए, वे ऐसा प्रतिपादित करते हैं।

अब यह समय आ गया है कि गांधी विचार को इस लेख के मूल विचार-तंतु के साथ जोड़ दें। अहिंसा और अर्थशास्त्र के संबंधों को ढूंढ़ने की शुरुआत धर्म से करते हुए, हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पहुंचे थे। वहां हमने पाया कि हिंदू शास्त्रों में अर्थशास्त्र को अलग पहचान मिली है और शरीर-धर्म निभाने के लिए उसका महत्त्व भी ऊंचा ही आंका गया है। हमने यह भी पाया कि अर्थशास्त्र का संकलित स्वरूप त्रयी (वेद-विद्या) वार्ता, आन्वीक्षिकी और दंडनीति—चारों ही को योग्य स्थान प्रदान करता है। हमने यह भी पाया सिद्ध आचार्यों ने आर्थिक व्यवहारों के लिए चारों को आवश्यक न मान कर एक या दो विद्याओं को भी महत्त्व दिया है। जब ऐसा हुआ है, तब ऐसे खंड-विद्या पर आधारित आर्थिक व्यवहारों के ढांचे पर खड़ा समाज भी मर्यादायुक्त ही

रहा है। जितने आचार्यों ने आर्थिक व्यवहारों के लिए वेद-विद्या को आवश्यक नहीं माना, वैसा समाज अहिंसक समाज नहीं बना। भौतिक सुख चाहे अमर्याद मात्रा में आया, पर यह चिरंजीवी नहीं रहा, हिंसा बढ़ी और समाज नष्ट हुए। कौटिल्य स्वयं इन सभी विद्याओं की चर्चा करने के पश्चात् यह स्वीकार तो करते हैं कि समग्र दर्शन का अर्थशास्त्र तो चारों विद्याओं की संयुक्त समझ से ही बनता है। परंतु, आर्थिक व्यवहारों के शास्त्र विशेष के लिए—दंडनीति (चाहे वह मृत्यु दंडनीति ही क्यों न हो) को ही आवश्यक मानते हैं। इस तरह सभी विद्वान भी शरीर-धर्म निभाने की आड़ में भौतिक दुनिया के दास बन जाते हैं। गांधीजी यहां अपनी अलग जगह बनाते हैं।

गांधीजी शरीर-धर्म की अनिवार्यता को अच्छी तरह से समझते हैं। इस तरह वे लोकायतिक या चार्वाक दर्शन से परिचित हैं और लौकिक धर्म की अनिवार्यता भी स्वीकार करते हैं। वे सिर्फ मोक्षमार्गी नहीं हैं। व्यक्ति की गति ऊर्ध्व दिशा की है, वे मानते हैं, पर व्यक्ति का यह प्रयास मात्र स्वार्थी हो और वह दुनिया की बिल्कुल परवाह न करे—ऐसा गांधीजी का विश्वास नहीं है। अगर दुनिया में गरीबी, भुखमरी और असमानता रहे और व्यक्ति अपनी आध्यात्मिकता सिद्ध करने में लगा रहे, तो यह गांधीजी को स्वीकृत नहीं होगा। अजीत के. दासगुप्ता बहुत ही स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि गांधी नैतिकता के स्तर पर 'कांसिक्वेंश्यलिस्ट' हैं, यानी लौकिक स्तर पर परिणामलक्षी है।[28] उनके लिए नैतिकता मात्र नैतिकता की अच्छाई या व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति भर के लिए नहीं है, व्यक्ति की नैतिकता का परिणाम समष्टि के कल्याण में योगदान करने वाला होना चाहिए।

समाज के अर्थ-व्यवहारों के संदर्भ में, सही नीतिमत्ता के बारे में गांधीजी ने कहा कि—जो सच्चा नीतिशास्त्र है, वह अच्छा अर्थशास्त्र भी होना चाहिए। वैसे ही सच्चा अर्थशास्त्र ऊंचे से ऊंचे नैतिक मापदंडों का विरोधी नहीं हो सकता है। जो अर्थशास्त्र धनपूजा का उपदेश देता रहता है और निर्बल लोगों की कीमत पर सबलों को धनसंचय करने देता है—वह गलत शास्त्र है। वह घातक है। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय के लिए होना चाहिए। वह अंतिम आदमी सहित सर्व का भला करने वाला शास्त्र होना चाहिए। सच्ची सभ्यता के लिए यह अनिवार्य है। इस दिशा में उन्होंने अस्तेय और अपरिग्रह के मूल्यों को भी सराहा और अर्थशास्त्र में अहिंसा का मूल्य लाने के लिए अस्तेय और अपरिग्रह—दोनों को अति आवश्यक माना। जो नैतिक तौर पर मेरा नहीं है और मेरे पास आ गया है, उसे मैं स्वीकार कर लूं। .....तो वो चोरी होगी और उसका उपयोग मैं लंबे समय तक करने के लिए बचा लूं तो वह परिग्रह होगा। ऐसा करने से भौतिक प्रगति तो हो सकती है—अहिंसक समाज नहीं बनेगा और सच्चा अर्थशास्त्र भी नहीं बनेगा।

गांधीजी ने जिन रचनात्मक कार्यों को सुझाया, उनमें से एक आर्थिक समानता के लिए काम करना है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने इसे 'इक्विटी' और 'इक्वालिटी' यानी समता और समानता कहा है। यह मान लिया गया कि समानता तो किसी भी समाज में हासिल हो ही नहीं सकती, अतः राज्य की मदद से समता लाने के हरसंभव प्रयास किए जाने चाहिए। इस तर्क को लगभग सभी की मान्यता मिल चुकी है। गांधी इससे सहमत नहीं थे। उनके विचार में पूंजी और श्रम के बीच के झगड़े को हमेशा के लिए मिटाना ही आर्थिक समानता हासिल करने का अंतिम ध्येय है। जब तक कुछ हजार धनी हों और करोड़ों विपन्न हों—तब तक अहिंसक प्रशासन संभव नहीं है और अगर प्रशासन हिंसक है (दंडनीति प्राधान्य है), तो अर्थव्यवस्था अहिंसक नहीं बन सकती। अतः समाज का इच्छनीय दर्शन क्या है, यह तय करना आवश्यक है। अहिंसक अर्थव्यवस्था और उसके अनुरूप शास्त्र तभी बन पाएगा जब अनेक क्षेत्रों में आर्थिक प्रवृत्तियों के केंद्रीकरण की बजाए विकेंद्रीकरण और विस्तारीकरण हो।

इस तरह गांधी विचार में अहिंसा के मूल्य पर आधारित अर्थशास्त्र का ध्येय आर्थिक समानता हासिल करना है। गांधीजी विचार देकर चुप नहीं रहते। उस दिशा में जाने का तरीका भी बताते हैं। पहला कदम यह है—

जिस व्यक्ति ने इस आदर्श को अपनाया हो, वह अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन लाए। देश के गरीबों से अपनी आर्थिक स्थिति की तुलना कर, अपनी जरूरतें कम करे। अपनी धन कमाने की शक्ति को अंकुश में लाए। जो धन कमाना है—वह ईमानदारी से कमाए। सट्टेबाज हो—तो उसे तुरंत बंद करे। जीवन को संयमी बनाए। अगर ऐसा करने में वह ठीक-ठीक सिद्ध हो जाए तो, अपने पड़ोसी और हितेच्छुओं को इस मार्ग पर लाने का यत्न शुरू करे।

आर्थिक समानता के मूल में 'ट्रस्टीशिप' की भावना है। माना गया है कि उत्पादन और वितरण—दोनों ही में इसी भावना से कार्यरत रहना होगा। व्यवस्था तो बाजार की ही रहेगी, पर इस बाजार में प्रवेश करने वाला व्यक्ति उपभोक्ता और उपभोगी के रूप में क्रमशः 'ट्रस्टी' और 'संयमी' की भूमिका से प्रवेश करेगा। अर्थव्यवस्था का ढांचा ही ऐसा बनेगा कि वह नीतिमत्त और अहिंसक होगा।

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि अहिंसा और अर्थशास्त्र की तात्त्विक चर्चा के स्तर पर गांधी इस देश की मूल संस्कृति के आधार वेद-विद्या के मूल्यों का आह्वान करते हैं। उनके मन में और विचार में सर्व-कल्याण की भावना है। सर्व का अर्थ यहां व्यक्ति, समष्टि और प्रकृति है। गांधी, महावीर और बुद्ध के धर्मोपदेश में निहित नीतिवान आर्थिक व्यवहार की बात तो रखते ही हैं, पर उससे आगे जाकर उसके व्यावहारिक पक्ष को भी अच्छी तरह उजागर करते हैं।

मानव समाज ने सर्व के कल्याण के लिए, भौतिक व्यवहारों के लिए जो अर्थशास्त्र विकसित किया है, उसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर मुक्त बाजार की कल्पना को बढ़ावा देकर पूंजीवादी व्यवस्था खड़ी की। जब उससे सर्व कल्याण नहीं होता नजर आया, तो मार्क्स के विचारों के आधार पर राज्य को कमान सौंपी और साम्यवाद पनपा। परंतु, उससे भी सर्व कल्याण का ध्येय हासिल नहीं हुआ, तो फिर से एक बार मुक्त बाजार और पूंजीवाद की ओर विकास लोलक को पहुंचा दिया है। पर, यह तो पहले ही एक बार मात खा चुका है।

मूल समस्या का हल तंत्र में नहीं, व्यक्ति के मूल्यों और उस पर आधारित व्यवहार में निहित है। केंद्र में व्यक्ति ही है और वह स्वतंत्र भी है और स्वानुशासन से मर्यादा में रहना जानता है। गांधी इस दिशा में मार्गदर्शन देते हैं। पर, इस अहिंसा के इस अर्थशास्त्र को देख पाने की दृष्टि बहुमति समाज में अभी नहीं आ पाई है—ऐसा प्रतीत होता है। ❖

संदर्भ :

1. इन मुद्दों पर समर्थ चर्चा के लिए देखें; पंडित ईश्वरचंद्र शर्मा (1957)—अर्थ धर्म मीमांसा [*पूंजीवाद और समाजवाद की समालोचना*] आर्य समाज कुचिपुडि, तेनाली आंध्रप्रदेश।
2. वही; पृष्ठ संख्या 3
3. पश्चिमी समाज में यह विषय पहले 'पोलिटिकल इकोनॉमी' के नाम से जाना जाता था। यह शास्त्र ईसा के समय के बाद में पनपा है और इसका सबसे मुखरित स्वरूप 'इकोनॉमिक्स' है, जो औपचारिक तौर पर औद्योगिक क्रांति के बाद ही प्रकट हुआ।
4. यह उद्धरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र के गुजराती भाषांतर की आवृत्ति से लिया गया है। देखें; शास्त्री श्री वासुदेव महाशंकर जोशी, 1982—*कौटिल्यनुं अर्थशास्त्र* [मूळ साथे भाषांतर, चाणक्य नीतिसूत्र सहित]। सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय, अमदाबाद। अधिकरण 1, अध्याय 1।
5. वही; अधिकरण 9, अध्याय 4।
6. पंडित शर्मा; पृ. 5
7. *कौटिल्यनुं अर्थशास्त्र;* अध्याय-2 श्लोक-5-7
8. *कौटिल्यनुं अर्थशास्त्र;* अध्याय-2 श्लोक-12
9. सन् 2008 में जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक में 'सापेक्ष अर्थशास्त्र' का खयाल विकसित किया गया है। इस पुस्तक में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक लेख में श्रमण भगवान महावीर के अर्थ-विचार के मूल तत्त्व को रखा है। विस्तृत जानकारी के लिए देखें—आचार्य महाप्रज्ञ, (2008);—'इकोनॉमिक्स ऑफ नॉन वायलेंस'। मुख्य संपादक—बी.आर. दूगड़ *'नॉन वायलेंस, रिलेटिव इकोनॉमिक्स, एंड अ न्यू सोश्यल*

ऑर्डर',—जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं, पृष्ठ 3-8।

10. देखें, गांधी एस. एल. (2008)—'इकोनॉमिक्स ऑफ नॉन वायलेंस एंड दि विजन ऑफ ए सस्टेनेबल वर्ल्ड'—बी.आर. दूगड़ (मुख्य संपादक), नॉन वायलेंस, रिलेटिव इकोनॉमिक्स, एंड अ न्यू सोश्यल ऑर्डर, जैन विश्व भारती यूनिवर्सिटी, लाडनूं, पृ. 9-22।
11. इन अणुव्रतों के अर्थ क्रमशः यह है—अनावश्यक हिंसा न करना, घरों और गांव-बस्ती को नहीं उजाड़ना। स्वयं द्वारा न दी हुई वस्तुओं को न छीन लेना। व्यभिचार न करना और अमर्याद संपत्ति प्राप्त न करना।
12. ई. एफ. शुमाकर का लेख 'बुद्धिस्ट इकोनॉमिस्ट' मूलरूप से Resurgence (January-February, 1968) (Vol. I, No. 11). में छपा था। जिसे Buddhist Economics शीर्षक से Volume XXII, No. 33 MANAS Reprint शृंखला में August 13, 1969 के अंक में पुनः मुद्रित किया गया। यह जानकारी http://www.manasjournal.org/pdf_library/VolumeXXII_1969/XXII-33. pdf वेबसाइट से अगस्त 12, 2011 के दिन ली गई।
13. इस विषय पर विशद चर्चा के लिए देखें—संघरक्षिता, (2007) *'द बुद्धास नोबल एइट्फोल्ड पाथ'*, http://www.sangharakshita.org/_books/Noble_Eightfold_Path.pdf. अगस्त 13, 2011
14. संकलित (2005) *'कंपॅशनेट इकोनॉमी'*, तिब्बत हाउस, नई दिल्ली।
15. फ्रिट्जॉफ काप्रा, (1983) द *टर्निंग पॉइंट*. फ्लेमिंगो; हार्पर कोलिंस, लंदन, अध्याय 7.
16. इस नामाभिधान का श्रेय जाने-माने समाज शास्त्री मॅक्स वेबर को जाता है। उन्होंने इस विषय पर एक पुस्तक लिखी थी, जिसका शीर्षक था, 'प्रोटैस्टैंट एथिक्स एंड द स्पिरिट ऑफ केपिटलिज्म'।
17. एक बहुत ही गंभीर चर्चा के लिए देखें—अमर्त्य सेन, (2003), *'ऑन एथिक्स एंड इकोनॉमिक्स'*—ऑक्सफोर्ड, इंडिया, नई दिल्ली।
18. इस विषय की विस्तृत चर्चा के लिए और उसके उदाहरण के लिए देखें—आयंगार सुदर्शन—*'ढांचागत हिंसा और गांधी विचार'*, **जैन भारती,** जून 2008
19. पूंजीवादी और बाजार आधारित अर्थ-व्यवस्थाओं में विज्ञापन का भरपूर और समृद्ध संसार इसका उदाहरण है।
20. यह बात ध्यान योग्य है कि भारत में ही पिछले बीस साल से मुक्त बाजार की नीतियों की वजह से भ्रष्टाचार इतना बढ़ गया है कि अण्णा हजारे इसे अंकुश में लाने के लिए, राज्यशक्ति को प्रभावित करने के लिए उपवास पर बैठे और उनके साथ लोकशक्ति भी जुड़ी।
21. अमर्त्य सेन, (2003) पृष्ठ 7।
22. इन मुद्दों पर विद्वत्तापूर्ण चर्चा के लिए कृपया देखें—अजीत के. दासगुप्ता (1996)—*गांधीज इकोनॉमिक थॉट*—रूटलेड्ज (लंदन), अध्याय दो।
23. गांधीजी (2002), हिंद स्वराज्य : सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 34-35।
24. कापरा, (1983), पृ. 201
25. गांधीजी, (2002), पृ. 36
26. गांधीजी, (2002), पृ. 55
27. यह संकलन जाने-माने गांधी विचारवाहक आर. के. प्रभु ने किया है। मूल अंग्रेजी में है, जिसका शीर्षक है—**इंडिया ऑफ माय ड्रीम**। इसका अनुवाद हिंदी और गुजराती में हुआ है। इस लेख के उद्धरण गुजराती अनुवाद से लिए गए है, अतः पाठकगण इसे 'हिंदी अनुवाद का गद्य न समझें। गुजराती अनुवाद **मारा स्वप्ननुं भारत** शीर्षक से नवजीवन प्रकाशन मंदिर से पहली बार (1963) में प्रकाशित हुआ। यह आवृत्ति 2009 में आठवीं बार पुनः मुद्रित हुई थी।
28. अजीत के. दासगुप्ता (1996) पृ. 8 ❖❖

साहित्य : मानवीय सत्ता केंद्रों की समन्वित शक्ति

❑ प्रो. रमेशचंद्र शाह

'परहित सरिस धर्म नहीं भाई
परपीड़ा सम नहिं अधमाई'

तुलसी के 'रामचरितमानस' में यह कहा गया है। अहिंसा का सामान्य अर्थ परपीड़न की प्राकृतिक वृत्ति से ऊपर उठना है, प्रकृति से संस्कृति की ओर उन्नयन की प्रक्रिया में भागीदार होना है। यह तो एक तथ्य ही है कि मनुष्य और पशु में बहुत-सी बातें बड़ी सामान्य हैं—आहार, निद्रा, भय, मैथुन···· आदि, किंतु यह भी तथ्य ही है कि **'धर्मो हि तेसामधिको विशेष:'**—यह धर्म चेतना ही मनुष्य को उसकी पाशविक प्रवृत्तियों से अलग करती है या उससे उबार कर सत्य-अहिंसा सरीखे उच्चतर मूल्यों के अनुसंधान में प्रवृत्त करती है। अर्थात् परपीड़न से परहित की ओर प्रगति, यानी अहिंसा मानव का प्राकृतिक स्वभाव नहीं, बल्कि उसके द्वारा अर्जित मूल्य है, पुरुषार्थ है—अर्थ और काम के पुरुषार्थों से उच्चतर पुरुषार्थ—जो फिर 'मोक्ष' नाम के उच्चतम पुरुषार्थ की सिद्धि की ओर मनुष्य को प्रेरित करता है। चरम लक्ष्य या जीवन की चरम सार्थकता तो उस कोटि की मुमुक्षा या कि स्वातंत्र्य-सिद्धि ही है। धर्म और 'अहिंसाधर्म' भी उस सर्वोच्च साध्य तक पहुंचाने वाला एक साधन ही है, न कि अपने आप में सर्वोपरि और स्वयंपर्याप्त या स्वत:पूर्ण साध्य।

साहित्य न तो धर्मशास्त्र है, न दर्शनशास्त्र। न ही वह अर्थशास्त्र या कामशास्त्र या राजनीतिशास्त्र ही है। किंतु, वह इन सबको अपने में समाहित किए लेता है—अनायास। क्योंकि वह समग्र मनुष्य की अभिव्यक्ति है, उसके प्राणिक, ऐंद्रिक, भावावेगी

साहित्य न तो धर्मशास्त्र है, न दर्शनशास्त्र। न ही वह अर्थशास्त्र या कामशास्त्र या राजनीतिशास्त्र ही है। किंतु, वह इन सबको अपने में समाहित किए लेता है—अनायास। क्योंकि वह समग्र मनुष्य की अभिव्यक्ति है, उसके प्राणिक, ऐंद्रिक, भावावेगी और बौद्धिक—सभी स्तर, सभी आयाम उसमें प्रकट होते हैं। यथार्थ से भी उसका उतना ही गहरा संबंध है, जितना आदर्श से।

❑

और बौद्धिक—सभी स्तर, सभी आयाम उसमें प्रकट होते हैं। यथार्थ से भी उसका उतना ही गहरा संबंध है, जितना आदर्श से। सिद्धांत से भी उसका संबंध होता है, किंतु वह सैद्धांतिक की अपेक्षा व्यावहारिक जगत से ज्यादा गहरे में जुड़ा होता है। मनुष्य जैसा, जो भी है—वह तो साहित्य का सीधा विषय है ही, किंतु मनुष्य क्या हो सकता है या क्या होना चाहिए, यह भी उसकी चिंता और अभीप्सा का विषय रहा है—हमेशा।

साहित्य हमारी संवेदना का—अपनी ही तरह 'दूसरे' तक भी पहुंचने की क्षमता का—विस्तार करता है। किंतु, यह क्षमता और संवेदना निष्क्रिय और एकायामी नहीं होती। मनुष्य एक त्रि-आयामी प्राणी है। उसमें तीन शक्ति केंद्र काम करते हैं। दैहिक-प्राणिक केंद्र से उसके शारीरिक व्यापार संचालित होते हैं, भाविक—यानी 'इमोशनल सेंटर' से उसके भावावेग और बौद्धिक 'इंटिलेक्टचूअल सेंटर' से उसके दिमागी सोच-विचार संचालित होते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया की त्रिपुटी है—मानव जीव और इनका सम्यक् जुड़ाव, परस्पर संवादी समवेत सक्रियता ही उसे फिर उच्चतर ज्ञान केंद्रों और उच्चतर भाव केंद्रों से संपर्कित कर सकती है। किंतु, हम यदि थोड़ा भी अपने भीतर झांकें, थोड़ा भी आत्मनिरीक्षण करें तो हम पाएंगे कि हमारे इन तीन केंद्रों में कभी सामंजस्य होता ही नहीं। मानो हम अभिशप्त हों, एकांगी होने के लिए। कभी हम निरे 'सेंसेशन' में जीते हैं—दैहिक वासनाओं के अभ्यास, जड़ यांत्रिक हरकतों के गुलाम की तरह। कभी अनियंत्रित भावावेश के अधीन हो जाते हैं, तो कभी बाकी दो केंद्रों से वियुक्त मात्र दिमागी सोच की उधेड़-बुन में गिरफ्तार हो रहते हैं। वैसा विचार भी वस्तुतः 'विचार' नहीं होता, एक यांत्रिक दुहराव-तिहराव की लीक पीटता रहता है। हमारा तथाकथित दिमाग भी—'अहंकार विमूढात्मा'—जिसे गीता में कहा गया है—वैसा; स्व-केंद्रित, स्व-रति में लिथड़ा हुआ। वास्तविक सत्य—'ऑब्जेक्टिव ट्रूथ' का संस्पर्श कर पाने में नितांत अक्षम।

अन्य विषयों की तुलना में साहित्य की खास बात यह है कि उसमें ये तीनों केंद्र इकट्ठे काम करते हैं। ऐंद्रिक 'सेंसेशन', प्राणिक हरकतें, काम-क्रोध, भय-विस्मय, हर्ष-अमर्स आदि मनोवेग और बौद्धिक ऊहापोह····। सभी की समवेत सक्रियता के भीतर से ही साहित्य की रचना संभव होती है। रचना ही क्यों, रचना का आस्वादन-ग्रहण-रसभोग और समझ भी बिना हमारी इस समूची त्रि-आयामी मनुष्यता की भागीदारी के संभव नहीं। अन्य विषय-क्षेत्र अपनी उत्पत्ति और प्रभाव, दोनों में अपेक्षाकृत एकांगी और मस्तिष्कीय होते हैं। साहित्य हमारी समूची मन-मस्तिष्क-शरीरमय सत्ता की उपज होता है और उसी को संबोधित भी। मनुष्य के मनुष्य-भाव की वह ज्यादा भरी-पूरी साखी है। इसीलिए उसका साक्ष्य अधिक प्रत्यक्ष-व्यावहारिक, मानवीय और मूल्यवान होता है। अधिक संप्रेषणीय भी।

वेद-उपनिषद आखिर कितनों तक पहुंचते हैं? किंतु, महाभारत-रामायण और पौराणिक कथाओं के माध्यम से लाखों-करोड़ों सामान्यजन उस जीवन-दृष्टि और विश्व-दृष्टि में साझा कर लेते हैं। अब, चूंकि यह त्रि-आयामिता या कि समग्रता साहित्य के अस्तित्व की ही बुनियादी शर्त है, इसलिए किसी एक आयाम से उसे बांधना, न केवल उसकी अपनी स्वायत्त गरिमा का अवमूल्यन करना है, बल्कि जाने-अनजाने उसे खंडित-विकलांग भी कर देना है। किसी सैद्धांतिक मतवाद के प्रचार या पैरवी के लिए लिखा गया साहित्य सत्साहित्य तो क्या, साहित्य कहलाने योग्य भी नहीं होता—भले वह सिद्धांत अपने मूल में, अपने-आप में कितना ही मूल्यवान क्यों न हो! मानव जीवन-जगत की अनेक विडंबनाओं में से एक विडंबना यह भी है कि कैसा भी मौलिक और महान विचार कालांतर में एक मतवाद और रूढि बन कर मुक्ति की बजाय बंधन का कारण बन जाता है। धर्म के क्षेत्र में तो यह विडंबना हमारी आंखों के सामने उजागर ही है।

तो····पहली बात जो याद रखने की है, वह यही कि साहित्य हमारी मानवीय सत्ता के उक्त तीन केंद्रों की सम्मिलित और कमोबेश समन्वित शक्ति की उपज है।

अर्थात्, वह शाक्त—यानी शक्तिमय संवेदना से प्रेरित और उसी को उकसाने वाली संवेदना है, मात्र भावुकता, या मनमाने चिंतन, अथवा ऐंद्रिक भोग-विलास की सामग्री नहीं। उसकी यह स्वतंत्रता ही उसे अर्थशास्त्र, राजनीति, नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र से अलग कक्षा में स्थापित करती है। उसकी अपनी ही ऐसी निराली भूमिका भी संभव करती है, जो भूमिका और कोई मानवीय ज्ञान-विज्ञान या गतिविधि नहीं निभा सकती। इसी कारण यदि हम साहित्य या साहित्यकार के पास यह अपेक्षा लेकर जाते हैं कि वह हमारे अभिलषित या संस्कारगत-अभ्यासगत सिद्धांत की पुष्टि करेगा या उसके प्रचार-प्रसार में हाथ बंटाएगा, तो हमारी ऐसी अपेक्षा आरंभदूषित और पूर्वाग्रही होगी। हमारे कहने का यह आशय कदापि नहीं है, कि साहित्य या साहित्यकार ऊंचे सिद्धांतों से अथवा उन्हें प्रतिपादित करने वाले महापुरुषों से प्रभावित-प्रेरित नहीं हो सकता। होता है; किंतु, अपनी प्रत्यक्ष जीवनानुभूति और बहुआयामी मनुष्यत्व की शर्तों पर ही। वह शेक्सपियर की भांति 'इयागो' सरीखे नरपिशाच तक को करुणा से वंचित नहीं रख सकता [ओ इयागो! द पिटी ऑव इट!....]। किंतु, उसकी पैशाचिकता का समूचा उद्घाटन और साक्षात करा चुकने के बाद ही। वह प्रसादजी के 'स्कंदगुप्त' की तरह भटार्क सरीखे असाध्य देशद्रोही, विश्वासघाती तक को बारंबार क्षमादान कर सकता है, किंतु अपने पाठक को यह भी अन्यत्र अच्छी तरह जतला चुकने के बाद ही, कि.... 'हमारी अत्यधिक क्षमाशीलता ने ही हमें दूसरों के सम्मुख आसानी से वेध्य और वध्य बनाया।'—प्रसादजी का सांस्कृतिक मूल्यबोध उन्हें इतिहास की अनदेखी नहीं करने देता।

इसी तरह कथा-साहित्य से उदाहरण लें, तो अहिंसा और गांधी-दर्शन की साहित्यिक अभिव्यक्ति के शिरोमणि सरीखे जैनेंद्रकुमार का कृतित्व हमें मनुष्य नामक अंधरव में सीधे उतार देता है। अहिंसा को लेकर जिस कोटि का उत्कृष्ट चिंतन उन्होंने अपने निबंधों में किया है, वैसा किसी और ने नहीं किया। किंतु, वे साहित्य में जाने जाएंगे अपने कथा-साहित्य की उस गहरी मानवीय संवेदना और मानुष-सत्य की गहरी पकड़ के कारण, जो कि मात्र वैचारिक गद्य के बूते से बाहर है। किसी सिद्धांत की पुष्टि या निदर्शन के लिए नहीं लिखे गए हैं—उनके उपन्यास.... **'कत विधि सृजी नारि जग मांही?'**—यह व्याकुल प्रश्न तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का है, किंतु इसका जैसा त्रासद और अतलांत अनुभव जैनेंद्र के उपन्यासों के स्त्री-पात्र हमें कराते हैं, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पर, आप यह नहीं कह सकते कि वे गांधीवाद के प्रचारक हैं या कि अहिंसा विमर्श के कथाकार हैं। वैसा कहना बहुत कम कहना होगा और गलत-एकांगी कथन भी होगा। रचना को उसकी जीवंत धुरी से भी विस्थापित कर देना होगा। यह भी अकारण नहीं है कि हालांकि यह रचनाकार जैन धर्म में जन्मना दीक्षित था। पर, उसका व्यक्तित्व और कृतित्व किसी भी तरह उसके संस्कारगत परिवेश से सीमित-नियंत्रित या 'कंडीशंड' नहीं है। बल्कि, कहीं उसमें इस संस्कारगत 'कंडीशनिंग' के प्रति एक प्रच्छन्न और प्रकट विद्रोह-भाव भी क्रियाशील है। यह बात उनके परवर्ती लेखक बंधु वीरेंद्रकुमार जैन पर भी लागू होती है। उनके दोनों बहुचर्चित उपन्यास 'मुक्तिदूत' और 'अनुत्तरयोगी' जैन वाड्मय और दर्शन की ही विषयवस्तु को लेकर चले हैं और दूसरा उपन्यास तो महावीर की अंतर्जीवनी पर ही एकाग्र है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि जैन धर्मावलंबियों को भी इन उपन्यासों में व्यक्त दृष्टि या ब्योरे पूरी तरह रास आ ही जाएं। रचना और रचनाकार की स्वतंत्रता ही परंपरागत, अभ्यासजनित और संस्कारगत अपेक्षाओं के आड़े आ सकती है—आती ही है।

एक बात और इसी विचारधारा और साहित्य-सर्जना के संबंध को लेकर ध्यान में रखने योग्य है और वह यह कि अकसर न केवल विभिन्न लेखकों की कृतियों में रचे गए अर्थ-लोक अलग-अलग हो सकते हैं, बल्कि एक ही साहित्यकार की कृतियों में भी आश्चर्यजनक वैविध्य लक्षित किया जा सकता है। एक ही लेखक अपने विचार-क्रम में कई विचार-सरणियों से गुजरता हुआ कभी एक के प्रभाव को झलकाता लगता

है, कभी एकदम भिन्न—यहां तक कि विपरीतमुखी विचारधारा के प्रभाव को भी। छायावादी कवियों को ही ले लें—मसलन सुमित्रानंदन पंत की कविता में एक समय मार्क्सवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, तो दूसरे चरण में गांधीवाद का और तीसरे चरण में श्रीअरविंद के दर्शन का। वास्तविकता जबकि यह है कि कवि इन सबसे प्रभाव ग्रहण करता हुआ भी किसी का अनुयाई-अनुचर नहीं था, और न ही है। अपने आत्मकेंद्र में उसका कवित्व इन सबके साथ खुली संवेदना से प्रतिकृत होता हुआ भी स्वाधीन अर्थ-लोक का वासी और रचयिता है। लेखक यदि सचमुच प्रतिभाशाली और सृजनशक्ति-संपन्न है तो वह किसी भी, कैसी भी विचारधारा का अनुचर नहीं बन सकता। निम्नोक्त काव्य पंक्तियां ही देख लें—

'सफल आज उसका तप संयम
मिला अहिंसा स्तंभ सुधोपम
हरती जन-मन भय, भव-तम-भ्रम,
जग जननी, जीवन-विकासिनी'

'भारत माता ग्राम वासिनी'—का यह चित्र जिसने उकेरा है, उसी ने आगे उसी भारतमाता की ही एक और संतान की यह हृदय-द्रावक और रोंगटे खड़े कर देने वाली मूरत भी उभारी है—

'अंधकार की अतल गुहा सी
उन आंखों से डरता है मन
वर्ग-सभ्यता के मंदिर के
निचले तल की वे वातायन।'

वर्ग-सभ्यता का यह मंदिर गांधीवादी अहिंसा का मंदिर तो हो नहीं सकता। न ही, 'मानव के पाशव-पीड़न का विज्ञापन' करती हुई ये आंखें ही गांधीवादी आंखों से देखी गई आंखें हैं। कवि की संवेदना यहां मार्क्सवादी विचारधारा की मदद ले रही है। पर, वह उससे बंधा नहीं रहा।

निराला में भी यह बात देखी जा सकती है। प्रसिद्ध गांधी-टैगोर विवाद में निराला दृढ़तापूर्वक गांधीजी का पक्ष लेकर टैगोर को कड़ा प्रत्युत्तर देते हैं। किंतु, स्वयं उनके काव्य में अहिंसा और गांधीवादी अहिंसा का उस तरह का कोई सर्जनात्मक योगदान नहीं झलकता। **'शक्ति की करो तुम मौलिक कल्पना'**.... यह सूत्रवाक्य है, उनकी सर्वाधिक विख्यात कविता 'राम की शक्तिपूजा' का। उसे निश्चय ही 'अहिंसा' के सिद्धांत-प्रतिपादन की तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी तरह उनकी दूसरी सुविख्यात कविता 'तुलसीदास' में भी हम देखते हैं कि एक अनात्म शक्ति देश की चेतना पर कुंडली मारे बैठी है। 'तम का आसव' पीकर सब आत्म विस्मृति के शिकार हो गए हैं। ऐसी दुरवस्था में 'सांस्कृतिक आत्मविश्वास' की पुनरुपलब्धि कैसे हो? एक मात्र उपाय, जो निराला इस कविता में सुझाते हैं, वह है—'जीवन के प्रखर ज्वार में बहते हुए सत्य मार्ग पर विरोध से द्वंद्व-समर की चुनौती स्वीकार करना।'—जो कि महाकवि येट्स द्वारा एक बंगाली प्रोफेसर के अनुरोध पर दिए गए 'भारत के लिए संदेश' की याद दिला देता है—'कांफलिक्ट, मोर कांफलिक्ट'—की। निराला के आदर्श कवि तुलसीदास इस चुनौती को स्वीकार करते हैं, परंतु स्पष्ट है कि यह स्वीकार और यह सुझाव-संदेश भी 'अहिंसा' की सैद्धांतिकी में नहीं घटाया जा सकता, न ही 'रिड्यूस' किया जा सकता।

इसी तरह यदि हम जयशंकरप्रसाद के कृतित्व को लें, तो यह दावा करना व्यर्थ होगा कि उनका प्रेरणा-स्रोत 'अहिंसा' सिद्धांत है। कामायनी-श्रद्धा जिस मनुपुत्र को 'तर्कभरी इडा' के हाथों में सौंप जाती है, उसमें अपेक्षा है कि वह 'सब की समरसता' का प्रचार करेगा। इस 'समरसता' में अहिंसा अंतर्भुक्त हो सकती है, किंतु समीकृत नहीं, वह अलग दर्शन है। प्रसादजी कामायनी में कहते हैं—

ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की?
एक-दूसरे से न मिल सके
यह विडंबना है जीवन की।

प्रश्न उठता है—इस विडंबना का इलाज क्या

है? कामायनी के अंत में एक 'विमला प्रेम-ज्योति' प्रकट होती है···· और कवि कहता है—

समरस थे जड़ या चेतन/सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती/आनंद अखंड घना था।।

क्या इस सामरस्य-दर्शन को या कह लीजिए, आनंदवाद को 'अहिंसा' से समीकृत किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता।

इसी सिलसिले में प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक 'स्कंदगुप्त' पर भी दृष्टिपात करना ठीक होगा। उसमें यज्ञ-बलि देने को उद्यत ब्राह्मण को एक श्रमण द्वारा कहलवाया गया है—'तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहां था?' तभी सिंहल का राजकुमार धातुसेन आकर कहता है—'अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी?···· उपनिषदों के 'नेति-नेति' से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है।···· इतना ही नहीं, कामना से अंधी जनता के विलासी समुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है।'—इस आरोप से क्षुब्ध वह ब्राह्मण धातुसेन को 'नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध' बताता है और कहता है—'तुमको अधिकार क्या है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो?'—तब उस विहार के आचार्य प्रख्यातकीर्ति के मुख से प्रसादजी ने जो कहलवाया है, वह हमारे प्रस्तुत संदर्भ में मननीय है, बल्कि दो-एक उद्धरण यहां टांक लेना अच्छा रहेगा। एक तो धातुसेन का, जो कहता है—'आप लोग उन्हीं त्याग और क्षमा की मूर्ति ब्राह्मणों की संतान हैं, जिन्होंने अनेक यज्ञ एकबारगी बंद कर दिए थे। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता है, क्योंकि मानव-बुद्धि ज्ञान के विकास के साथ बढ़ेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।'—दूसरा कथन है, प्रख्यातकीर्ति का—'धर्म के अंधभक्तो! मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए सत्य का विकास भी अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो, तो ज्ञानवृद्धि असंभव हो जाए। सभी धर्म देश और काल के अनुसार विवृत होते रहते हैं।····हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएं हैं।'

प्रसादजी वैदिक आनंदवादी कर्मयोगी जीवन-दृष्टि के कायल थे, किंतु बौद्ध 'करुणा' से भी भरपूर संवेदित थे। एकांगी अहिंसा के अतिवाद के विरोधी भी। 'स्कंदगुप्त' से उन्होंने जो कहलवाया है, इस प्रसंग में वह दृष्टव्य है, स्कंदगुप्त कहता है—'इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है। विश्व-नियंता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। मैं उन्हीं का अस्त्र हूं। उन्हीं के संकेत पर मुझे अत्याचारियों से जूझना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं।'

यह अनासक्त, किंतु सोद्देश्य कर्म-प्रेरणा ही हिंदी साहित्य की मुख्यधारा है, भारतीय भाव-बोध की ही मुख्यधारा की तरह। यहां यह स्मरण भी स्वाभाविक होगा कि आधुनिक युग में अहिंसा के सबसे बड़े पैरोकार महात्मा गांधी के लिए भी अहिंसा का अर्थ, टॉल्सटॉय वाला निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रेजिस्टेंस) नहीं है। कृष्ण के उद्‌बोधन से पूर्व अर्जुन की मनोदशा भी वैसी ही थी। पर, गांधीजी गीता के अनासक्त और सक्रिय प्रतिरोध वाले कर्मयोग के कायल हैं। उनका सत्याग्रह भी अहिंसक प्रतिरोध का सक्रिय और तेजस्वी अहिंसा का आग्रह है। भले, कृष्णमूर्ति सरीखे चिंतकों को यह 'आग्रह' भी हिंसा से मुक्त न लगता हो।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी उस तरह गांधीवादी अहिंसा के पक्षधर नहीं थे। उनकी सहज सहानुभूति सशस्त्र क्रांतिवीरों के प्रति थी। आधुनिक साहित्य में अज्ञेय पहले स्वयं क्रांतिकारी होने के नाते गांधीजी की अहिंसा के कठोर आलोचक थे। किंतु, ध्यान देने की बात है कि प्रौढ़ावस्था में उनका दृष्टिकोण एकदम बदल गया था। उन्होंने खुद ही कहा [लिखा है] कि—

'महात्मा गांधी के जीवनकाल में उनकी

राजनीतिक प्रवृत्तियों का मैं कटु आलोचक रहा, किंतु मुझे लगता है कि जीवन के संपूर्ण राजनैतिकीकरण के दुष्परिणामों को गांधीजी अच्छी तरह समझते थे। इसीलिए उनका राजनैतिक चिंतन सदैव राजनीति को व्यापक धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भों से भी जोड़ता रहा। शुद्ध राजनीति के मुहावरे में उन्होंने अपने को बंधने नहीं दिया।'

इस प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अज्ञेय की जो स्वीकारोक्ति है, वह यह है कि—'किसी भी मतवादी रूढि से अलग धर्म की उद्‌भावना को मैं भारतीय चिंतन की बहुत बड़ी देन मानता हूं। संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया, जितना भारतीय धर्म ने दिया। किसी ने स्वस्थ जीवन की उतनी गहरी नींव नहीं डाली, जितनी भारतीय धर्म ने।'

अज्ञेय-साहित्य की असल प्रतिश्रुति और विभेदक विशेषता इसी स्वातंत्र्य-बोध में है, न कि किसी मतवादी रूढि में। कहना अनावश्यक है कि अहिंसा भी एक मतवादी रूढि बन जा सकती है और बनी ही है। परंतु, वैसा मतवाद साहित्य का, गंभीर साहित्य का प्रेरणास्रोत नहीं बन सकता।

अज्ञेय ने अपनी अंत:प्रक्रियाओं के [डायरी] संकलन 'शाश्वती' में दो बातें ऐसी कही हैं, जो प्रस्तुत संदर्भ में बहुत सटीक और विचारणीय हैं। एक तो यह कि साहित्य का इष्ट संवेदना की कोई एक नियंत्रित लीक नहीं है। उसका इष्ट है पूरे संवेदन का विस्तार। गहराई में, प्रसार में, स्वभाव में, गुणवत्ता में—प्रकृति में ही विस्तार।

और दूसरी दृष्टि यह कि—'क्रांति की बात करने वाले अधिकतर मतवाद को एक तरह का छुआछूत मानते हैं। वे शुद्धतावादी हैं और जिसे 'अपना' नहीं समझते, उसे दूर रखने पर जोर देते है—बहिष्कारवादी हैं। मार्क्सवाद भी ऐसा ही रहा है और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी वैसा ही है। वह क्रांति की बात नहीं करता, पर यह बहिष्कारवादी संकीर्णता उसे और कट्टर मार्क्सवादी को बराबर ला खड़ा करती है। इस देश का मूल मन:संस्कार बहिष्कारवादी नहीं रहा है, अब भी नहीं है। जात-पांत के बावजूद आज भी नहीं है। वह सब को साथ लेकर चलना चाहता है।'

सबको साथ लेकर चलने वाली दृष्टि ही साहित्य के काम आने वाली सत्यमूलक अहिंसा की दृष्टि है। किसी भी मतवादी घेरे से मुक्त। ❖

अहिंसा और शिक्षा : एक अटूट संबंध

❑ पवनकुमार गुप्ता

शिक्षा का मूल मकसद एक ऐसे इनसान का निर्माण करना है, जो जैसी व्यवस्था पहले से अस्तित्व में विद्यमान है, जो नियम शाश्वत हैं—उन्हें समझ कर अपना आचरण, उस शाश्वत व्यवस्था के अनुसार ढाले और समग्रता में जीवन के विभिन्न आयामों में एक सुंदर और स्वस्थ जीवन जी सके। मनुष्य और पशु-पक्षियों के बीच यही फर्क है। अस्तित्व में ऐसी व्यवस्था है कि पशु-पक्षी बिना शिक्षा लिए ही इस व्यवस्था के अनुसार जीते हैं, आचरण करते हैं। परंतु, मनुष्य के पास यह विकल्प है कि जो व्यवस्था है, उसे समझ कर, उसके अनुसार आचरण करे अथवा बिना समझे अपनी मनमरजी के अनुसार आचरण करे, जो शाश्वत व्यवस्था के अनुकूल भले न हो। इसलिए मनुष्य के लिए शिक्षा की आवश्यकता है, ताकि वह इस व्यवस्था को समझ सके।

इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि मनुष्य पशु की तरह अपना जीवन जीए। मनुष्य और पशु की चाहना में बुनियादी फर्क है। पशु सिर्फ जीने की चाहना रखता है। उसका समस्त आचरण अपने को बनाए रखने के लिए, जीने के लिए होता है। इस प्रक्रिया में वह शाश्वत व्यवस्था के साथ ताल-मेल बना कर ही आचरण करता है। इसलिए पशुओं के आचरण में एक प्रकार की निश्चितता देखी जा सकती है—उनके खान-पान में, उनके बच्चे पैदा करने की प्रक्रियाओं में, इत्यादि। यह भी अस्तित्व में विद्यमान व्यवस्था का हिस्सा है कि पशु वंशानुषंगी हैं। जिस वंश में पशु पैदा होता है, उसी वंश के निश्चित आचरण के अनुसार वह व्यवहार करता पाया जाता है, चाहे दुनिया के किसी भी हिस्से में उसका वास हो। शाकाहारी और मांसाहारी पशु के वंश निश्चित हैं। उनके बच्चे पैदा करने के

जब तक 'विकास' और शिक्षा के संबंध को नहीं समझा जाएगा, शिक्षा पर कोई ठोस काम नहीं होगा। हम अहिंसा की बात करें और आज के विकास को चुनौती न दें, तो फिर यह या तो भुलावा होगा या धोखा। वैसे भी हमारे देश में प्रवचन देने की, उपदेश देने की और अच्छी-अच्छी, परंतु खोखली बातें करने की परंपरा बहुत पुरानी है।

❑

महीने भी तय हैं। पर, मनुष्य अपनी समझ या मनमरजी से जीने को स्वतंत्र है।

मनुष्य केवल मात्र जीने से संतुष्ट नहीं होता। जीना तो है, लेकिन साथ में सुख और संतुष्टि भी चाहिए, उसे। इसलिए भूखा पशु फेंका हुआ खाना खा लेगा, परंतु भूखे मनुष्य को फेंका हुआ खाना, किसी विकट स्थिति में खाना पड़े तो भी वह उसे स्वीकार नहीं होता। उसे सम्मान भी चाहिए, जो जीने के लिए अनिवार्य नहीं है। पशु में इस प्रकार की चाहना दिखाई नहीं पड़ती। जहां पशु अपने शरीर को बनाए रखने में अपना धर्म [शाश्वत व्यवस्था के साथ तालमेल बैठाते हुए अपनी चाहना की भी भरपाई] निभा पाता है। वहीं मनुष्य सिर्फ अपने शरीर की आवश्यकता को पूरा करके अपनी चाहत को पूरा नहीं कर पाता। शरीर के साथ-साथ सुख, सम्मान, विश्वास, गौरव, प्रेम, संतुष्टि की आवश्यकता मनुष्य की मूल चाहत में विद्यमान है। इनकी पूर्ति बिना शाश्वत नियमों को समझे और फिर समझ के अनुसार आचरण किए, संभव नहीं।

शिक्षा का काम इन नियमों और व्यवस्था को समझाने का और संस्कार का काम उस समझ को आचरण में लाने का होता है। मनुष्य के लिए इसलिए शिक्षा जरूरी है कि अस्तित्व की व्यवस्था समझ कर ही वह अपनी चाहना पूरी कर सकता है और अपने आचरण को शाश्वत व्यवस्था के अनुसार ढाल सकता है—तभी वह अपना धर्म निभा पाता है। अस्तित्व में सहअस्तित्व की व्यवस्था है, अस्तित्व की किसी भी इकाई को नुकसान पहुंचाए बगैर, अन्य मनुष्य और प्रकृति का शोषण किए बगैर मनुष्य अच्छी तरह जी सकता है और संतुष्ट भी हो सकता है।

प्रकृति तथा दूसरों को नुकसान पहुंचा कर और शोषण करके अपने को सुखी करने की चेष्टा या नासमझी ही हिंसा है। यानी हिंसा गलत समझ की ही पैदाइश है। सही शिक्षा और आचरण में अहिंसा स्वयं-स्फूर्त है। अस्तित्व में विद्यमान व्यवस्था को समझ कर उसके अनुसार आचरण करने को भी अहिंसा कहा जा सकता है। वर्तमान समय में जिसे हम शिक्षा कह रहे हैं, वह शिक्षा कहने लायक है भी या नहीं—यह सोचने का विषय है। शिक्षा और अहिंसा पर बात करने से पहले इस उलझन को साफ करना आवश्यक है। क्योंकि शब्दों में ताकत होती है और एक ही शब्द के सर्वथा अलग-अलग अर्थ इंगित होते रहते हैं। जब इन विभिन्न अर्थों में इतना बड़ा फासला हो तो शिक्षा पर बात करने से पहले यह सफाई जरूरी है। आज जिसे प्रचलित तौर पर शिक्षा कहा जा रहा है—वह शिक्षा के मौलिक अर्थ से सर्वथा भिन्न है।

आज की शिक्षा और आज के 'विकास' की अवधारणाएं एक ही स्रोत से निकलते हैं, जिसमें हिंसा निहित है। इतना ही नहीं, समस्त आधुनिक [मानवकृत] व्यवस्थाएं, जिनकी महात्मा गांधी ने 'हिंद स्वराज' में बखूबी विवेचना की है—आधुनिक शिक्षा प्रणाली के अलावा, आधुनिक स्वास्थ्य प्रणाली, आधुनिक तकनीकी, आधुनिक न्याय प्रणाली, आधुनिक लोकशाही की अवधारणाएं उस एक ही स्रोत से निकली हैं। आधुनिक व्यवस्थाओं की बुनियाद में, अस्तित्व में सहअस्तित्व है, इसकी कोई समझ नहीं है। इसमें प्रकृति और उन मनुष्यों का भी, जो अपने नहीं माने जाते, शोषण अनिवार्य है, अपने जीने और सुखी होने के लिए। समस्त आधुनिक विकास का लक्ष्य प्रकृति में व्याप्त भौतिक तत्त्वों [पदार्थ] के शोषण और उनका रूप बदल कर अपनी सुविधाओं के लिए परिवर्तित करने का है। आज की विकास की अवधारणा पूरी तरह विरोधाभासी है। जब तक विकास शोषण पर निर्भर है, तो वह कुछ ही लोगों को सुविधा प्रदान कर सकता है। औपनिवेशिक काल में यह शोषण मार-काट के जरिए, सीधे-सीधे हुआ। आज लोकतंत्र के जमाने में वैसा करना संभव नहीं, तो विकसित तकनीक के सहारे अनेक छद्म रूपों से वह होता है। पहले शोषण करने वाले दिखाई देते थे, अब वे अदृश्य हो गए हैं। ऐसी व्यवस्थाएं और तकनीकें विकसित हो गई हैं, जिससे ऐसा संभव हो गया है।

यह स्पष्ट होना चाहिए कि भौतिक तत्त्वों का निर्माण मनुष्य नहीं कर सकता, वह सिर्फ उसका रूप बदल सकता है। भौतिक तत्त्वों का निर्माण तो प्रकृति ही करती है और वह भी अपनी सहज गति से। मनुष्य अपनी नासमझी और उन्माद में इस गति को घटा या पूर्णत: क्षतिग्रस्त तो कर सकता है, बढ़ा नहीं सकता। अगर मनुष्य समझदार है, तो प्रकृति में संतुलन बना रहे—ऐसा वह कर सकता है। मनुष्य इन भौतिक तत्त्वों का निर्माण नहीं कर सकता, सिर्फ उनका रूप बदल सकता है। एक को बनाने के लिए दूसरे को नष्ट करना अनिवार्य है। इसलिए उसके पास विकल्प सिर्फ यही है कि वह इन तत्त्वों का शोषण करे या पोषण/संरक्षण करे। पोषण/संरक्षण करना, यानी व्यवस्था को समझ कर उसके अनुसार जीना, आचरण करना—अहिंसक तरीके से—यहीं शिक्षा का स्थान है। शोषण करना यानी गलत समझ, मनमरजी से जीना हिंसा—गलत शिक्षा।

शिक्षा के अंतर्गत ज्ञान, विज्ञान और विवेक—तीनों आते हैं। विज्ञान का ज्ञान और विवेक से नियंत्रित होना जरूरी है। बेलगाम विज्ञान विनाश की ओर ले जाता है, जो आज हम प्राय: सर्वत्र देख सकते हैं। फिर विज्ञान की ऊर्जा शोषण कर के, शरीर के लिए सुविधाओं को बढ़ाने में ही लगी रहती है। भौतिक तत्त्वों में विकास है ही नहीं। रूप का परिवर्तन है। और, इसी विज्ञान और तकनीक के जरीए किए गए बदलाव [शोषण] को हम विकास कहने लगे हैं। भौतिक तत्त्वों में विकास या बढ़ोतरी है ही नहीं, सिर्फ प्राणावस्था में विकास पाया जाता है। एक पेड़ या पौधे से सैकड़ों पेड़-पौधे लगाए जा सकते हैं, परंतु पदार्थ की मात्रा बिना दूसरे पदार्थ को कम किए संभव नहीं।

शब्दों में बड़ी ताकत होती है। शब्द का गलत चुनाव भ्रम पैदा करता है। जहां विकास है ही नहीं, वहां विकास को देखना, भ्रम पैदा करना है। इसी भ्रमित अवधारणा का प्रचार हमारी आधुनिक शिक्षा कर रही है। आधुनिक शिक्षा इस 'विकास' की दौड़ में 'शिक्षितों' को बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेने को प्रेरित करती है।

आज एक खतरनाक स्थिति यह भी है कि जो लोग वैकल्पिक शिक्षा में प्रयोग कर रहे हैं और जो इस शिक्षा प्रणाली से दुखी हैं और वे लोग भी, जो धार्मिक परंपराओं से प्रेरित होकर या वे धार्मिक संगठन भी, जो शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे हैं—उनमें से अधिकांश आज प्रचलित और लोकप्रिय हुई 'विकास' की अवधारणा और आम आदमी में उठी उसकी मांग को चुनौती नहीं देते, या उसे नजर-अंदाज करते हैं। वे इस बात से भी बचते हैं कि 'विकास' और शिक्षा के गहरे संबंध को देखा जाए। हमारे धार्मिक और सामाजिक लोग भी बहुधा सच कहने से बचते हैं, खासकर अगर वह सच कड़ुवा हो और प्रचलित सोच से अंतर रखता हो। यह भी एक प्रकार की हिंसा है।

सच को सच कहने की ताकत महात्मा गांधी के बाद देखने को कम ही मिलती है। इसे याद करवाना जरूरी है कि जलियांवाला बाग में हुई क्रूर हत्याओं के बाद जब पूरा देश जल रहा था, महात्मा गांधी में लोकप्रिय भावनाओं के विरुद्ध जाकर, यह कहने की जबरदस्त हिम्मत थी कि जो लोग जलियांवाला में मारे गए, वे शहीद नहीं कायर थे। अगर शहीद होते तो उनके सीने में गोली लगती। लोक भावना के विरुद्ध, अगर सचाई अलग हो जाने की हिम्मत आज राजनीतिक क्षेत्र में तो छोड़िए, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी नहीं दिखती।

जब तक 'विकास' और शिक्षा के संबंध को नहीं समझा जाएगा, शिक्षा पर कोई ठोस काम नहीं होगा। हम अहिंसा की बात करें और आज के विकास को चुनौती न दें, तो फिर यह या तो भुलावा होगा या धोखा। वैसे भी हमारे देश में प्रवचन देने की, उपदेश देने की और अच्छी-अच्छी, परंतु खोखली बातें करने की परंपरा बहुत पुरानी है। फिर से हमें महात्मा गांधी को याद करना पड़ेगा। वे संत थे, अहिंसा उनके लिए एक अनिवार्य शर्त हुआ करती थी—विचार और आचार दोनों में—पर, उनकी अहिंसा में आग थी और अहिंसात्मक विरोध शामिल था। हमारी अहिंसा खोखली हो गई है। जिस देश में महात्मा गांधी के अथक प्रयास के बावजूद

घोर दोगलापन, महज लफ्फाजी और साफ-साफ बात कहने से बचने की आदत तथा हीन-भावना सदियों की गुलामी की वजह से हमारे चरित्र का हिस्सा हो गई हो, वहां अहिंसा को निडरता, संघर्ष, साफगोई, स्पष्ट कथन और आत्मविश्वास से जोड़ना ही होगा।

हमारी शिक्षा की प्रणाली, पाठ्यक्रम और शिक्षकों की सोच एवं रवैये में भी बुनियादी बदलाव लाना होगा, अगर हम अहिंसा और शिक्षा के बीच के संबंध को समझना अनिवार्य मानते हैं। अहिंसा उपदेश की वस्तु नहीं है। अहिंसा समझने की वस्तु है और यह एक अनिवार्यता है। यह मानने की नहीं, समझने की चीज है। आज 'विकास' की दौड़ में जो होड़ लगी है, 'विकास' की अवधारणा में—जहां प्रकृति और उन मनुष्यों का शोषण, जो इस मानव-कृत व्यवस्था में कमजोर बना दिए गए हैं या जो विकास की दौड़ में पीछे रह गए है—वहां होड़ भी स्वत: ही अनिवार्य हो जाती है। होड़ और शोषण या हिंसा के बीच मेल है। जबकि होड़ और अहिंसा के बीच विरोध है। आज जिसे विकास कहा जा रहा है, जिसे शिक्षा कहा जा रहा है—उसमें और शोषण, हिंसा और होड़ में अटूट संबंध है।

शिक्षा से होड़ को कम नहीं—पूरी तरह हटाना होगा। होड़ या स्पर्धा करवा कर, एक की दूसरे से तुलना करके ही मूल्यांकन हो सकता है—इस मानसिकता से छुटकारा पाना अत्यंत जरूरी है। और, अगर आज के शिक्षाविदों को बगैर तुलना किए, मूल्यांकन करना नहीं आता—तो उन्हें भारत की परंपराओं में झांक कर देखने की जरूरत है। उन्हें वहां सूत्र ही नहीं, तरीके भी मिल जाएंगे। स्पर्धा की बुनियाद में जाएं तो पता चलता है कि इसमें मूल्यांकन का आधार एक की दूसरे से तुलना होती है। न की जो वस्तु शिक्षा में दी गई या पढ़ाई गई है, उस वस्तु का निहित मूल्य समझ कर उस मूल्य से सबको अवगत कराने के पश्चात्, उन मूल्यों के आधार पर मूल्यांकन होता हो। किसी भी मूल्यांकन का आधार, निहित मूल्य ही होना चाहिए। यहां वस्तु में निहित मूल्यों की बात की जा रही है, न की थोपे हुए, नकली मूल्यों की। जैसे कपड़े का निहित मूल्य शरीर को संरक्षण देना है, शरीर को सर्दी-गर्मी से बचाना है, न की उसकी दूसरे को प्रभावित करने की क्षमता। गाड़ी का मूल्य, उसकी कीमत नहीं, उसकी एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने की क्षमता है। कीमत और मूल्य सर्वथा अलग-अलग हैं। इस दृष्टि से पाठ्यक्रमों की अगर समीक्षा की जाएगी तो बहुत-सी चीजें जो आज पाठ्यक्रम का हिस्सा हैं, उन्हें बाहर करना पड़ेगा। क्योंकि उन विषय-वस्तुओं में कोई ठोस मूल्य दिखाई ही नहीं देगा।

तुलना करके मूल्यांकन करने की विधि और इस प्रकार की सोच और एकरूपता (uniformity या standardization) के बीच एक गहरा संबंध है। इस सोच में मूल्य, लक्ष्य नहीं होते, बाहरी आवरण (चाल-ढाल, पहनावा, फैशन, डिग्री, पद, रूप, रंग, पैसा, सुविधाएं, औपचारिकताएं इत्यादि) लक्ष्य बन जाते हैं। आज तो बाहरी आवरणों में एकरूपता लाने का प्रयास चौतरफा हो रहा है, जो असंभव और हिंसक प्रयास है, अस्तित्व विरोधी है। एकरूपता तो सिर्फ समझ—मूल्यों की समझ, व्यवस्था की समझ में ही लाई जानी चाहिए।

सम्मान हाथ जोड़ने या पांव पड़ने में नहीं है। औपचारिकता में भी नहीं है। यह भाव में है, जो महसूस किया जा सकता है। भाव स्थिति है और हाथ जोड़ना या पांव पड़ना गति। आज की शिक्षा गति-केंद्रित है। उसे स्थिति-केंद्रित करने की जरूरत है। गति अपने आप प्रस्फुटित होती है। सम्मान को बाहरी आवरणों में खोजना—चाहे वो पांव पड़ने की क्रिया हो अथवा शान-शौकत हो—इससे भुलावा बढ़ता है, होड़ होती है, दिखावा बढ़ता है और अंतत: हिंसा होती है। गति पर समस्त ध्यान होने पर—जो आज हो रहा है—बनावटीपन, दिखावा नजर आता है। और, मौलिकता गायब हो जाती है। बाहरी आवरणों में विविधता प्रकृति-सहज है। अत: शिक्षा में मूल्यों की समझ देनी होगी, ताकि हर व्यक्ति स्वतंत्र होकर अपनी-अपनी, विविधता के अनुसार जी सके, बगैर दूसरे से तुलना किए।

अगर शिक्षा सही मूल्यों की समझ दे पाती है, तो मनुष्य दूसरों से संचालित न होकर स्वयं से संचालित

होने लगेगा। उसे किसी अन्य से होड़ नहीं रहेगी। वह अपनी आवश्यकताओं और जीने का तरीका स्वयं तय करने लायक होगा—शाश्वत नियमों की समझ के आधार पर। यही सच्ची स्वतंत्रता है।

तुलना और स्पर्धा समाज में ऊंच-नीच और हीन-भावना को जन्म देती है। एक तरफ, उन लोगों को, जो स्पर्धा में आगे निकल जाते हैं, शोषण करने को प्रेरित करती है। क्योंकि यही उनकी सफलता का प्रमाण माना जाता है और दूसरी तरफ जो पीछे रह जाते हैं, वे हीन-भावना के शिकार होकर अपने को शोषित होने को छोड़ देते हैं—उसे अपने भाग्य का लिखा मान कर।

स्पर्धा में दिखावा और आडंबर भी साथ-साथ चलते हैं। हम भूल जाते हैं कि 'होने' और 'दिखावे' या 'दिखने' तथा 'होने' और 'लगने' के बीच बुनियादी भेद होता है। 'अच्छा लगना', 'अच्छा दिखना' और 'अच्छा होना' के बीच बहुत बड़ा भेद हो सकता है। अहिंसक लगने, अहिंसक दिखने और अहिंसक होने के बीच भी ऐसा ही भेद है। इससे भी बढ़ कर, हमें यह मानना होगा कि अहिंसा में दिखावे की कोई जगह नहीं होती। अहिंसा पारदर्शी होती है। दिखावे का अर्थ ही है, कि जो नहीं है—उसे दिखाया जाए। दिखावे में एक छलावा होता है। छलावे और अहिंसा में विरोध है। शिक्षा में इन बातों को अच्छी तरह स्पष्ट करना होगा, समझना पड़ेगा, तभी अहिंसा की बुनियाद बनेगी।

शिक्षा में शाश्वत नियमों (जो हैं) की समझ देनी ही होगी, तभी अहिंसा की समझ आएगी, वरना वह सिर्फ उपदेश की वस्तु रह जाएगी। ऐसी समझ से अहिंसा स्वत: ही स्वभाव का हिस्सा बन जाती है।

अहिंसा 'स्व' के अर्थ में प्रकट होती है। मनुष्य सही मानी में स्वार्थी हो जाए तो अहिंसक हो जाएगा? आज हम दूसरे को प्रभावित करने की शिक्षा देते हैं। शिक्षा को प्रभाव-मुक्त करना आवश्यक है, न कि वह किसी से प्रभावित हो। इसी तरह शिक्षा के क्षेत्र में किसी को प्रभावित करने की चेष्टा भी नहीं होनी चाहिए। प्रभाव में नकल होती है। शाश्वत नियमों की सही समझ अगर दी जाए, तो स्वत: ही ऐसा होगा। क्योंकि शाश्वत नियमों की समझ आने से, 'होने' का एहसास भी होने लगता है। इससे निरपेक्ष आत्मविश्वास अपने-आप उत्पन्न होता है और दिखावे की जरूरत खत्म हो जाती है। दिखावा अंतत: हीन-भावना और कमजोरी से ही जन्मा होता है।

आज की शिक्षा चूंकि प्रतिस्पर्धा पर आधारित है, इसलिए वह लोगों को, दूसरों को नीचा दिखा कर सापेक्ष आत्मविश्वास की ओर धकेलती है। सापेक्ष आत्मविश्वास की कोई जमीन नहीं होती, बुनियाद नहीं होती। दूसरे से तुलना करके ही मनुष्य अपना आत्मविश्वास ढूंढ़ता है, खोता है या पाता है। दूसरी ओर निरपेक्ष आत्मविश्वास ज्ञान और आचरण पर आधारित होता है, जो दूसरे से तुलना नहीं करता। वह दूसरे से हट कर स्वयं पर केंद्रित हो जाता है। उसकी बुनियाद ठोस होती है। प्रभाव-मुक्त व्यक्ति या तो प्रेरित होगा या प्रेरित करेगा। प्रभाव हमेशा ही शरीर केंद्रित होता है। प्रभावित व्यक्ति दूसरे की नकल करने लगता है, जबकि प्रेरणा मूल्यों की ओर अग्रसर करती है, तब अपनी मौलिकता बरकरार रहती है। मूल्यों की नकल नहीं की जा सकती, उन्हें समझना होता है। समझने के बाद वे मूल्य स्थिति-परिस्थिति के अनुसार गति में प्रकट होते रहते हैं। उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता, वह स्वयं प्रस्फुटित होती है।

थोपे हुए नकली मूल्यों की नकल, प्रभावित होकर प्रभावित करने की चेष्टा ही सापेक्ष आत्मविश्वास है। शिक्षा का काम है कि वह मनुष्य को सापेक्ष आत्मविश्वास की नहीं, निरपेक्ष आत्मविश्वास की समझ दे, उस ओर प्रेरित करे। निहित मूल्यों की समझ और समझ के अनुसार आचरण निरपेक्ष आत्मविश्वास देता है। जिस व्यक्ति में निरपेक्ष आत्मविश्वास होगा, वही अहिंसक हो सकता है। ऐसा व्यक्ति ही हिम्मती होगा। अहिंसा में अपार साहस की जरूरत है। हिंसा में साहस की अनिवार्यता नहीं।

मूल्यों की समझ को शिक्षा में समाविष्ट करते

ही अहिंसा अपने आप समझ आने लगती है। दूसरे के साथ जैसे प्रकृति की अन्य इकाइयां तालमेल बैठा कर रखती हैं और अपना-अपना धर्म निभाती हैं—वैसे ही सहअस्तित्व के नियम को समझ कर मनुष्य भी अपना विशिष्ट धर्म निभा सकता है। यही समझ अहिंसा को जन्म देती है। अहिंसा उपदेश की वस्तु नहीं, ज्ञान की वस्तु है, जिसे उसके समस्त ताने-बाने के साथ समझना होता है।

हमारी शिक्षा कानून और विधान में भेद नहीं करती। यहां भी शब्द और अर्थ में स्पष्ट भेद करने की जरूरत है। महात्मा गांधी कानून से अधिक विधान को महत्त्व देते थे। यह विधान और कुछ नहीं, शाश्वत नियमों की समझ ही है। संसार के प्रत्येक राष्ट्र के कानून हिंसा का सहारा लेते हैं, दंडित करने के लिए, प्रताड़ित करने के लिए, डराने के लिए, आक्रमण करने और रक्षा के लिए, इत्यादि-इत्यादि। परंतु, विधान में हिंसा नहीं—अहिंसा है, सहअस्तित्व है। इस बात की समझ शिक्षा से आती है, ताकि मनुष्य अपने शरीर का [भोजन, वस्त्र, आवास इत्यादि] ध्यान रखते हुए सुखी और सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। विधान सदैव ही कानून से बड़ा होता है। विधान शाश्वत है, कानून बदलते रहते हैं। संविधान भी समय के साथ बदल जाते हैं या बदलने की जरूरत होने लगती है। विधान स्थाई होता है। कानून समय और स्थान, स्थिति-परिस्थिति के अनुसार बदलने पड़ते हैं। यह समझ मानव मन में आए—इसका उत्तरदायित्व शिक्षा का है। इस समझ से मनुष्य में वह ताकत आती है कि यदि कानून या संविधान, विधान के अनुकूल न हो, तो संविधान और कानून को बदला जाए अथवा बदलने के लिए अहिंसक संघर्ष किया जाए।

शिक्षा और एकरूपता के बीच विरोध को भी समझने की आवश्यकता है। सही शिक्षा उपदेश-रहित होगी, एकरूपता की नहीं। विविधता की समझ वहां होगी, बुनियादी मूल्यों की समझ वहां होगी—जो हर वस्तु में निहित होती है। थोपे हुए मूल्यों की वहां कोई जगह नहीं होगी (फैशन और विज्ञापन की दुनिया और प्रभावी-समाज नकली मूल्यों को हम पर थोपते हैं)। एकरूपता का भी संबंध हिंसा से है, होड़ से है। विविधता अहिंसक होती है। समता और समानता में भेद करना जरूरी है। अस्तित्व में दो इकाइयां एक जैसी या एक समान नहीं होतीं। आज की व्यवस्था, जो पश्चिम की 'लिबरल' सोच से निकली है, उसका चरम आदर्श मनुष्यों के बीच समानता हो—यह है। पर, समानता शाश्वत नियमों के विरुद्ध है। इस सोच की धारा को समानता से, समता की ओर मोड़ने की जरूरत है। समानता एकरूपता की वाहक है, समता में विविधता का उत्सव है। समता मूल्यों के आधार पर होती है, इसलिए उसमें विरोध नहीं है। समानता बाहरी आवरणों और सुविधाओं के आधार पर एकरूपता लाने का प्रयास भर है। इसमें विरोधाभास समाया हुआ है। इसलिए ही उस विरोध (आंतरिक और बाहरी दोनों) को झेलने के लिए हमें हमारी सोच को (घर और बाहर, अपना और पराया) और व्यवहार को भी टुकड़ों-टुकड़ों में बांटना पड़ता है। नहीं तो, यह विरोधाभास हमसे झेला नहीं जाता। व्यवस्थाओं, संस्थाओं और नियमों से हमें अपने को नियंत्रित करना होता है, अन्यथा हम इनमें निहित विरोध को झेल नहीं पाते। इन सबके बावजूद भी विरोध होता ही है। एकरूपता और समानता के अथक प्रयास के बाद भी ऐसा हो नहीं पाता, क्योंकि यह अस्तित्व विरोधी है। समानता और समता के महत्त्वपूर्ण भेद को समझ कर समता के लिए प्रयास करना होगा, जो अस्तित्व-सहज है। समानता में होड़ निहित है, जबकि समता में सहजता। समता से अहिंसा का मेल है। समानता में होड़ है, दूसरे जैसा बनने की चाह है, विरोध है, हिंसा है।

पश्चिम से निकली खंड-खंड सोचने-विचारने की इस विधि को हमें बदलना होगा। पश्चिम के 'reductionism' के सिद्धांत को हमें चुनौती देनी ही पड़ेगी। समग्रता को फिर से स्थापित करना होगा और शिक्षा में पहले 'क्या' (ज्ञान), फिर 'क्यों' (विवेक) और आखिर में 'कैसे' (विज्ञान) को इस क्रम में स्थापित करना होगा। आज की शिक्षा में यह क्रम उलटा हो चला है। सबसे पहले 'कैसे' की चिंता

होती है। 'क्या' का तो कई बार पता ही नहीं होता। अस्तित्व में विद्यमान व्यवस्था की समझ ही 'क्या' की समझ है। विभिन्न इकाइयों के बीच के संबंध, नियमों की समझ को शिक्षा का अहम हिस्सा बनाने से अहिंसा स्वयं स्थापित होगी। इसी समझ से फिर विवेकपूर्वक विज्ञान को नियंत्रित करने की जरूरत है। 'कैसे' यानी विधि, तरीके—जो स्थिति-परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। 'कैसे' एक प्रकार से माध्यम है, जो ज्ञान से स्थापित होता है। हमने माध्यमों को लक्ष्य मानने की बार-बार भूल की है—आधुनिकता और उसकी चेरी आधुनिक (बेलगाम या ज्ञान रहित) विज्ञान और तकनीक की चकाचौंध में। ❖

गीता में अहिंसा

गीता की विषय-वस्तु आत्मज्ञान और उसके उपाय हैं। दो सेनाओं के बीच युद्ध का अवसर इस विषय-वस्तु के प्रतिपादन का एक अवसर है। कोई चाहे तो कह सकता है कि स्वयं कवि युद्ध या हिंसा के विरुद्ध नहीं थे और इसीलिए उन्होंने युद्ध के अवसर को इसके लिए चुनने में कोई संकोच नहीं किया। लेकिन, महाभारत के पठन ने मुझ पर दूसरा ही प्रभाव डाला है। **कवि व्यास** ने अद्भुत और सुंदर—इस महाकाव्य के माध्यम से युद्ध की व्यर्थता को प्रदर्शित किया है। वह पूछता है—कौरवों के नष्ट हो जाने और पांडवों के विजयी होने से क्या हुआ? विजेता पक्ष में कितने लोग बच पाए और उन्हें क्या मिला? माता कुंती का अंत क्या हुआ? और आज पांडव कहां है?

जब युद्ध और हिंसा का औचित्य या प्रतिपादन महाकाव्य की विषय-वस्तु ही नहीं है, तो इन पक्षों पर बल देना अनुचित है। और, यदि कुछ श्लोकों की अहिंसा की शिक्षा से संगति मुश्किल लगती है, तो पूरी गीता को हिंसा की चौखट में बिठा पाना और भी मुश्किल है।

कोई भी कवि रचना करते समय उसकी सभी व्याख्याओं के प्रति सजग नहीं होता। कविता की खूबसूरती यही है कि रचना रचयिता का अतिक्रमण कर जाती है। जिस सत्य तक वह पहुंचता है, वह उसकी कल्पना की परमोच्च उड़ान होती है, जो उसके जीवन में बहुधा नहीं मिलती। इसलिए कई कवियों की जीवन गाथा उसकी कविता को प्रमाणित नहीं करती। गीता की केंद्रीय शिक्षा हिंसा नहीं अहिंसा है। यह दूसरे अध्याय में विषय-प्रतिपादन से ही भली-भांति प्रदर्शित हो जाता है, जिसका निष्कर्षात्मक सार अठाइसवें अध्याय में प्रकट होता है। अन्य अध्याय भी इसी बात का समर्थन करते हैं। क्रोध, राग और घृणा के बिना हिंसा असंभव है, जबकि गीता हमें सत्त्व, रजस् और तमस् के परे एक ऐसी स्थिति में ले जाने की बात करती है जिसमें क्रोध, घृणा आदि पूरी तरह बहिष्कृत हो जाते हैं।

—महात्मा गांधी

आग के दरिया से होकर गुजरना है

❑ अरविंदमोहन

भीषण युद्ध, 'एटमी' बमबारी, साम्राज्य बनने-बिगड़ने जैसी हिंसक गतिविधियों पर अंकुश लगाने में मनुष्य-समाज का अपना अनुभव कितना कारगर रहा है और कितना पत्रकारिता ने किया है, यह हिसाब लगाना तो मुश्किल है, लेकिन 'मीडिया' ने, वैश्विक संचार व्यवस्था ने, सूचना क्रांति ने निश्चित रूप से इसमें एक महती भूमिका निभाई है। भले ही अमेरिका और पश्चिम की समृद्धि, विलासपूर्ण जीवनशैली और सारी दुनिया के संसाधनों पर कब्जा जमाने की होड़ बंद न हुई हो, पर उनसे जुड़ी बातें जाहिर होने से दुनिया भर में इन पर सवाल तो उठ ही रहे हैं।

❑

खबरों की परिभाषा के क्रम में एक बहुत ही रूढ किस्म की बात कही जाती है—कुत्ता आदमी को काट ले तो कोई खबर नहीं बनती, लेकिन आदमी कुत्ते को काट ले तो खबर बनती है। आज कई लोग इस परिभाषा को थोड़ा और बदलते हैं, खासकर आज की पत्रकारिता की कथित गिरावट को दिखाने के लिए। उनका कहना है कि अगर कुत्ता बराक ओबामा, सोनिया गांधी या अमिताभ बच्चन जैसों का हो तो उसके काटने में भी खबर बनती है। जाहिर है कि आज का मीडिया कुत्ते-कुत्ते में फर्क करने लगा है। कुत्ता 'खास' हो तो वह खबरों की सामान्य परिभाषा को दर-किनार करते हुए उसके काटे को भी सुर्खियों में लेने को तैयार है।

जाहिर तौर पर यह 'मीडिया' की गिरावट को न भी प्रदर्शित करती हो, पर उसकी खबरों में हिंसा की व्यापकता को जरूर बताती है। पुरानी स्थिति हो तब भी हिंसा की प्रधानता और दूसरे किस्म की हिंसा से स्थिति बदले तब भी हिंसा की ही प्रधानता। ओबामा का कुत्ता होना साधारण बात नहीं है। उसे मिलने वाला मान, सम्मान, प्यार और देखरेख दुनिया के अधिकांश आदमियों पर होने वाले 'खर्च' से ज्यादा है और सामान्य कुत्तों को विशेष बनाने वाला यह खर्च, यह देखरेख, यह प्रधानता अपने आप में हिंसा है। तभी खबरों की परिभाषा बदलने की क्षमता पैदा होती है।

दरअसल खबर बदलाव का, नएपन का, असामान्यता का ही दूसरा नाम है और जब यह चीज समाज के जानने के लिए जरूरी, उपयोगी या दिलचस्प हो तो यही खबर कहलाती है। और, अगर पत्रकारिता की शुरुआत से अब तक अपराध की, हिंसा की, 'सेक्स' की खबरों में लोगों की ज्यादा दिलचस्पी रही है, तो इन्हें परोसने या

सामने लाने के लिए 'मीडिया' को दोषी बताना उचित नहीं है। दरअसल हर बड़ा बदलाव पुरानी स्थिति को बल से, हिंसक ढंग से बदलता ही है। और, हर बदलाव सिर्फ नुकसान और बर्बादी को ही बतलाए—यह जरूरी नहीं है। उसी में नवीनता के बीज भी छुपे होते हैं।

इसलिए जब पत्रकारिता बदलावों को, असामान्यता को, नएपन को जल्दी से जल्दी हमारे-आपके सामने लाने का प्रयास करती है, तो उसमें हिंसा की, टूट-फूट की, विध्वंस की, उनकी संचालक शक्तियों का जिक्र प्रमुखता से आए—यह स्वाभाविक है। और, अगर लोग भी उसे चाव से देखते-पढ़ते-सुनते हैं, तो यह उनका दोष या बिगड़ना नहीं है। हिंसा और उसी का एक स्वरूप—'सेक्स' मानव 'जींस' की एक विशिष्टता है। कोई चाहे तो इसमें विकृति या गलती ढूंढ़े, पर मनुष्य अगर सभी प्राणियों से अलग है, तो उसमें उसके दिमाग की बुनावट के साथ-साथ उसके मूल गुणसूत्रों—'जींस' की बुनावट का भी हाथ है।

मनुष्य-जाति के मूल स्वभाव में हिंसा पर रोक की वह स्वाभाविक प्रवृत्ति क्यों नहीं है, जो हर पशु-पक्षी में अपनी जाति से लड़ते वक्त दिखती है—यह आज भी वैज्ञानिकों और नृशास्त्रियों की खोज का बड़ा विषय है। पर, हमें खुद को सौभाग्यशाली भी मानना चाहिए कि मनुष्य के हिंसक स्वभाव को जान-समझ कर और अहिंसा की श्रेष्ठता को मानते हुए—महावीर से लेकर गांधी तक—हमारे महापुरुषों ने न सिर्फ अहिंसा के महत्त्व को रेखांकित किया है, बल्कि उन्होंने अभ्यास से हिंसा के गुण विकसित करने की पूरी विधि भी विकसित की है। गांधी ने राजनीतिक लड़ाई में अहिंसा को हथियार बनाने का चमत्कार भी किया है, पर यह प्रसंग अलग और ज्यादा विस्तार की मांग करता है।

पत्रकारिता के लिए तो हिंसा की व्यापक परिभाषा के तहत आने वाली खबरें देना एक जरूरत भी है और काम भी और महाभारत में अंधे धृतराष्ट्र को संजय द्वारा खबरें सुनाने से लेकर आज के अफगानिस्तान-पाकिस्तान के हिंसक टकरावों की खबरें देकर पत्रकार यही काम कर रहे हैं। और, ऐसी खबरें देने में उनकी जान को जोखिम हो, तब भी वे रुकते नहीं हैं। हिंसा की खबरें 'मीडिया' की प्रमुख खबरें हैं और आज हमने ज्यादा से ज्यादा मारक तकनीकें विकसित करके हिंसा के आकार-प्रकार को और भी ज्यादा बड़ा बना दिया है। पर, यह भी कहना जरूरी है कि हिंसा और बर्बादी के इसी रूप का मिश्रण करके पत्रकारिता ने उस पर रोक लगाने का, उसके स्वरूप को बदलने का काम भी किया है। नागासाकी और हिरोशिमा के बाद अगर हमने वहां गिरे बमों से लाख गुना ज्यादा ताकतवर बम बना कर भी इस्तेमाल नहीं किए हैं, तो इसका कारण वहां की बर्बादी का तीखा एहसास ही है। वह सब देख-जान कर भी क्यों हजारों की संख्या में परमाणु बम बनाए और रखे गए हैं, यह सवाल भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, पर उनका बाद में एक बार भी प्रयोग न होना बड़ी बात है।

पर, इस बीच 'हिंसा' ने भी अपना स्वरूप बदला है। 'मीडिया' उसे पकड़ने, बताने, दिखाने में कितना सफल हुआ है, यह भी छोटा सवाल नहीं है। सारी दुनिया में गैर-बराबरी और भेदभाव भयावह तेजी से बढ़ा है और यह भी हिंसा का ही स्वरूप है। किसी को दो वक्त की रोटी नहीं मिलती, दवा नहीं मिलती, बच्चे को दूध नहीं मिलता, लेकिन अरबों-खरबों रुपए एटमी हथियार पर खर्च हो रहे हैं, दुनिया पर प्रभुत्व रखने की लड़ाई के लिए क्या यह हिंसा नहीं है? कहीं अनाज जानवरों को खिलाया जा रहा है, कहीं सड़ने पर समुद्र में फेंका जा रहा है और कहीं लाखों लोग भूखे-पेट सो रहे हैं, तो क्या यह हिंसा नहीं है? किसी को चमड़ी के रंग, लिंग, राष्ट्रीयता, मजहब और भाषा के नाम पर सताया-मिटाया जा रहा है—तो क्या यह हिंसा नहीं है?

अचरज नहीं कि आज नक्सलवाद-माओवाद से लेकर मजहबी कठमुल्लावाद तक जो अनेक घातक और हिंसक प्रवृत्तियां उभर रही हैं, उन्हें काफी सारे विद्वान और जानकार लोग हिंसा कहने की जगह 'प्रतिहिंसा' कहने लगे हैं। भुखमरी से, अन्याय से, अपमान से, शोषण से परेशान होकर कोई व्यक्ति या समूह हिंसक

आचरण करता है, तो ताकतवर की हिंसा और उसकी हिंसा में फर्क होना ही चाहिए। जब दुनिया के सारे तथाकथित नेता अपनी, अपने जमात की सुख-सुविधा और असीमित भोग-विलास से अलग कुछ सोचने को तैयार न हों और दुनिया की अधिकांश आबादी को अकाल-भुखमरी के लिए छोड़ने, दुनिया के सारे संसाधनों की लूट करने में उनको कोई झिझक न हो, तो उनको सही अर्थ में नेता मानना ही गलत है।

'मीडिया' ने इस नई हिंसा और 'प्रतिहिंसा' की खबरें दिखाने, बताने, उनके चरित्र और बदलाव को रेखांकित करने, उन प्रवृत्तियों के नफा-नुकसान को बताने और उन पर रोक या उनकी समाप्ति की उपयोगिता गिनाने में कोई कमी की हो—ऐसा नहीं कहा जा सकता। और, संभवत: यही कारण है कि सिर्फ 'एटमी' हथियारों के प्रयोग के मामले में ही दुनिया के सैनिक नेताओं ने अपने हाथ नहीं खींचे हैं।

आज की दुनिया में कई किस्म की हिंसा का स्थान लगभग समाप्त हो गया है, जो पूरे ज्ञात इतिहास में मानव समाज को परेशान करती रही है। आज यह असंभव माना जाता है कि दुनिया की कोई भी शक्ति अभी के भूगोल को बदलने की कोशिश करे। नए मुल्क या इलाके को 'जीतना' और अपने साम्राज्य में मिलाने का खेल आज समाप्त हो गया है—सदा के लिए। अब कोई सीजर, नेपोलियन, चंगेज, तैमूर नहीं होने वाला है। आज दरबार में दस-बीस नरमुंड लेकर बादशाह की सेवा में हाजिर होने का दौर भी बीत गया है।

इन बदलावों में 'मीडिया' या पत्रकारिता ने क्या भूमिका निभाई है—इस पर कोई बहस हो सकती है, लेकिन आज स्टॉलिन और हिटलर की तरह अपने वैचारिक अतिवाद से दुनिया में जुल्म ढाए—यह संभव नहीं है। विचारधाराओं के ही नहीं, किसी भी तरह के अतिवाद की सीमाओं का एहसास मानव-समाज को कराने में 'मीडिया' ने, पत्रकारिता ने बड़ी भूमिका निभाई है। अगर हिटलर द्वारा गोएबल्स की सेवाओं से लाभ लेने की सचाई ने 'मीडिया' और संचार सेवाओं की शक्ति के प्रति दुनिया भर में चेतना पैदा की तो आज एक 'आतंकी' ओसामा बिन लादेन को मार कर भी अमेरिकी प्रशासन सारी दुनिया में तारीफ नहीं पा सकता।

पक्ष और प्रतिपक्ष को आमने-सामने करने, सभी पक्षों की बातों को सामने लाने और खुद को संवाद के मंच के रूप में प्रस्तुत करके 'मीडिया' ने दुनिया के काफी सारे विवादों को निबटाने, काफी सारी दुश्मनियों को कम करने, काफी सारे अन्यायों को कम करने में बड़ी भूमिका निभाई है। आखिर तिब्बत का सवाल तो अहिंसक ढंग से ही दुनिया में उठा है। और, बलशाली चीन सारे कर्म-कुकर्म करने के बाद भी तिब्बत के सवाल को परदे के पीछे डालने में सफल नहीं हो सका है। अमेरिका-इजरायल की सारी ताकत और गुंडागर्दी फिलीस्तीनी लोगों की आजादी के सवाल को दरकिनार करने में सफल नहीं हुई है।

भीषण युद्ध, 'एटमी' बमबारी, साम्राज्य बनने-बिगड़ने जैसी हिंसक गतिविधियों पर अंकुश लगाने में मनुष्य-समाज का अपना अनुभव कितना कारगर रहा है और कितना पत्रकारिता ने किया है, यह हिसाब लगाना तो मुश्किल है, लेकिन 'मीडिया' ने, वैश्विक संचार व्यवस्था ने, सूचना क्रांति ने निश्चित रूप से इसमें एक महती भूमिका निभाई है। भले ही अमेरिका और पश्चिम की समृद्धि, विलासपूर्ण जीवनशैली और सारी दुनिया के संसाधनों पर कब्जा जमाने की होड़ बंद न हुई हो, पर उनसे जुड़ी बातें जाहिर होने से दुनिया भर में इन पर सवाल तो उठ ही रहे हैं। स्वयं पश्चिमी समाज का काफी बड़ा हिस्सा अपने नेताओं की सोच, सरकारों के कामकाज और अपनी जीवनशैली पर गंभीर सवाल उठा रहा है। माना जाता है कि अगर ओसामा के 'टेप' जारी करने का खेल न होता तो, बुश का दोबारा अमरीकी राष्ट्रपति बनना मुश्किल था और ओसामा को मारने के पीछे भी कहीं न कहीं ओबामा द्वारा चुनाव में लाभ लेने की सोच है। अभी भी सैनिक कार्यवाही के ब्योरे छुपाए गए हैं, जिन्हें राष्ट्रपति चुनाव से पहले जारी किया जा सकता है।

पर पत्रकारीय कर्म में सिर्फ अंतरराष्ट्रीय युद्ध, हिंसा, टकराव, प्रतिहिंसा की कार्रवाइयों को सामने लाना, इनके गुण-दोषों को उजागर करना, न्याय-अन्याय में न्याय का पक्ष लेना और गैर-बराबरी वाली स्थितियों में पैदा हिंसा को रेखांकित करने जैसे काम ही नहीं होते, रोज-रोज स्थानीय स्तर पर होने वाली हिंसा, हिंसक व्यवहार और अपराध की खबरों से ही पत्रकारों का पाला ज्यादा पड़ता है और जैसा कहा जा चुका है कि इनमें आप-हम, सबकी प्रकट-अप्रकट दिलचस्पी के चलते यह पत्रकारीय कर्म का एक बड़ा हिस्सा बन गया है। यही कारण है कि आज 'टी.वी.' की सर्वाधिक 'रेटिंग' वाले कार्यक्रम रात ग्यारह बजे से चलने वाले अपराध आधारित खबरों वाले ही हैं। आज भी 'क्राइम रिपोर्टर' सबसे ज्यादा बिकने वाली पत्रिका है। हमारे यहां भी मनोहर कहानियां और अपराध कथाओं की बिक्री पर्याप्त हो रही है।

इन सबके जरिए हिंसा और 'सेक्स' के प्रति आम रुझान का व्यावसायिक लाभ लेने और कहीं-न-कहीं इन प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने की बात भी रही है। 'मीडिया' के सभी माध्यमों में हिंसा और 'सेक्स' का जैसा मिश्रण होता है—इनको उसी से बढ़ावा मिलता है, या इन पर रोक लगाने में मदद—यह विवाद का विषय रहा है। पर, 'सेक्स' से जुड़ी हिंसा का रिश्ता लड़कियों की घटती संख्या से है। इसी प्रकार की मिलती-जुलती बहुत-सी दमदार बातों की तरफ इशारा भी इन्हीं खबरों से हुआ है। इससे भी बढ़ कर यह तथ्य है कि मानव व्यवहार या उस अर्थ में किसी भी जीव के व्यवहार में आचरण की नई सीमा अगर उजागर होगी, तो यह सूचना देना जरूरी है। जब शहरीकरण से या जातिगत भेदभाव के चलते बलात्कार बढ़ें, तो इसे बताना जरूरी है। लेकिन, जब बाप ही बेटी से बलात्कार करे, तो यह खबर भी जरूरी बन जाती है। जब मनुष्य द्वारा मनुष्य का खून पीने की 'नोएडा' जैसी घटनाएं सामने आए, तो सारी दुनिया का ध्यान उधर जाएगा ही। अब इन सूचनाओं के बाद समाज कितना संभलता है, उसके आचरण में कितना धनात्मक बदलाव आता है—वह भी देखने की चीज है।

दो-एक और बड़ी बातें हैं, जिनका जिक्र जरूरी है। जब भी हिंसा की बात आती है, तो अकसर हम बलवान को (जो शारीरिक, भौतिक ही नहीं, हर तरह से मजबूत होता है) को 'दोषी' पाते हैं, या फिर अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा का मारा व्यक्ति बलवान होने के लिए हिंसक तरीकों का सहारा लेता है।

पर, 'मीडिया' की मुश्किल यह है कि बिना ताकतवर की मदद के वह चल नहीं सकता। 'मीडिया' को चलाने के लिए धन चाहिए ही। आज यह धन सिर्फ उपकरण खरीदने, दफ्तर लगाने, कागज-स्याही लेने और अच्छे पत्रकार रखने भर के लिए नहीं चाहिए। वह सब आज के खर्च और आमदनी के हिसाब का छोटा हिस्सा है। आज तो मुख्य आमदनी विज्ञापनों से होती है। जो काफी हद तक अप्रकट ढंग से 'मीडिया' और पत्रकारीय कर्म को प्रभावित करती है। आज ज्यादातर 'मीडिया कंपनियां' 'शेयर बाजार' से भी पूंजी उठाती हैं। वहां रोजाना के काम-काज और तिमाही रिपोर्ट वगैरह के आधार पर 'शेयरों' का मोल चढ़ता-गिरता है। इसलिए आज सीधे-सीधे एक मालिक के हित, पसंद-नापसंद का ध्यान रखने की हालत नहीं है, पूरे के पूरे बाजार और पैसे वालों के रुझान के खिलाफ जाना भी मुश्किल बन सकता है।

स्तर ग्राम प्रधान का हो या प्रधानमंत्री का—सबसे ज्यादा सूचनाएं उनके पास ही होती हैं। मुल्क से लेकर ग्राम सभा के कानून तक का खयाल रख कर ही आप पत्रकारीय कर्म कर सकते हैं। इसलिए 'शासन' की उपेक्षा या विरोध करके आप बहुत दूर तक नहीं जा सकते। सूचनाएं लेना हो या कानून की निगरानी में काम करना—आज काफी-कुछ 'सत्ता' के असर में रहने को बाध्य हैं। कई मायनों में तकनीक के साथ भी ऐसा होता है। इससे पत्रकारीय कर्म तो सुगम होता है, लेकिन अपना खेल भी यह तकनीक साथ-ही-साथ खेल लेती है। सारे 'इंटरनेट' संजाल का केंद्र अमेरिका में बनने के साथ अमरीकी अंग्रेजी का बोलबाला, वहीं

की संस्कृति और जीवनशैली का बोलबाला यूं ही नहीं हो गया है।

पत्रकारीय कर्म एक अर्थ में तो उन इंद्रियों को जीतने जैसा ही है, जिनके सहारे के बगैर आप काम नहीं कर सकते। आपको पूंजी का, सत्ता का, कानून का, तकनीक का साथ भी चाहिए और साथ ही अपने कर्म को भी इनके प्रभाव से ऊपर ले जाना होगा। इस प्रकार आपको पानी में रह कर मगर से वैर-भाव रखना होगा। हां! यह जरूर है कि यह वैर-भाव ऐसा नहीं होना चाहिए कि जो आपको निगल ही जाए, क्योंकि तब तो आपमें कुछ भी करने की स्थिति नहीं रहेगी। पर, यह बहुत मुश्किल नहीं है।

वैयक्तिक जीवन के लिहाज से हमारे मुनियों ने इंद्रियों को वश में रखना, उन पर जीत हासिल करना संभव बनाया ही है। अत: अगर हम पत्रकारीय कर्म के जरीए अहिंसा दृष्टि को व्यापक करना चाहें, तो यह असंभव नहीं है। बहुत से पत्रकारों ने यह किया है, जिसके चलते चीजें बदली हैं। पर, अभी बहुत कुछ होना है। अत: अभी हर किसी को इस आग के दरिया से होकर गुजरना है। ❖

एकत्व

आधुनिक अर्थशास्त्र लोगों को अलग और अकेला बना देता है। व्यवस्था में एक अंतर्भूत संपदा-भेद पैदा करके यह कम संपदा वाले लोगों में असंतोष, विषाद तथा अधिक संपदा वालों का भय पैदा कर देता है। यह बाजार में आगे बढ़ने के लिए भूमि का शोषण करने को बाध्य करता है। इसका परिणाम होता है—सामाजिक और पारिस्थितिकीय अलगाव और अवनतिकरण। जीने का यह ढंग भ्रामक और रोगात्मक है। **आइंस्टाइन** ने एक बार कहा था—**एक मनुष्य उस समग्र का अंग है, जिसे हम ब्रह्मांड कहते हैं—दिक्काल में सीमित एक अंग—जबकि हम अपने को, अपने विचारों और भावनाओं को शेष सबकुछ से अलग अनुभव करते हैं—अपनी चेतना के दृष्टि-भ्रम का एक रूप। यह भ्रम हमारे लिए एक कैदखाना है, जो हमारी वैयक्तिक इच्छाओं और प्रेम को केवल हम तक और हमारे कुछ ही नजदीकी लोगों तक बंधित रखता है। हमारा काम है, अपने को इस कैदखाने से मुक्त करते हुए अपनी संवेदना के वृत्त के विस्तार में सभी जीवित प्राणियों और समस्त प्रकृति को सम्मिलित करना।**

इस काम के लिए जीवन के सभी आयामों में उदारता और प्रेम को घोलना होगा। मानवता की मुक्ति के लिए अलगाव को बढ़ाने वाली प्रभुतापरक व्यवस्थाओं को—नव-उदारवादी आर्थिकी ही नहीं, धर्म और राजनीति को भी—ध्वस्त करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम है। लेकिन, यह प्रतिरोधमूलक तरीकों से नहीं होगा। इसके लिए हमें इन व्यवस्थाओं से अपने को अलग कर लेना होगा। नई प्रणालियों और नए सामाजिक संस्थानों के ऐसे निर्माण से, जिससे पुरानी व्यवस्था द्वारा उत्पादित ज्ञान, संसाधनों तथा ऊर्जा का पुनर्निवेशन हो सके, जैसे इल्ली से तितली पैदा होती है। एक बार शुरू हो जाने पर यह प्रक्रिया अबाधित हो जाएगी। मेरा विश्वास है कि यह निश्चय ही प्रारंभ हो चुकी है।

—क्रिस्टोफर आर. लिंडस्टोर्म

अहिंसा एवं व्यक्तित्व विकास मनोवैज्ञानिक दृष्टि

❑ डॉ. मधु जैन

अहिंसा के मर्म को न समझ पाने के कारण, कुछ लोग अहिंसा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी अहिंसा को व्यावहारिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार की मिथ्याधारणा उनकी मानसिक अपरिपक्वता की परिचायक है। न तो अहिंसा कायरता है, न ही वह ऐसी है, जिसका पालन न किया जा सके और जिस कारण से उसे अव्यावहारिक कहा जाता है। अत: यह आवश्यक है कि हिंसा एवं अहिंसा के स्वरूप पर गहराई से विचार किया जाए। ❑

आचार, विचार एवं भाव—व्यक्तित्व विकास के लिए समान क्षमता रखने वाले तीन पक्ष हैं। ये तीनों पक्ष एक-दूसरे से संबंधित एवं अन्योन्याश्रित हैं। 'आचार पक्ष' व्यक्ति के व्यवहार एवं आचरण से संबंधित है। 'विचार पक्ष' व्यक्ति के वैचारिक एवं चिंतन पक्ष से जुड़ा है एवं 'भाव पक्ष' व्यक्ति की भावनाओं, संवेगों एवं मूल्यों की दिशा को निर्धारित करता है। व्यक्ति का आचरण विचारों एवं भावों के अनुरूप ही फलता है। इन तीनों पक्षों का संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध एवं संगठित विकास संभव है।

भारतीय परंपरा में आचार को धर्म एवं विचार को दर्शन कहा गया है। धर्म एवं दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अपूर्ण एवं एकांगी है। तत्त्व-चिंतकों ने आचार एवं विचार की पारस्परिक निर्भरता को दृष्टिगत रखते हुए धर्म एवं दर्शन का प्रतिपादन साथ-साथ किया है। जब कोई मनुष्य विचारों के आंतरिक जगत में लिप्त होकर उन विचारों की समुचित व्याख्या करता है, तब दर्शन जन्म लेता है और जब विचारों को अपने आचरण एवं व्यवहार में ढालता है, तब धर्म प्रकट होता है। आचरण रहित साधक मुक्ति के साधना पक्ष पर (अपनी मंजिल तक) नहीं पहुंच सकता है। अत: जैन परंपरा में आचार और विचार को समान स्थान प्राप्त है। अहिंसामूलक आचार एवं अनेकांतमूलक विचार का प्रतिपादन जैन परंपरा की प्रमुख विशेषता है।

भारतीय परंपरा में अहिंसा शब्द की संरचना नकारात्मक (न

हिंसा, इति हिंसा) अवश्य है, किंतु इसमें सकारात्मक अर्थ भी पूर्णत: सन्निहित है। प्रमाण स्वरूप प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसा को साठ नामों से नवाजा गया है। जैसे—दया, मंगल, अभय इत्यादि। ये शब्द मात्र हिंसा के अभाव के द्योतक नहीं हैं, अपितु हिंसा के विरोधी भाव करुणा, मैत्री, सेवा, अनुकंपा, वात्सल्य आदि के बोधक भी हैं।

परंपरा के प्रवाह में अहिंसा का शाब्दिक अर्थ हिंसा नहीं करने तक ही सीमित रह गया है। सामान्यत: किसी भी जीव को न मारना अहिंसा है। व्यापक अर्थ में मन, वचन और कर्म द्वारा प्राणी-मात्र को किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना सच्ची अहिंसा है। एकेंद्रिय प्राणी से लेकर मनुष्य तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन परंपरा एवं संस्कृति की अनमोल निधि है। इसे अहिंसक आचरण का चरमोत्कर्ष कहा गया है।

अहिंसा की व्यापक एवं सूक्ष्म विवेचना से पूर्व हमें हिंसा के स्वरूप को समझना अधिक प्रासंगिक होगा। हिंसा का शब्दकोशीय अर्थ है—व्यक्ति या संपत्ति को क्षति पहुंचाना अथवा उसे नष्ट करने के उद्देश्य से शारीरिक शक्ति का प्रयोग करना। कोई भी ऐसी क्रिया हिंसा है, जिससे स्थावर और त्रस प्राणी को किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक या कायिक, बाह्य और अंतरण दुख या पीड़ा उत्पन्न हो।

जाने-माने मनोवैज्ञानिक एटकिन्सन, स्मिथ एवं हिलगार्ड के अनुसार—'हिंसा एक ऐसा व्यवहार है, जिसका उद्देश्य दूसरों को शारीरिक रूप से या शाब्दिक रूप से चोट पहुंचाना है, अथवा दूसरों की जायदाद को बर्बाद करना है।' हिंसात्मक व्यवहार के दो साधारण लक्षण होते हैं। किसी व्यक्ति को कष्ट अथवा क्षति पहुंचाना—जिसमें आक्रमण, अपमान, चिढ़ अथवा खीज-व्यवहार सम्मिलित हैं। ये सभी लक्षण 'क्रोधयुक्त हिंसा' की श्रेणी में रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति से कुछ प्राप्त कर लेना, जैसे—धन, पद एवं प्रतिष्ठा। इस प्रकार के हिंसात्मक व्यवहार को नैमित्तिक हिंसा कहा गया है। इस प्रकार की हिंसा में क्रोध आवश्यक नहीं है। व्यक्ति तटस्थ रह कर भी अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे व्यक्ति को कष्ट पहुंचा सकते हैं। इस प्रकार की हिंसा में कोई अभिप्राय छिपा हुआ होता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने हिंसात्मक व्यवहार में अभिप्राय के स्वरूप को स्वीकार करते हुए हिंसा के स्वरूप की व्याख्या वाचिक एवं भौतिक, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष तथा सक्रिय एवं निष्क्रिय रूप से की है। जैनागमों के अनुसार—प्रमाद व काम-भोगों में आसक्ति हिंसा है। अधिक स्पष्ट अर्थों में, प्रत्येक ऐसी प्रवृत्ति जो राग-द्वेष सहित है—हिंसा है।[1] रागादि स्व-हिंसा है, जबकि षट्काय जीवों को मारना या उन्हें कष्ट देना पर-हिंसा है।[2]

जैनागमों में हिंसा के 432 प्रकार बताए गए हैं। हिंसा के उन प्रकारों, जिनका संबंध 'पर' से है, उन्हें चार भागों में वर्गीकृत किया गया है, ये हैं—1. **व्यक्तिगत प्रत्यक्ष हिंसा**—जैसे मारना, पीटना, हत्या करना, बलात्कार आदि। 2. **संगठित प्रत्यक्ष हिंसा**—जैसे युद्ध या पुलिस द्वारा की गई क्रूरता, निर्दयता आदि। 3. **व्यक्तिगत प्रच्छन्न हिंसा**—गंभीर मनोवैज्ञानिक हिंसा। जिसमें अपमान, तिरस्कार सम्मिलित है। इसमें विचार, शब्द एवं कार्य द्वारा, स्वयं के अथवा दूसरों के सहयोग द्वारा जाति, लिंग एवं धार्मिक विश्वासों के आधार पर दूसरों को चोट पहुंचाना इत्यादि सम्मिलित हैं। 4. **संगठित प्रच्छन्न हिंसा**—जहां सरकार, व्यवसाय एवं शिक्षण आदि संस्थाएं समाज के सदस्यों के व्यक्तित्व की उपेक्षा करते हैं; जैसे—भेदभाव, बेरोजगारी, दमनकारी शिक्षा, मताधिकार से वंचित रखना इत्यादि। व्यक्तिगत एवं संगठित प्रच्छन्न-हिंसा का स्वरूप अधिक घातक होता है। सूक्ष्म स्तर पर किए जाने के कारण इस प्रकार के हिंसात्मक व्यवहार का निरीक्षण संभव नहीं है।

मनुष्य हिंसक व्यवहार क्यों करता है

इस प्रश्न पर विभिन्न मत हैं। मनोवैज्ञानिक **'फ्रायड'**—जिसने मनोविश्लेषण सिद्धांत का प्रतिपादन किया, हिंसात्मक व्यवहार की व्याख्या 'जीवन-मूलप्रवृत्ति एवं मृत्यु-मूलप्रवृत्ति' के रूप में

की है। जीवन-मूलप्रवृत्ति को 'इरोस' (Eros) भी कहा जाता है। यह व्यक्ति में सकारात्मक एवं रचनात्मक कार्य करने की प्रेरणा देती है। मृत्यु-मूलप्रवृत्ति जिसे 'थेनेटोस' (Thantose) भी कहा गया है—सभी प्रकार के विध्वंसात्मक एवं हिंसात्मक कार्य करने की प्रेरणा देती है। जब व्यक्ति में मृत्यु-मूलप्रवृत्ति की प्रबलता होती है, तो व्यक्ति हिंसात्मक व्यवहार अधिक करते हुए पाया जाता है। सामान्यत: जीवन-मूलप्रवृत्ति एवं मृत्यु-मूलप्रवृत्ति में एक संतुलन बना रहता है। तभी व्यक्ति प्रभावी ढंग से वातावरण के साथ समायोजन कर पाता है। मृत्यु-मूलप्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की दिशा अंतर्मुखी एवं बहिर्मुखी, दोनों हो सकती है। दिशा अंतर्मुखी होने पर व्यक्ति स्वयं को क्षति पहुंचाने का प्रयास करता है। आत्महत्या इसी प्रकार की अभिव्यक्ति का एक चरम उदाहरण है। जब अभिव्यक्ति की दिशा बहिर्मुखी होती है, तब व्यक्ति दूसरों को क्षति पहुंचा कर, सामाजिक रूप से दलीलें देकर हिंसात्मक व्यवहार की अभिव्यक्ति करता है। **'मिलर'** एवं **'बर्कोविज'** जैसे मनोवैज्ञानिकों ने 'कुंठा' को हिंसात्मक व्यवहार के एक पोषक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार कुंठा व्यक्ति में हिंसात्मक व्यवहार करने की ऐसी तत्परता उत्पन्न कर देती है, जो एक सांवेगिक अवस्था है और जिसे क्रोध की संज्ञा दी गई है। दूसरी ओर वातावरण जन्य संकेत के मिलते ही छिपी हुई हिंसा भड़क उठती है।

तनावग्रस्त व्यक्ति ही हिंसा करता है। क्रोध आदि आवेश जन्य और निराशा आदि अवसाद जन्य—दोनों ही प्रकार की कुंठा व्यक्ति को हिंसा की ओर ले जाती है। मनोवैज्ञानिक **'बंडुरा'** ने हिंसात्मक व्यवहार के मूल में सामाजिकता (सीखने) की भूमिका पर अधिक बल दिया है। यदि हिंसात्मक व्यवहार द्वारा वांछित लक्ष्य प्राप्त करने में मदद मिलती है, तब व्यक्ति सामाजिक संदर्भ में उपलब्ध हिंसात्मक 'मॉडल' का अनुसरण कर हिंसात्मक व्यवहार करता है।

समाजशास्त्री हिंसा का कारण सामाजिक संरचना को मानते हैं। समाजशास्त्री **'हाब्स'** ने हिंसा के तीन प्रमुख कारणों की चर्चा की है—1. प्राप्ति की इच्छा, 2. क्षति का भय, 3. मिथ्याभिमान। दार्शनिक कर्म को हिंसा का कारण मानते हैं।

हिंसात्मक व्यवहार की उत्पत्ति की व्याख्या शरीर शास्त्रियों ने जैविक-रासायनिक कारकों के रूप में की है—जैसे; रासायनिक असंतुलन, स्नायुतंत्र असंतुलन इत्यादि। शरीर शास्त्रियों का मानना है कि अंत:स्रावी ग्रंथियों के रासायनिक असंतुलन से व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है और इससे व्यक्ति में हिंसा की वृत्ति भड़क उठती है। स्नायुतंत्र असंतुलित होने पर बिना किसी उद्देश्य के व्यक्ति हिंसात्मक व्यवहार करने को प्रेरित हो सकता है। पीयूष-ग्रंथि में मिश्रित 'ACTH' (Adrenocorticotropic) 'हार्मोन' से 'एड्रीनल' ग्रंथि सक्रिय हो जाती है, जिसके कारण 'एपिनेफ्रीन' और 'नोरएपिनेफ्रीन' 'हार्मोन' स्रावित होने लगते हैं। ये 'हार्मोन' व्यक्ति की मांसपेशियों को उत्तेजित करने में सहायक होते हैं। फलस्वरूप हृदय, फेफड़े एवं श्वसन क्रिया सामान्य गति से अधिक सक्रिय रूप से कार्य करने लगते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति की पाचन-क्रिया भी प्रभावित होती है और व्यक्ति अनजाने में हिंसात्मक क्रियाओं में लिप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त नकारात्मक संवेग—जैसे; घृणा, ईर्ष्या, काम, द्वेष भी व्यक्ति में हिंसक प्रवृत्तियों को पोषित करने में सहायक होते हैं।

हिंसा के अन्य पोषक तत्त्वों में आहार वृत्ति को भी सम्मिलित किया गया है। आहार एवं हिंसा के संबंध में कहा गया है कि—'जैसा खाए अन्न, वैसा बने मन'—अर्थात् ग्रहण किए गए भोजन से शरीर में अनेक रसायन एवं मस्तिष्क में स्वस्थ 'न्यूरोट्रांसमीटर' का निर्माण होता है। 'न्यूरोट्रांसमीटर' ही शरीर की अन्य क्रियाओं का संचालन करते हैं। मांसाहार एवं मादक द्रव्यों का सेवन भावनात्मक असंतुलन को बढ़ावा देता है और हिंसात्मक क्रियाओं में लिप्त रखता है।

मनोवैज्ञानिक **'मेगारगी'** एवं **'जार्विक'** का कहना है कि एक खास प्रकार का व्यक्तित्व, जो प्राय: हिंसात्मक व्यवहार किया करते हैं—उन्हें अधोनियंत्रित हिंसक (Undercontrolled Aggression) के नाम से जाना जाता

है। इन व्यक्तियों में एक अतिरिक्त 'Y' 'क्रोमोजोम्स' होता है। ऐसे व्यक्ति कम बुद्धि के, परंतु लंबे कद के होते हैं। फलस्वरूप घृणित अपराध एवं हिंसा के प्रदर्शन में वे अपने आपको अधिक सक्षम पाते हैं। हिंसा एवं अहिंसा की अभिव्यक्ति का संबंध हमारी मुद्राओं से भी है। प्राचीन काल में व्यक्ति को शारीरिक श्रम अधिक करना होता था, इसलिए मांसपेशियों पर अधिक दबाव पड़ता था, किंतु स्नायुतंत्र को विश्राम मिलता था। औद्योगिक एवं संचार क्रांति के फलस्वरूप सुख-सुविधाओं में वृद्धि के कारण स्नायुतंत्र में दबाव भी अत्यधिक बढ़ रहा है। स्नायुतंत्र में अधिक दबाव हिंसा का कारण बन सकता है।

हिंसक व्यवहार का अन्य कारण है—अपने मत का दुराग्रह एवं स्वयं को ही सही नहीं समझने की दृष्टि। अपने से भिन्न मत वाले को गलत समझने का दृष्टिकोण अंततः हिंसा को ही प्रोत्साहित करता है, हिंसा को पोषण देता है। व्यक्ति की जीवनशैली का हिंसा से बहुत गहरा संबंध है। सुविधावादी, असंयमित व्यक्तित्व, भोग प्रधान जीवनशैली हिंसा के व्यवहार को उत्तेजित करती है।

अहिंसा अव्यावहारिक नहीं

अहिंसा के मर्म को न समझ पाने के कारण, कुछ लोग अहिंसा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी अहिंसा को व्यावहारिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार की मिथ्याधारणा उनकी मानसिक अपरिपक्वता की परिचायक है। न तो अहिंसा कायरता है, न ही वह ऐसी है, जिसका पालन न किया जा सके और जिस कारण से उसे अव्यावहारिक कहा जाता है। अतः यह आवश्यक है कि हिंसा एवं अहिंसा के स्वरूप पर गहराई से विचार किया जाए।

किसी को मारना मात्र ही हिंसा नहीं है। अपितु, हिंसा व अहिंसा का संबंध हमारे भावों, परिणामों एवं विचारों से है। अधिक व्यापक अर्थों में अहिंसा का संबंध अंतः एवं बाह्य-स्वरूप—प्राणी-मात्र को मन, वचन एवं शरीर से किसी प्रकार की हानि, पीड़ा अथवा दिल नहीं दुखाना है। राग-द्वेष के परिणामों से निवृत्त होकर 'साम्य-भाव' में स्थिर होना अंतरंग अहिंसा है। अहिंसा के अति व्यापक स्वरूप में सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य आदि सभी सद्गुण समाहित हैं। जैन दर्शन का मानना है कि जल-थल आदि में सर्वत्र क्षुद्र जीवों का सद्भाव है। इनके बाह्य रूप के कारण से पूर्ण अहिंसा का पालन असंभव है। अंतरंग साम्यता और बाहर में पूरा-पूरा यत्नाचार रखने में प्रमाद न किया जाए। बाह्य जीवों के मरने से भी व्यक्ति अहिंसक हो सकता है। इस बात की पुष्टि आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में की और कहा कि—**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**[3]—अर्थात् जब कोई प्रमादी बन कर असावधानी अथवा लापरवाही से किसी जीव का घात करता है, या कष्ट पहुंचाता है, तो उसे हिंसक कहा जा सकता है।

हिंसा तीन परिस्थितियों में होती है—1. जान बूझकर, 2. लापरवाही जन्य, 3. न चाहते हुए भी सावधानी बरतने पर अनायास किसी जीव का वध हो जाना। उपरोक्त दो को क्रमशः कषाय प्रेरित हिंसा एवं असावधानीकृत हिंसा कहा गया है, लेकिन तीसरे प्रकार की परिस्थिति में व्यक्ति को हिंसक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की पुष्टि आचार्य कुंदकुंद ने 'सर्वार्थसिद्धि' में भी की है।

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि हिंसा और अहिंसा हमारे भावों पर निर्भर है। द्रव्य हिंसा ही केवल हिंसा नहीं, वस्तुतः भाव हिंसा ही वास्तविक हिंसा है। भाव हिंसा की परिणति ही द्रव्य हिंसा के रूप में होती है। अतः भावों के अनुसार ही हिंसा और अहिंसा का समीकरण बनता है। इसलिए अहिंसा को अव्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। हमारा यह कर्तव्य है कि हम स्वार्थ से प्रेरित हो किसी को कष्ट पहुंचाने का भाव न रखें। हमारी प्रवृत्ति से जीवों का कम से कम घात हो, इस बात को ध्यान में रख कर जीवन का निर्वाह करें। हमारी प्रवृत्ति में जितनी सावधानी होगी, हम उतने ही अहिंसक होंगे।

अहिंसा की अनुपालना व्यवहार में हो सके, इसलिए हिंसा के चार भेद बताए गए हैं—

1. **संकल्पी हिंसा**—संकल्पपूर्वक किसी जीव का घात करना।

2. **उद्योगी हिंसा**—अर्थोपार्जन हेतु नौकरी, व्यवसाय एवं उद्योग आदि में होने वाली हिंसा।
3. **आरंभी हिंसा**—सावधान एवं सतर्क रहने पर भी भोजन-निवास आदि दैनिक क्रियाओं से जो हिंसा हो जाती है, वह आरंभी हिंसा है।
4. **विरोधी हिंसा**[4]—दीन-दुखियों, असहायों, देश, जाति एवं स्वयं पर आक्रमण होने पर रक्षा करने के लिए जो हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा है।

जैन धर्म में साधु-समाज के लिए चारों प्रकार की तथा गृहस्थ लोगों के लिए संकल्पी हिंसा का पूर्ण निषेध किया गया है। शेष तीनों प्रकार की हिंसा गृहस्थों के लिए अपरिहार्य है। फिर भी यत्नाचारी प्रवृत्ति रखते हुए प्रत्येक क्रिया में पूर्ण सावधानी रखी जा सकती है। जैसे; ऐसे उद्योग न लगाएं, जिनसे जीव हिंसा होती हो, किसी के स्वास्थ्य पर विपरीत असर पड़ता हो और किसी के श्रम का शोषण होता हो—वैसी हिंसा न की जाए।

हिंसक एवं अहिंसक की मानसिकता में बड़ा अंतर होता है। हिंसक के हृदय में आक्रमण, द्वेष एवं हिंसा का भाव रहता है, जबकि अहिंसक के हृदय में रक्षा एवं क्षमा। हिंसक अपने द्वारा किए गए नरसंहार या कृत्य को देख कर हर्षित होता है, जबकि अहिंसक को पश्चात्ताप होता है। अपनी इसी मन:स्थिति के कारण एक गृहस्थ छोटी-छोटी, पर अपरिहार्य हिंसा के होने पर भी अहिंसक बना रहता है। वस्तुत: वह हिंसक नहीं है। वह हिंसा करना नहीं चाहता, उसे विवशतावश ऐसा करना पड़ता है।

यदि हम साध्य-साधन के सिद्धांत के द्वारा अहिंसा के कार्यकारी स्वरूप की व्याख्या करें तो ज्ञात होगा कि एक कार्य या साधन तभी प्रभावपूर्ण है, जब उसके द्वारा साध्य प्राप्ति में सफलता मिली हो। मान लें कि हिंसा के द्वारा जो प्राप्त करना चाहते थे—वह हमें प्राप्त हो भी गया, तो भी उसके साथ मनुष्य एवं संपत्ति की क्षति, दुख, चोट और मृत्यु आदि भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में मिलते ही हैं। इसके अतिरिक्त वातावरण में भय, अविश्वास, घृणा आदि भी उद्दीपन रूप में प्राप्त होते हैं। ये सभी साध्य या कर्म के साथ उत्पन्न हुए गौण उत्पाद हैं।

यह तात्कालिक सफलता ही है, जिसने मानसिक स्वास्थ्य को खतरे में डाल दिया है। तो क्या मनुष्य के लिए अहिंसा अच्छा विकल्प नहीं है? अहिंसा उच्च एवं दीर्घकालिक साध्य है। अहिंसा आत्मिक उन्नति का सच्चा मार्ग है। अहिंसा व्यक्ति और समाज के विरोधों का शमन करती है, कटु संबंधों को परिष्कृत करती है। अत: विश्व में स्थाई शांति की स्थापना के लिए अहिंसा को अपनाना ही होगा। विश्व शांति में स्थायित्व तभी आ सकता है, जब हमारा उद्देश्य संघर्षरत व्यक्तियों के चरित्र और विचारों में परिवर्तन लाना हो। हमें स्वयं अहिंसा को आचरण में ढालते हुए परिवार एवं समाज में अहिंसा के संस्कारों को पल्लवित करना होगा। तभी हिंसारूपी पिशाचिनी से बचा जा सकता है।

अहिंसा एवं व्यक्तित्व विकास

अहिंसक व्यक्ति शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक रूप से स्वस्थ होता है। विकास के लिए स्वस्थ एवं सुगठित व्यक्तित्व आवश्यक है। अत: जीवन में अहिंसारूपी आचरण की पालना की जाए, तो यह एक उत्तम उपाय है। अहिंसक व्यक्तित्व विकास के लिए **आचार्यश्री महाप्रज्ञजी**[5] ने एक उत्कृष्ट विकल्प प्रस्तुत किया है। कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठकर निर्विचार का अभ्यास करने और मस्तिष्क को एक बार विचार-शून्य कर इस अवस्था में ले जाने से कि वह निर्विकल्प बन जाए—अहिंसक व्यक्तित्व के निर्माण में यह क्रिया बहुत हद तक सहायक हो सकती है। इस क्रिया से व्यक्ति देश और काल की पकड़ से मुक्त हो ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है कि जहां अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। यह अवस्था निषेधात्मक भावों को बाहर निकालने तथा विधेयात्मक भावों में स्थिरीकरण के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण संभव है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों—जैसे; **ग्रीन** एवं **बेरोन** आदि का कहना है कि परानुभूति भी हिंसात्मक व्यवहार को

कम करने में सहायक होती है। यदि हिंसक व्यक्ति द्वारा की गई हिंसा से पीड़ित व्यक्ति की चीख एवं कष्ट प्रकट होता है और वह हिंसाकारी के ध्यान में आ जाता है तो उसमें आत्मदोष, दुख और पछतावे जैसी संवेगात्मक अनुभूतियां उत्पन्न हो सकती हैं, जिसके फलस्वरूप हिंसक-व्यवहार जारी रख पाना संभव नहीं हो सकता है। इस प्रकार परानुभूति से आत्मरेचन (Catharsis) के द्वारा 'स्वस्थ व्यक्तित्व निर्माण' का प्रयास किया जा सकता है।

स्वस्थ व्यक्तित्व विकास के लिए अहिंसा का प्रशिक्षण संभव है। हिंसा के बीजों को प्रसुप्त बना कर अहिंसा के बीजों को अंकुरित करना ही अहिंसा-प्रशिक्षण का आधार हो सकता है। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रक्रिया के दो चरण हो सकते हैं—सैद्धांतिक बोध एवं प्रायोगिक अभ्यास। अहिंसा के सैद्धांतिक बोध के अंतर्गत हिंसा के कारणों-परिणामों एवं अहिंसा के संवर्द्धन के उपाय का प्रशिक्षण समाविष्ट है, जिसमें मनोवैज्ञानिकों द्वारा अभय, मैत्री, क्षमता, विनम्रता, करुणा एवं सांप्रदायिक सद्भाव के कौशल का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रायोगिक प्रशिक्षण में हृदय परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवनशैली परिवर्तन एवं व्यवस्था परिवर्तन सम्मिलित है।

जैनाचार में अहिंसा के अनुपालनार्थ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह व्रतरूप पञ्चसूत्रीय आचार की प्ररूपणा की गई है। आत्म-विकास में बाधक कर्मों को रोकने तथा उन्हें नष्ट करने के लिए इन व्रतों की अनुपालना अहिंसामूलक सम्यक् आचार के परिपालन के लिए अनिवार्य है। इन स्वीकृत व्रतों की वृद्धि के लिए गृहस्थ साधक अन्य सात व्रतों—जैसे; **दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत, सामायिक, पोषधोपवास, भागोपभागपरिमाण अतिथि संविभाग** को भी धारण करता है। इन व्रतों के द्वारा आत्मशक्ति का विकास एवं सहनशीलता का अभ्यास किया जाता है।

अत: स्पष्ट है कि अहिंसा डरपोक एवं कायरों का मार्ग नहीं है। यह उन बहादुरों का मार्ग है—जो मृत्यु के वरण के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। अहिंसा शत्रु के सामने निर्भय होकर जीना सिखाती है। क्षमा आत्मा का रस है और अहिंसा उसकी सुगंध। क्षमा में द्वेष, क्रोध, विरोध और शत्रुता के उन्मूलन की अमोघ शक्ति है। क्षमा से सिंचित मन की धरती पर ही धर्म, सदाचार और नैतिकता के बीज बोए जा सकते हैं। क्षम्य एवं अहिंसक बनने के लिए स्वयं पर त्याग प्रवृत्ति का प्रयोग किया जाता है, फिर परिवार एवं पड़ोसियों पर। तभी अहिंसक समाज का निर्माण संभव है। अहिंसा व्यावहारिक जीवन को संतुलित बना कर 'स्व' और 'पर' के घात से बचने का उपाय है। अहिंसा कायरता नहीं, अपितु मनुष्य में मानवता को प्रतिष्ठित करने का अनुष्ठान है। ❖

संदर्भ:

1. युवाचार्यश्री मधुकर मुनि; आचारांग सूत्र : जिनागम ग्रंथमाला, पृष्ठ 145-46
2. जिनेंद्र वर्णी; सिद्धांत कोष भाग 4 : 1988, पृष्ठ 531 भारतीय ज्ञानपीठ , नई दिल्ली
3. तत्त्वार्थ सूत्र—7/13
4. व 5. आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, अहिंसा के अछूते पहलू: जैन विश्व भारती, लाडनूं

ग्रंथ सूची:

1. Atkinson, Smith & Hilgard, (1987), Introduction to Psychology, p. 369
2. जैन, जिनेंद्र : जैन विद्या एवं बौद्ध अध्ययन के आयाम (2004), राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. त्रिपाठी, लालवचन : आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान (1992), हरप्रसाद पब्लिकेशन, आगरा।
4. मुनि प्रमाणसागर महाराज : जैन धर्म और दर्शन (2000), पारस होम्स पब्लिकेशन, भोपाल।
5. सिंह, अरुणकुमार : समाज मनोविज्ञान की रूपरेखा (1996), मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
6. कोठिया, दरबारीलाल : महावीर का जीवन संदेश (2003), जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी। ❖❖

हिंसा-अहिंसा; मत-विचार : सत्य गायब

❑ जे. कृष्णमूर्ति

हम हिंसक हैं। अस्तित्व के पूरे काल-क्रम में मानव हिंसक रहा है और आज भी है। एक मानव के रूप में मैं पता लगाना चाहता हूं कि हिंसा का अतिक्रमण कैसे करूं, हिंसा से परे कैसे जाऊं? मुझे क्या करना चाहिए? मैं देख रहा हूं कि हिंसा ने इस जगत में क्या किया है? कैसे इसने हर तरह के मानव संबंधों को नष्ट किया है, कैसे इसने मनुष्य के भीतर गहरे दुख, संताप तथा घोर यंत्रणा को जन्म दिया है? यह सब मैं देख रहा हूं कि मैं सचमुच एक शांतिपूर्ण जीवन बिताना चाहता हूं, जिसमें गहन प्रेम की प्रचुरता हो तथा जिसमें समस्त हिंसा मिट गई हों।

❑

जब तक किसी भी पुरुष में 'मैं' का अस्तित्व है—अत्यंत स्थूल रूप में या अत्यंत सूक्ष्म रूप में—तब तक हिंसा मौजूद रहेगी।

हम आरंभ से ही इसे याद रखें कि धारणाएं और मत हमें कहीं नहीं ले जाएंगे तथा बौद्धिक समझदारी का सहारा लेने का भी कोई विशेष अर्थ नहीं है, क्योंकि मतों और विचारों के विनिमय द्वारा सत्य का पता नहीं लगाया जा सकता। अत: यदि हमें किसी भी समस्या पर आपस में बातचीत करनी है, तो यह उस स्तर पर होनी चाहिए जो न तो बौद्धिक हो और न ही भावात्मक या भावनात्मक।

मैं समझता हूं कि युद्ध आरंभ करने वाला हर समूह सदा यही कहता है कि उसका युद्ध आत्मरक्षा के लिए है। युद्ध सदा से ही होते रहे हैं—आक्रमणात्मक या प्रतिरक्षात्मक। सदियों के दौरान ऐसे भी युद्ध हुए हैं, जिन्हें एक राक्षसी खेल ही कहा जा सकता है। हम सभी तथाकथित शिक्षित एवं सुसंस्कृत लोग हैं, किंतु दुर्भाग्यवश हम जंगलियों की तरह मारकाट और हत्या पर उतर आते हैं। अत: क्या हम इस प्रश्न की छानबीन कर सकते हैं कि मनुष्य के भीतर गहरी हिंसा और आक्रामकता आखिर क्या चीज है?

ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने कहा है—'किसी भी परिस्थिति में हिंसा मत करो।'—इसका अर्थ है, एक शांतिपूर्ण जीवन बिताना, भले ही आप अत्यंत आक्रामक और हिंसक लोगों के बीच रह रहे हों। इसका अर्थ है, हिंसक, क्रूर एवं वहशी लोगों के बीच एक केंद्र बिंदु की तरह अचल-अडिग रहना। किंतु, मन स्वयं को अपनी संचित हिंसा से मुक्त कैसे करेगा—संचित हिंसा अर्थात् आत्मरक्षात्मक एवं सुसंस्कृत हिंसा, आक्रमण की हिंसा, प्रतिस्पर्धा

की हिंसा, एक बड़ा आदमी बनने की चेष्टा की हिंसा, किसी ढांचे के अनुसार स्वयं को अनुशासित करने की हिंसा, अहिंसक बनने के उद्देश्य से स्वयं को क्रूरतापूर्वक सताने और दबाने की हिंसा—मन इन सब तरह की हिंसाओं से कैसे मुक्त होगा?

विभिन्न प्रकार की अनेक हिंसाएं हैं। क्या हम हर प्रकार की हिंसा की अलग-अलग जांच-पड़ताल करेंगे या हम हिंसा के संपूर्ण ढांचे को एक साथ लेंगे? क्या हम हिंसा के केवल एक हिस्से को नहीं, बल्कि इसके संपूर्ण विस्तारक्रम को देख सकते हैं?

हिंसा का मूलस्रोत है 'मैं', अहं, यानी अहंकार, जो स्वयं को अनेक ढंग से व्यक्त करता है—विभाजन में, एक बड़ा आदमी बनने की कोशिश में—जो पुन: स्वयं को चेतन और अचेतन के रूप में विभाजित करता है, 'मैं' और 'मैं नहीं' के रूप में विभाजित करता है—'मैं' अर्थात् वह चीज जो स्वयं को एक परिवार, एक समुदाय इत्यादि के साथ जोड़ती है, अथवा नहीं जोड़ती है। जैसे एक शांत झील में पत्थर गिरने के बाद उसके चारों ओर वृत्ताकार में लहरें फैलने लगती हैं, उसी तरह इस 'मैं' रूपी केंद्र से लहरें उठ कर निरंतर चारों ओर फैल रही हैं। जब तक किसी भी रूप में 'मैं' का अस्तित्व है—अत्यंत स्थूल रूप में या अत्यंत सूक्ष्म रूप में— तब तक हिंसा मौजूद रहेगी।

आप प्रश्न कर सकते हैं—'हिंसा का मूल कारण क्या है?'—किंतु, कारण का पता लगाने की कोशिश का अनिवार्यत: अर्थ हिंसा से मुक्त हो जाना नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति जानना चाहता है कि वह क्रूर क्यों है, तो वह तत्काल कारण का पता नहीं लगा पाता। वह हफ्तों, महीनों, वर्षों तक कारण की खोज करता रहेगा। विशेषज्ञों ने हिंसा और आक्रामकता के विभिन्न कारणों की जो व्याख्याएं दी हैं, उन्हें वह पढ़ता रहेगा, परंतु अंत तक वह हिंसक ही बना रहेगा। तो क्या हम कार्य-कारण की खोज द्वारा ही हिंसा के प्रश्न की छानबीन करेंगे? अथवा हम हिंसा को समग्र रूप में लेकर इसको देखेंगे? हम देखते हैं कि कारण ही कार्य बन जाता है और कार्य ही कारण बन जाता है। कार्य और कारण एक-दूसरे से सुस्पष्ट रूप से भिन्न नहीं हैं। 'मैं' एक शृंखला की तरह है, जिसमें कारण कार्य बन रहा है और कार्य कारण बन रहा है। हम अनिश्चित काल तक इस प्रक्रिया के साथ चलते जाते हैं। परंतु, यदि हम हिंसा की संपूर्ण समस्या को ही देख सकें, तो हम इतनी जीवंतता से इसे समझ जाएंगे कि इसका अंत हो जाएगा।

हमने एक ऐसे समाज का निर्माण किया है—जो हिंसक है और मानव के रूप में हम भी हिंसक हैं। जिस संस्कृति और परिवेश में हम जीते हैं, वह हमारे प्रयास, हमारे संघर्ष, हमारी पीड़ा और हमारी भयानक क्रूरता की उपज है। अत: सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या अपने भीतर मौजूद इस भीषण हिंसा का अंत करना संभव है? यह असली प्रश्न है।

हिंसा ऊर्जा का एक रूप है। ऊर्जा का उपयोग जब एक खास ढंग से होता है, तो वह ऊर्जा आक्रमण का रूप ले लेती है। किंतु, हम तत्काल हिंसा को रूपांतरित या परिवर्तित करने की कोशिश नहीं कर रहे हैं, बल्कि हम इसे इतनी पूर्णता से समझना चाहते हैं कि हम इससे मुक्त हो जाएं, हमारा मन इससे परे चला जाए—इसका अतिक्रमण करते हुए, इसका रूपांतरण करते हुए या चाहे जिस तरह भी। क्या यह संभव नहीं है? यह संभव है।

आप हिंसा के बारे में कैसे सोचते हैं? आप हिंसा को कैसे देखते हैं? आप इस प्रश्न को ध्यान से सुनें—आपको कैसे पता चलता है कि आप हिंसक हैं? जब आप हिंसक होते हैं, तो क्या आपको इसका होश रहता है कि आप हिंसक हैं? आप हिंसा को कैसे जानते हैं?

जानने की यह प्रक्रिया सचमुच जटिल है। जब मैं कहता हूं कि मैं आपको जानता हूं, तो इस 'जानने' का क्या अर्थ है? कल या दस वर्ष पूर्व जब हम मिले थे, तब आप जैसे थे, उसी रूप में मैं आपको जानता हूं। किंतु, दस वर्ष पहले और आज के बीच में आप भी बदल गए हैं और मैं भी बदल गया हूं—इसलिए

वस्तुत: मैं आपको नहीं जानता। चूंकि मैं आपको अतीत की तरह ही जानता हूं, इसलिए मैं कभी कह ही नहीं सकता कि मैं आपको जानता हूं। कृपया इस सीधी-सी बात को पहले समझ लें । इसी प्रकार आप यह नहीं कह सकते कि मैं हिंसा को जानता हूं। आप केवल इतना ही कह सकते हैं कि मैं हिंसक होता रहा हूं, लेकिन मैं नहीं जानता कि हिंसा अभी क्या है? मैं आपसे कुछ कहता हूं, जो आपके स्नायुओं को उत्तेजित करता है और आप क्रोधित हो जाते हैं। एक क्षण बाद आप कहते हैं—'मैं क्रोधित हो गया था।'—क्रोध के क्षण में आप इसे नहीं पहचानते, बाद में आप पहचानते हैं। पहचान की इस प्रक्रिया की आपको छानबीन करनी है। यदि आप इसे नहीं समझ पाते हैं, तो आप क्रोध का सामना ढंग से नहीं कर पाएंगे। मान लीजिए, मैं क्रोधित होता हूं, परंतु एक क्षण बाद मुझे क्रोधित होने का अनुभव होता है। इस अनुभव के कारण ही मैं क्रोध को पहचान पाता हूं और यह क्रिया घटित होती है—क्रोध हो चुकने पर। तो पहचानने की इस घटना के कारण ही मैं क्रोध को क्रोध की तरह जान पाता हूं। अर्थात् पहचानने की यह क्रिया प्रत्यक्ष यथार्थ के लिए एक आवरण बन जाती है और इसके कारण मैं सदा अतीत की भाषा में प्रत्यक्ष यथार्थ का अनुवाद करता हूं।

तो प्रश्न यह है, क्या आप अतीत की भाषा में वर्तमान का अनुवाद किए बगैर अपनी प्रतिक्रिया को एक नए सिरे से तथा एक ताजा मन से देख सकते हैं? आप मुझे बेवकूफ कहते हैं और मेरा सारा खून खौल उठता है, तथा मैं बोल पड़ता हूं—'और दूसरे बेवकूफ तुम हो।'—मेरे भीतर भावनात्मक रूप से तथा आंतरिक रूप से कुछ घटित हुआ? दरअसल मैंने अपने बारे में, अपने मन में एक प्रतिमा बना रखी है, जिसे मैं वांछनीय, कुलीन और सार्थक समझता हूं और आप इस प्रतिमा का अनादर तथा अपमान कर रहे हैं। तो यह प्रतिमा ही उत्तर दे रही है—यह प्रतिमा, जो पुरानी है। अत: अगला प्रश्न है—क्या यह संभव है कि 'पुराना' उत्तर न दे पाए? क्या इस 'पुराना' और नए यथार्थ के बीच एक अंतराल आ सकता है? क्या यह 'पुराना' अनिश्चई और संकोची हो सकता है, ताकि यह नए को जन्म लेने का अवसर दे? मुझे लगता है कि यहीं पर हमारी सारी समस्या की जड़ केंद्रित है।

हम हिंसक हैं। अस्तित्व के पूरे काल-क्रम में मानव हिंसक रहा है और आज भी है। एक मानव के रूप में मैं पता लगाना चाहता हूं कि हिंसा का अतिक्रमण कैसे करूं, हिंसा से परे कैसे जाऊं? मुझे क्या करना चाहिए? मैं देख रहा हूं कि हिंसा ने इस जगत में क्या किया है?—कैसे इसने हर तरह के मानव संबंधों को नष्ट किया है, कैसे इसने मनुष्य के भीतर गहरे दुख, संताप तथा घोर यंत्रणा को जन्म दिया है—यह सब मैं देख रहा हूं कि मैं सचमुच एक शांतिपूर्ण जीवन बिताना चाहता हूं, जिसमें गहन प्रेम की प्रचुरता हो तथा जिसमें समस्त हिंसा मिट गई हों। अब मुझे क्या करना होगा? सर्वप्रथम मुझे इस बात का खयाल रखना होगा कि मुझे हिंसा से पलायन नहीं करना है। मैं हिंसक हूं—इस तथ्य से मुझे पलायन नहीं करना चाहिए। पलायन अर्थात् इसकी निंदा करना, इसको उचित ठहराना या इसको 'हिंसा' नाम देना। यह नाम देना भी एक प्रकार की निंदा ही है या इसके औचित्य का समर्थन करना है।

मुझे यह बात स्पष्टत: समझ लेनी है कि मन को हिंसा के तथ्य से अपना ध्यान नहीं हटाना चाहिए। हिंसा के कारणों की खोज करना, कारणों की व्याख्या करना, इस तथ्य को नाम देना कि मैं 'हिंसक' हूं, इसको उचित ठहराना, इसकी निंदा करना, इससे पिंड छुड़ाने की कोशिश करना—ये सब-के-सब हिंसा के तथ्य से ध्यान को हटाने के ही उपाय हैं। मन को इसकी स्पष्ट प्रतीति होनी चाहिए कि हिंसा के तथ्य से किसी प्रकार का पलायन नहीं हो रहा है और न ही किसी ऐसी इच्छा का आरोपण हो रहा है कि मैं इस पर विजय पाकर ही रहूंगा। इच्छाशक्ति भी हिंसा का ही सारभूत तत्त्व है।

हिंसा से किसी भी प्रकार का पलायन नहीं होना चाहिए—अर्थात् न इसका बौद्धिक या व्याख्यात्मक समर्थन और न इसकी निंदा। आप देखिए कि यह कितना कठिन है, क्योंकि मन पलायन करने में अत्यंत

तेज और चतुर है। क्योंकि मन नहीं जानता है कि अपनी हिंसात्मक वृत्ति के साथ क्या किया जाए। यह इससे निबटने में असमर्थ है—अथवा इसने स्वयं को असमर्थ मान लिया है। इसलिए यह पलायन कर जाता है। हिंसा के तथ्य से पलायन करने की, इससे दूर जाने की, इससे अपना ध्यान हटाने की या इसकी ओर आंख मूंद लेने की क्रियाएं वस्तुत: हिंसा को जिलाए रखने की ही कोशिश है, हिंसा को जीवन और पोषण देने के ही प्रयास हैं। यदि आप इसे महसूस कर लें, तो आपके मन के सामने 'जो है', वही तथ्य रह जाता है, अन्य कुछ नहीं।

प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि आप इसे कोई नाम न दें, तो आप कैसे कह सकते हैं कि यह हिंसा ही है?

पर, जब आप इसे नाम देते हैं, तो आप नाम के सहारे इसे अतीत से जोड़ देते हैं, इसलिए तब आप इसे अतीत की आंखों से देखने लगते हैं—अर्थात् इसे देखने के लिए अब आपके पास ताजा दृष्टि नहीं रही। बस! क्या हम इस बात को समझ पा रहे हैं, या नहीं?

आप हिंसा को देखते हैं और इसको उचित ठहराते हैं, यह कहते हुए—'इस विकराल समाज में जीने के लिए हिंसा आवश्यक है, हिंसा प्रकृति का अंग है, प्रकृति भी तो हत्या कर रही है।'—अर्थात् आपका संस्कार ही है कि हिंसा को या तो समर्थन करते हुए देखना, या निंदा और प्रतिरोध करते हुए देखना। जब आप हिंसा को देखते हैं, तो आप इसका संबंध उन प्रतिमाओं से जोड़ देते हैं—जो आप के पूर्वज्ञान से निर्मित हैं। इसलिए आप ताजा आंखों से इसे नहीं देख पाते। यदि आप अपने इस कृत्य के प्रति सजग और सचेत रहें, तभी आप हिंसा को ताजा और नई आंखों से देख पाएंगे। इस प्रकार तब यह प्रश्न उठता है कि इन प्रतिमाओं का निर्माण कैसे होता है, आखिर वह कौन-सी प्रक्रिया है जो इन्हें निर्मित करती हैं? मेरी पत्नी मुझे कहती है—'तुम एक मूर्ख हो।'—यह सुन कर मैं जल-भुन जाता हूं और यह मेरे मन पर एक चिह्न छोड़ जाता है। वह कुछ और कहती है तथा वह भी मेरे मन पर चिह्न छोड़ जाता है। ये चिह्न ही प्रतिमाएं बन जाते हैं और ये प्रतिमाएं हमारी स्मृति के गर्भ में संचित हो जाती हैं। तो, जब मेरी पत्नी मुझे मूर्ख कहे—यदि उसी क्षण में सजग हो जाऊं और उसकी बातों की ओर ध्यान दूं, तो मन पर कोई भी चिह्न या छाप नहीं छुटेगा और संभव है कि मेरी पत्नी एक सही बात कह रही हो।

इस प्रकार हम देखते हैं—होश और सजगता का अभाव ही, अर्थात् हमारी असावधानी ही प्रतिमाओं को जन्म देती है तथा हमारी सावधानी हमारे मन को प्रतिमाओं से मुक्त कर देती है। यह बिलकुल सीधी-सी बात है। इसी ढंग से, जब मैं क्रोधित हो जाता हूं, उस समय यदि मैं पूर्णत: सावधान हो जाऊं, तो उस क्षण क्रोध के वास्तविक अवलोकन में अतीत को हस्तक्षेप करने का मौका नहीं मिलेगा। अतीत का कोई भी हस्तक्षेप वस्तुत: असावधानी की दशा में ही होता है।

जैसा हमने पहले कहा—अपने सारे रूप में इच्छाशक्ति भी हिंसा का ही एक रूप है। हम इसकी जांच करें कि इच्छाशक्ति क्या है? इच्छाशक्ति का अर्थ है, जब आप कहते हैं—'मैं उसे करूंगा ही', 'मुझे वह नहीं चाहिए', 'मैं इसे करना चाहता हूं।'—अर्थात् आप किसी चीज की इच्छा कर रहे हैं, आप किसी चीज की मांग कर रहे हैं और ये सब प्रतिरोध के ही रूप हैं। जब आप कहते हैं—'मैं उस चीज की इच्छा रखता हूं'—अर्थात् जब आपके पास प्रबल इच्छाशक्ति होती है, तो यह प्रतिरोध का ही एक रूप है और प्रतिरोध हिंसा है।

मुक्ति का क्या अर्थ है? आप मुक्ति की जांच-पड़ताल करें। आपके भीतर गहरे में क्रोध, कुंठाएं, प्रतिरोध आदि छिपे हुए हैं, मन को इन सबसे भी मुक्त होना चाहिए। क्या मन वर्तमान में मौजूद अपनी सक्रिय हिंसा से मुक्त हो सकता है? मन के अचेतन की गहराई में जो घृणा, कटुता, क्रोध आदि मौजूद हैं, उनसे मन कैसे मुक्त हो सकता है? यह कैसे संभव है?

फिर एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि व्यक्ति अपने भीतर मौजूद इस हिंसा से मुक्त हो जाए, तो

जब वह अपने बाहर हिंसा को देखेगा, तो क्या वह खिन्न और उदास नहीं हो जाएगा? उसे क्या करना होगा?

एक स्थूल-सा उत्तर है कि—उसे जो करना होगा, वह है—दूसरों को शिक्षा देना। दूसरों को शिक्षा देना जगत में उच्चतम पेशा और कार्य है—पैसे के लिए नहीं, बैंक में खाता बढ़ाने के लिए नहीं, बल्कि मात्र दूसरों को सिखाने के लिए, उनको बताने के लिए।

आप दूसरों को सिखाते हैं और इस सिखाने के क्रम में आप खुद भी सीखते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले आप सीख लेते हैं, संग्रह कर लेते हैं और तब इसे बांटते फिरते हैं। आप हिंसक हैं—जब आप स्वयं को समझते हैं—तो आप दूसरों को भी स्वयं को समझने में सहायता करते हैं। अत: सिखाना और सीखना एक ही प्रक्रिया है।

क्या हम हृदय से यह जानना नहीं चाहते कि प्रेम क्या है? क्या सहस्राब्दियों से मनुष्य यह पता लगाने के लिए आतुर नहीं रहा है कि शांतिपूर्वक कैसे जिऊं, वास्तविक प्रेम और करुणा को परम प्रचुरता में कैसे उपलब्ध करूं? इन चीजों का आगमन तभी होता है जब 'मैं' के मिट जाने, यानी अहं के अनुपस्थित हो जाने का वास्तविक बोध हो।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम समस्त हिंसा से छुटकारा पाने की वकालत करते हैं, या कुछ हिंसा जीवन में स्वास्थ्यकर भी है? शारीरिक हिंसा नहीं, बल्कि कुंठा जैसी चीजों से पिंड छुड़ाने की कोशिश करना आदि। क्या यह सहायक सिद्ध हो सकता है, कुंठाओं से बचने की कोशिश करना?

हम कुंठित क्यों हैं? क्या स्वयं से कभी यह प्रश्न किया है कि आप कुंठित क्यों हो जाते हैं? इसका उत्तर खोजने के लिए क्या आपने कभी यह पूछा है कि परितुष्टि क्या है? आप परितुष्ट क्यों होना चाहते हैं? क्या परितुष्टि जैसी कोई चीज होती है? यह कौन है, जो परितुष्ट हो जाता है? क्या यह 'मैं' है? 'मैं' जो हिंसक है, 'मैं' जो अपने को अलग करता है, 'मैं' जो कहता है—'मैं तुमसे बड़ा हूं', 'मैं' जो महत्त्वाकांक्षा, ख्याति या कुख्याति की खोज करता है?

चूंकि हम उपलब्धि पाना चाहते हैं, इसलिए जब यह असफल हो जाते हैं, तो कुंठित हो जाते हैं, कटुता से भर जाते हैं। क्या हमने देखा है कि 'मैं' जैसी एक चीज है, जो स्वयं का विस्तार और फैलाव चाहता है और जब इसे यह नहीं प्राप्त होता है, तो यह कुंठित अनुभव करता है तथा कटुता से भर जाता है। विस्तार और फैलाव पाने की चाह तथा कटुता—ये हिंसा हैं। जब आप इस बात की सत्यता को देख लेते हैं, तो परितुष्टि की कोई भी चाह नहीं रह जाती, इसलिए कुंठा भी समाप्त हो जाती है।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पौधे और पशु—ये दोनों सजीव पदार्थ हैं; ये दोनों जिंदा रहने की कोशिश करते हैं। खाने के लिए पशुओं की हत्या करना और खाने के लिए पौधों (शाक-सब्जी) की हत्या करना—क्या आप इन दोनों में भेद करते हैं? यदि हां, तो क्यों?

मनुष्य को जीवित रहना है, अत: उपलब्ध पदार्थों में जो अल्पतम संवेदनशील हैं, उसी की हत्या की जाए। मैंने अपने जीवन में कभी मांस नहीं खाया है और मेरा मानना है कि कुछ वैज्ञानिक धीरे-धीरे इसी दृष्टिकोण वाले नतीजे पर पहुंच रहे हैं। यदि ऐसा होता है, तो सभी इसे स्वीकार कर लेंगे!

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में हिंसा क्या है? हिंसा भय और सुख का हिस्सा है। हमारे भीतर उत्तेजना के लिए कितना प्रबल उत्साह है। हम यही चाहते हैं और हम समाज को प्रोत्साहित करते हैं कि वह हमें यही प्रदान करे और तब हम समाज पर दोष भी मढ़ देते हैं, जबकि इसके लिए उत्तरदाई हम स्वयं हैं। हम स्वयं से यह पूछ रहे हैं कि हिंसा की जो यह भयंकर ऊर्जा है, क्या इसका उपयोग भिन्न ढंग से हो सकता है? हिंसक होने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है—क्या इस ऊर्जा को रूपांतरित किया जा सकता है, या इसे एक भिन्न दशा में मोड़ा जा सकता है? इस बात की सत्यता को देखने और समझने में ही यह ऊर्जा सर्वथा भिन्न रूप ले लेती है।

हिंसा ऊर्जा का एक रूप है तथा प्रेम भी ऊर्जा का

ही एक रूप है। वह प्रेम—जिसमें ईर्ष्या, चिंता, भय, कटुता नहीं है तथा जिसमें वह यंत्रणा या संताप भी नहीं है, जो तथाकथित प्रेम में होता है। अत: हिंसा ऊर्जा है तथा ईर्ष्या से घिरा सीमित प्रेम भी ऊर्जा का ही एक दूसरा रूप है। इन दोनों का अतिक्रमण करने का, अर्थात् इन दोनों से परे चले जाने का अर्थ है—उसी ऊर्जा को एक बिल्कुल ही भिन्न दिशा या आयाम में मोड़ देना।

हमें आत्मिक अनुभव कब होना चाहिए? कभी नहीं! क्या यह पता भी है कि आत्मिक अनुभव होने का क्या अर्थ है? आत्मिक अनुभव—अर्थात् अतींद्रिय दर्शन के अनुभव के लिए साधारण रूप से परिपक्व होना और संवेदनशील होना। इसीलिए असाधारण रूप से हमें प्रज्ञावान भी होना चाहिए। जब हम असाधारण रूप से प्रज्ञावान होते हैं, तो आत्मिक अनुभव नहीं चाहते।

हिंसा द्वारा मानव एक-दूसरे का नाश कर रहे हैं, पति पत्नी का नाश कर रहा है एवं पत्नी पति का नाश कर रही है। यद्यपि वे साथ सोते हैं, साथ चलते हैं, किंतु उनमें से हर कोई अपनी ही चिंताओं और अपनी ही समस्याओं के साथ एक अलगाव में जीते हैं और यह अलगाव हिंसा है।

- अब यदि आप इस सबको अपने सामने बिल्कुल साफ-साफ देखते हैं—केवल सोचते नहीं, बल्कि इसको देखते भी हैं—इसके खतरे को देखते हैं, तो आप इस संबंध में कुछ करेंगे। क्या, नहीं करेंगे? जब आप कोई खतरनाक जानवर को देखते हैं, तो आपकी क्रिया तत्काल होती है—वहां कोई हिचक या असमंजस नहीं होता। उस जानवर के एवं आपके बीच कोई बहस और विवाद नहीं होता। आपकी क्रिया तत्क्षण होती है, आप भाग जाते हैं, या आप कुछ करते हैं। यहां हम बहस कर रहे हैं, क्योंकि हम हिंसा के भीषण खतरे को नहीं देखते।

यदि हम सचमुच अपने हृदय से हिंसा के स्वरूप को देखें, हिंसा के खतरे को देखें, तो तत्काल इससे मुक्त हो जाएंगे, अब यदि देखना ही नहीं चाहते, तो कोई इसका खतरा बताए भी तो कैसे? न अरस्तूवादी भाषा कोई सहायता कर पाएगी और न ही गैर-अरस्तूवादी भाषा।

अत: जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह है—स्वयं हमारा हिंसा से मुक्त होना।

अब एक दूसरा प्रश्न लें। आप किसी भी चीज में क्यों विश्वास करना चाहते हैं? आप समस्त मानव की एकता में क्यों विश्वास करना चाहते हैं? तथ्य तो यही है कि हम एक नहीं हैं, अत: आप ऐसी चीज में क्यों विश्वास करना चाहते हैं, जो तथ्य है ही नहीं? विश्वास का यह सवाल अत्यंत विकट है। जरा सोचिए, आपका अपना विश्वास है, दूसरे का अपना विश्वास है और इसी विश्वास के लिए लोग लड़ रहे हैं, एक-दूसरे की हत्या कर रहे हैं।

आपके पास कोई भी विश्वास है ही क्यों? क्या इसलिए कि आप भयभीत हैं? नहीं? क्या आप विश्वास करते हैं कि सूरज पूरब में उगता है? यह तो प्रतिदिन की देखी हुई बात है, इसलिए आपको इसमें विश्वास नहीं करना पड़ता। विश्वास वस्तुत: विभाजन का एक रूप है, अत: यह एक प्रकार की हिंसा है। हिंसा से मुक्त हो जाने का अर्थ है, उस प्रत्येक चीज से मुक्त हो जाना जिसे एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य को सौंप रखा है। जैसे—विश्वास, धार्मिक मत, कर्मकांड तथा इस तरह की मूढ़ताएं—मेरा देश, तुम्हारा देश, मेरा ईश्वर, तुम्हारा ईश्वर, मेरा मत, तुम्हारा मत, मेरा आदर्श, तुम्हारा आदर्श। ये सब मनुष्य को विभाजित करने का काम करते हैं और इसलिए हिंसा को जन्म देते हैं। यद्यपि संगठित धर्मों ने मानव-जाति की एकता का उपदेश दिया है, तथापि प्रत्येक धर्म यही सोचता है कि वह अन्य धर्मों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

क्या यही जीने का उद्देश्य है? किंतु, जीने के लिए हम उद्देश्य या प्रयोजन क्यों चाहते हैं? जीना ही जीने का उद्देश्य है। हम देख रहे हैं कि हर व्यक्ति का अपना उद्देश्य है, धार्मिक व्यक्ति का अपना उद्देश्य है, वैज्ञानिक का अपना उद्देश्य है, गृहस्थ का अपना उद्देश्य है और ये सभी विभाजनात्मक हैं और उद्देश्यपूर्वक जीने वाले व्यक्ति का जीवन हिंसा को जन्म दे रहा है। यह बात बिल्कुल सीधी और साफ है। ❖

पारमार्थिक अहिंसा का आधार

हीरालाल मालू

तैमूरलंग क्रूर शासक था। एक बार उसके सामने दो गुलामों को उपस्थित किया गया। तैमूरलंग ने दोनों को मौत की सजा सुना दी। तीसरा, जो बंदी बना कर लाया गया—वह कवि अहमद था। तैमूरलंग ने पूछा—'तुम तो कवि हो, मूल्यांकन करना जानते हो, बताओ दो गुलामों को फांसी दी है, उनका मूल्य कितना है?'—कवि अहमद बोला—'पांच-पांच सौ अशर्फियां'—शासक ने आगे पूछा—'बताओ मेरा मूल्य कितना है?'—कवि ने कहा—'आपका मूल्य पचीस अशर्फियां।'—शासक यह सुन कर आग बबूला हो गया, क्रोध की ज्वाला में जलता हुआ बोला—'गुलाम का मूल्य पांच सौ अशर्फियां और मेरा मूल्य पचीस अशर्फियां'—उसने आगे कहा—'तुम इतना भी नहीं जानते कि पचीस अशर्फियों का मूल्य तो मेरी पोशाक का है।'—कवि ने कहा—'राजन! मैंने पोशाक का मूल्य ही बताया है।'—तैमूर ने पूछा—'फिर मेरा मूल्य कुछ भी नहीं है।'—कवि ने कहा—'बिलकुल नहीं। जो आदमी क्रूर है, जिसमें दया की भावना नहीं, जो किसी को अपने समान नहीं समझता, जिसमें सहानुभूति की भावना नहीं, जो न्याय करना नहीं जानता, उसका दुनिया में कोई भी मूल्य नहीं होता। इसलिए मैंने आपका सही मूल्यांकन करते हुए शून्य आंका है व पोशाक का मूल्य पचीस अशर्फियां आंका है।'

वर्तमान युग में प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षा रहती है कि वह जैसा बोलता है, चलता है, कपड़े पहनता है, आचरण व व्यवहार करता है, वैसा अनुसरण ही सब करें। परंतु, ऐसा संभव नहीं है। विरोधी स्वभाव, विचार व आदतें अलग-अलग होना स्वाभाविक है। इसी का परिणाम है—टकराव, संघर्ष व लड़ाइयां। यह पहले बीज का रूप लेते हैं, धीरे-धीरे महायुद्ध का रूप धारण कर लेते हैं। एक-दो व्यक्तियों का तनाव विश्वयुद्ध बन जाता है, हिंसा का तांडव-नृत्य हो जाता है।

महायुद्ध कोई बड़ी बात के लिए नहीं होता, कारण बहुत ही सूक्ष्म होता है। थोड़ी-सी भूमि के लिए या पत्नी को छुड़ाने के लिए महायुद्ध हुए हैं। हलके से तिरस्कार के लिए युद्ध की विभीषिका में लोग झुलसे हैं। क्या यह संसार इस प्रकार के हिंसात्मक वातावरण को जीवित रखने के लिए है? क्या मनुष्य अपनी रुचि और विचारों को दूसरों पर थोपता ही रहेगा? मेरी दृष्टि में हम सह-अस्तित्व के मार्ग पर चलेंगे तो हिंसा की भावना जन्म ही नहीं लेगी।

क्रोध का आवेश, अहंकार का आवेश, लोभ का आवेश आदमी को हिंसा की ओर ले जाते हैं। तनाव दो प्रकार के होते हैं—आवेशजन्य तनाव व अवसादजन्य तनाव। क्रोध का व लोभ का तनाव आवेशजन्य तनाव है। निराशा, निष्क्रियता, निठल्लापन अवसादजन्य तनाव हैं। दोनों प्रकार के तनाव आदमी को हिंसा की ओर अग्रसर करते हैं। अहंकार के कारण हिंसा भड़क उठती है। हिंसा और अहिंसा, दोनों की जड़ हमारे अंदर विद्यमान है। हमारी जो मस्तिष्कीय प्रणाली है, उसमें दो प्रणालियां हैं। एक प्रणाली है कि गुस्सा,

क्रोध, आवेश कर के स्थिति से निबटना। दूसरी प्रणाली है कि अभी नहीं करके थोड़ा रुक कर चिंतनपूर्वक समभाव से निबटना।

चीन के एक दार्शनिक व प्रसिद्ध संत थे—नानूसीनी। उनके पास एक सेनापति आया। उसने आकर कहा कि—'क्या आप मेरे प्रश्न का उत्तर देंगे?'—नानूसीनी से सेनापति ने प्रश्न पूछा—'स्वर्ग व नरक क्या है?'—सेनापति योद्धा था, योद्धा की बोली व भावना अलग प्रकार की होती है। उसने तेज भाषा में कहा—'मेरे प्रश्न का उत्तर जल्दी दो।'—संत ने सोचा, विचित्र आदमी है। उन्होंने पूछा—'क्या तुम सेनापति हो?'—सेनापति ने कहा—'क्या नजर नहीं आ रहा है, तुम्हें।'—संत ने कहा—'दिख रहा है कि तुम सेनापति हो, पर तुम्हारी सूरत तो भिखारी जैसी है।'—इतना सुनते ही सेनापति क्रोध में आग-बबूला हो गया व बोला—'क्या तुम्हें नजर नहीं आता, तलवार मेरे हाथ में है।'—संत बोले—'अच्छा तलवार भी रखते हो, पर बताओ इसके धार है या नहीं?'—सेनापति ने तलवार म्यान से बाहर निकाल कर कहा—'धार तो है।'—संत बोले—'क्यों सेनापति! इस धारदार तलवार से मेरा सिर काट सकते हो?'

संत की बात सुन कर सेनापति गुस्से में आपा खो बैठा। संत बोले—'सेनापति! तुम जानना चाहते थे कि स्वर्ग व नरक क्या है?'—इतना सुनते ही सेनापति शांत हो गया। सारा गुस्सा समाप्त हो गया। सेनापति संत के पैरों में गिर पड़ा, संत ने उसे उठाते हुए कहा कि—'सेनापति! यह है स्वर्ग। स्वर्ग-नरक कहीं बाहर नहीं है, हमारे भीतर हैं।'

आज न तो भाई-भाई में, न पिता-पुत्र में, न पड़ोसी-पड़ोसी में, न समाज-परिवार में अहिंसा है। मात्र एक उपयोगिता का रिश्ता है, धागा है। वह धागा है, तब तक सब ठीक चलता है। जब वह टूटता है, तो हिंसा भड़क उठती है। जब तक स्वार्थ नहीं टकराते, मित्रता रहती है। ज्योंही स्वार्थ टकराता है, तो हिंसा की भावना, अहित की भावना पैदा हो जाती है। रसोई में घी का बरतन पड़ा था, बहू के चलते-चलते ठोकर लगी व घी गिर गया। सास ने तपाक से कहा—'देख कर नहीं चलती, अंधी हो क्या? घी को नीचे गिरा दिया।'—दो दिन बाद वही बरतन बीच में पड़ा था, सास जा रही थी कि ठोकर लगी। घी नीचे गिर गया। सास तपाक से बोली—'कितनी बेवकूफ हो—बहू! जो रास्ते में ही बरतन रख देती हो।'—इसी तरह की वृत्तियां अहिंसा की कब्र खोदती हैं। कोई भी गलती हो, आदमी अपने आपको बचा कर, गलती दूसरों पर आरोपित करता है। यही हिंसा के कारण बनते हैं।

इसलिए जब तक पारमार्थिक अहिंसा का विकास हमारी मनोवृत्ति में नहीं होगा और हमारी जीवन-शैली वास्तविक अहिंसा से प्रभावित नहीं होगी, तब तक हिंसा की मनोवृत्ति को कम नहीं किया जा सकता। पारमार्थिक अहिंसा का आधार हमारी आत्मा है। हमारे मन में सभी आयामों के प्रति समानता के भाव रहने चाहिए। समानता का सिद्धांत ही पारमार्थिक अहिंसा का आधार बन सकता है। सुख-दुख की अनुभूति जैसी मेरी है, वैसी ही सभी प्राणियों की है—इसलिए मुझे किसी भी प्राणी को दुख नहीं देना चाहिए, सताना नहीं चाहिए। यह चेतना जब तक नहीं जाग जाती, तब तक पारमार्थिक अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। जब तक पारमार्थिक अहिंसा का विकास नहीं होता, तब तक समाज में छीना-झपटी, लूट-खसोट, मार-धाड़, एक-दूसरे पर प्रहार व कष्ट देने का व्यवहार कम नहीं किया जा सकता।

पिछले वर्षों में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व वर्तमान युग में आचार्यश्री महाश्रमणजी इस पारमार्थिक अहिंसा यात्रा के जनक रहे हैं। इन यात्राओं से सामाजिक सौहार्द के वातावरण का निर्माण हुआ है।

❖

विज्ञापन

विनम्र आभार

जैन भारती का **'अहिंसा तत्त्व विशेष'** अंक आपके हाथों में सौंपते हुए मैं अतीव प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व आचार्यश्री महाश्रमणजी की अनवरत गतिमान **अहिंसा यात्रा** की पृष्ठभूमि, **आचार्यश्री तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष** तथा **जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा शताब्दी वर्ष** के उपलक्ष्य में यह कार्य एक विनम्र भावाभिव्यक्ति के रूप में संभव हुआ है।

विश्वभर में फैली हिंसा, आतंकवाद, सांप्रदायिक वैमनस्य, आपसी झगड़े, दुराचार, शोषण, अनियमितताओं आदि के अंत के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 80 वर्ष की अवस्था में 5 दिसंबर, 2001 को सुजानगढ़ (राजस्थान) से अहिंसा यात्रा का सिंहनाद किया था। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, हरियाणा, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, पंजाब आदि राज्यों के 87 जिलों की 2400 ढाणियों, गांवों-कस्बों व शहरों का संस्पर्श करते हुए लगभग एक लाख किलोमीटर की पदयात्रा उन्होंने की। अहिंसा का अलख जगाने वाले आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के महाप्रयाण के पश्चात् आचार्यश्री महाश्रमणजी के नेतृत्व में वर्तमान में राजस्थान में यह अहिंसा यात्रा अनवरत गतिमान है।

आचार्यश्री महाश्रमणजी मानव-मानव को अहिंसा का संदेश देते हुए सदाचारमय जीवन जीने का मार्ग बता कर लाखों लोगों को उपकृत कर रहे हैं। व्यसनमुक्त जीवन जीने की प्रेरणा देते हुए शराब, मांसाहार व तंबाकू छुड़ाने का सघन अभियान आप चला रहे हैं।

इस अहिंसा यात्रा की प्रशंसा साधारण व्यक्ति की झोपड़ी से लेकर, राष्ट्रपति भवन तक की गई है। मैं स्वयं अहिंसा यात्रा के दौरान इसका समय-समय पर साक्षी रहा हूं। पूर्व राष्ट्रपति माननीय श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने सूरत में व पूर्व राष्ट्रपति माननीय श्रीमती प्रतिभाजी पाटिल ने कांकरोली में स्वयं उपस्थित होकर अहिंसा यात्रा के लिए अपनी श्रद्धाभिव्यक्ति प्रस्तुत की थी।

अहिंसा के प्रबल पक्षधर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी व आचार्यश्री महाश्रमणजी के श्रीचरणों में मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं, जिन्होंने पांव-पांव चल कर अहिंसा यात्रा के माध्यम से सद्भावना के वातावरण को निर्मित किया और कर रहे हैं।

'अहिंसा विशेषांक' के सभी लेखकों के प्रति भी मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने अपने उर्वर मस्तिष्क से पाठकों के लिए पठनीय सामग्री को प्रस्तुत किया। **जैन भारती** के मानद संपादक श्री शुभूजी पटवा वास्तव में बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने इस विशेषांक की कल्पना को साक्षात संभव प्रस्तुत कर दिखाया। **जैन भारती** के कार्यालय प्रभारी श्री शिवनारायण ओझा की कर्तव्यनिष्ठा की सराहना मैं विशेषतः करता हूं, जिन्होंने पहल कर विज्ञापन संबंधी कार्य को अंजाम दिया। महासभा के निवर्तमान अध्यक्ष श्री चैनरूप चिंडालिया और महासभा के तत्समय के पदाधिकारियों, ट्रस्टीजनों एवं कार्यसमिति के सदस्यों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूं। इस विशेषांक प्रकाशन के सभी अर्थ-सहयोगियों के प्रति भी मैं विनम्र आभार प्रकट करता हूं जिन्होंने अपना सहयोग प्रदान किया।

मैं कतिपय नामोल्लेख का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूं, • श्री कमलकुमार दूगड़, (कोलकाता) • श्री महेंद्रकुमार धाड़ीवाल, (रायपुर) • श्री विनोदकुमार बैद, (कोलकाता) • श्री सुकनराज परमार, (चेन्नई) • श्री रमेशकुमार धाकड़, (मुंबई) • श्री पन्नालाल बैद, (जयपुर) • श्री भूपेंद्रकुमार मूथा, (बेंगलूरु) • श्री इंद्रचंद दुधोड़िया, (बेंगलूरु) • श्री विनोदकुमार बांठिया, (सूरत) • श्री राजेंद्रकुमार सेठिया, (रायपुर) • श्री अविनाश नाहर, (जयपुर) • श्री सुशीलकुमार चौरड़िया, (बेंगलूरु) • श्री माणकचंद मूथा, (बेंगलूरु) • श्री भूरामल सामसुखा, इंदौर के प्रति मैं अपने अंतस्तल से कृतज्ञता प्रकट करता हूं, जिन्होंने इस कार्य में आगे बढ़ कर सहयोग किया। इस अंक के सभी विज्ञापनदाताओं के प्रति भी मैं आभार स्वीकार करता हूं, जिन्होंने हमारे किंचित आग्रह पर अपना सहयोग दिया है।

तथापि, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग के लिए सभी के प्रति आभार, शुभकामना व उत्तरोत्तर सहयोग की आकांक्षा के साथ—

हीरालाल मालू
अध्यक्ष,
जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा,
कोलकाता

विज्ञापन अनुक्रम

क्रमांक	विज्ञापनदाता का नाम/स्थान	पृष्ठ
1.	Maloo Constructions Bangalore	1
2.	के.बी.डी. फाउण्डेशन कोलकाता	2
3.	बच्छराज विनोदकुमार, सुरेंद्रकुमार बांठिया चूरू-सूरत-हैदराबाद	3
4.	श्री आदिनाथ ज्वैलर्स रायपुर (छत्तीसगढ़)	4
5.	मै. माणकलाल मोतीलाल बैद रायपुर (छत्तीसगढ़)	4
6.	मै. मोतीलाल महेंद्रकुमार धाड़ीवाल रायपुर (छत्तीसगढ़)	5
7.	SMT Machines (India) Limited Mandi Gobindgarh	6
8.	श्री महावीर एजेंसी कोलकाता	7
9.	Mahaveers Coimbatore	8
10.	East India Udyog Limited Kolkata	8
11.	श्रीमती जतन कंवर सिद्धराज भंडारी जयपुर	9
12.	सुरेंद्रकुमार, राजेंद्रकुमार, निर्मलकुमार बरड़िया जयपुर	10
13.	Lodha Impex Jaipur	11
14.	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा गुलाबबाग	12
15.	Jain International Patna	12
16.	गुजरानी ज्वैलर्स जयपुर	13
17.	Surana Group Surat	14
18.	शासनसेवी स्व. श्रीमान शोभालाल दलिचंदजी राठौड़ परिवार, सूरत	15
19.	Alka Glass Company Raipur	16
20.	श्री नाकोड़ा जी टेक्सटाइल रायपुर	16
21.	Elin Electronics Limited New Delhi	17
22.	T.M. Yogesh Textile Pvt. Ltd. Cuttack	18
23.	Eastern Group of Companies Patna, Pune, Kolkata	19
24.	श्रीमती छोटीबाई डागा, राजेंद्रकुमार डागा रायपुर (छत्तीसगढ़)	20
25.	मै. कोलकेम भिलाई-बगड़ी	20
26.	Suraj Stock Broking Ltd. Kolkata	21
27.	Maruthi Builder Chennai	22
28.	Amarchand Dharamchand Lunked Chennai	23
29.	फतेहचंद तरुणकुमार सिंघी इंदौर	24
30.	Sun Narrow Fab Pvt. Ltd. Surat	24
31.	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा चेन्नई	25
32.	अंकुर नमक गांधीधाम, (कच्छ) गुजरात	26
33.	एग्रो इक्विपमेंट कं. प्रा. लि. इंदौर	27
34.	Dream Home Furnishing Raipur (C.G.)	28
35.	Sonali Silk Mills Ladnu-Surat	28
36.	Sekhani Fabric Mills Pvt. Ltd. Ahmedabad	29
37.	Shree Mahalaxmi Transport Carrier Ahmedabad	30

क्रमांक	विज्ञापनदाता का नाम/स्थान	पृष्ठ
38.	Ply Port Chennai	31
39.	राजेश स्टील एण्ड पाइप सूरत	32
40.	कांता बेन चंदुलाल दोशी परिवार वाव-सूरत	32
41.	Subhkam Ventures Mumbai	33
42.	Friends Group of Companies Gandhidham-Kutch (Gujarat)	34
43.	Jay Bhawani Metal Industries Surat	35
44.	विजय जैन एवं समस्त खापड़िया परिवार केसिंगा (उड़ीसा)	36
45.	जय तुलसी अनाज भंडार केसिंगा (उड़ीसा)	36
46.	Konika Narrow Fab Surat	37
47.	Suruchi Processors Pvt Ltd. Surat	38
48.	Max Pure Water System Pvt. Ltd. Surat	39
49.	Priyanka Agencies Bellary	40
50.	Evershine Marble Surat	40
51.	Pragathi Silk & Sarees Bengaluru	41
52.	Fashion Adventure Bengaluru	42
53.	तेरापंथ महिला मंडल रायपुर (छत्तीसगढ़)	43
54.	VAB Ventures Ltd. Kolkata	44
55.	Regent Education & Research Foundation Kolkata	45
56.	Baid Leasing and Finance Co. Ltd. Jaipur	46
57.	Kalyani Tea Co. Ltd. Kolkata	47
58.	Express Shipping Agency Kolkata	48
59.	बजरंगलाल बिनोदकुमार चौरड़िया कोलकाता	49
60.	Prince Jewellers Wadala	50
61.	Shubh Marble Kelwa	51
62.	किशनलाल डागलिया मुंबई	52

आवरण पृष्ठ 2— श्रीमती मंगलीदेवी, कन्हैयालाल दुधेड़िया परिवार, छापर-बैंगलोर

❖ ❖ ❖

आवरण पृष्ठ 3—रमेशकुमार हमेरमल जैन, मुंबई

❖ ❖ ❖

अंतिम आवरण पृष्ठ—पुखराज, सुकनराज, जावंतराज, रमेशकुमार परमार, चेन्नई



किसी की सेवा कर उसको गिनाना
सेवा के महत्त्व व फल को कम करना।

—आचार्यश्री महाश्रमण

With best compliments from :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, **BANGALORE** 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : hiralal.maloo@gmail.com

इस नश्वर जीवन में हो सके तो किसी का भला करो,
किन्तु किसी का बुरा मत करो।

—आचार्यश्री महाश्रमण

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

के.बी.डी. फाउण्डेशन

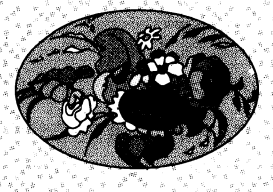
बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन

बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन

बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

हार्दिक शुभकामनाओं सहित



संबोध

यह जीवन कितना कीमती है—यह बात किसी के समझ में आ जाए, तो वह किसी न किसी रूप में साधना का पथ अपनाएगा ही। और, उसका निर्देशन धर्मसंघ से सहज मिलता रहता है। उपासक मंडल की साधना एक ऐसी योजना है, जिसमें थोड़े श्रम से अधिक पाया जा सकता है। समाज के श्रावक-श्राविकाओं का यह कर्तव्य और दायित्व है कि केंद्र में चलाई जाने वाली इस उपासक-योजना में निश्चित रूप से अपना योगदान दें, जिससे उनका अपना जीवन सार्थक बने और संघ को उनकी सेवाएं भी प्राप्त हो सकें।

गणाधिपतिश्री तुलसी **आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

बच्छराज विनोदकुमार, सुरेंद्रकुमार बांठिया

(चूरू-सूरत-हैदराबाद)

मोबाइल : 09824114920

प्रभो! तुम्हारे पावन पथ पर, जीवन अर्पण है सारा

शुभकामनाओं सहित

श्री आदिनाथ ज्वैलर्स

A/409, द्वितीय तल नाहटा मार्केट
सदर बाजार, रायपुर 492001 (छत्तीसगढ़)
कोयम्बटूर चेन एवं जेवर के होलसेल विक्रेता
फोन : 0771-4045878 (ऑ.), 4058878 (नि.)
मोबाइल : 09827191518

विनीत
राजेन्द्रकुमार यशकुमार सेठिया
मूल निवासी : कल्याणपुरा (मालवा), प्रवासी : रायपुर (छत्तीसगढ़)

अहिंसा एक क्रिया है, प्रतिक्रिया नहीं।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

शुभकामनाओं सहित

मै. माणकलाल मोतीलाल बैद

बैरू बाजार, रायपुर (छत्तीसगढ़)
राजस्थान-राजलदेसर
मोबाइल : 9826128100

अव्यवस्थित दस काम करने की अपेक्षा
दो-तीन व्यवस्थित काम करना
ज्यादा लाभदायी हो सकता है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

मै. मोतीलाल महेंद्रकुमार धाड़ीवाल

45, 46 महालक्ष्मी क्लॉथ मार्केट, पंडरी, रायपुर (छत्तीसगढ़)

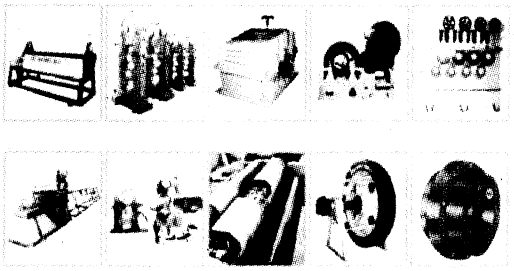
महेंद्र धाड़ीवाल - कमला धाड़ीवाल
विजय धाड़ीवाल - ललिता धाड़ीवाल
निर्मल धाड़ीवाल - नम्रता धाड़ीवाल
प्रशांत धाड़ीवाल - उर्वशी धाड़ीवाल

98271-36300, 98261-58200

ॐ जय भिक्षु जय तुलसी जय महाप्रज्ञ जय महाश्रमण

श्रद्धानिष्ठ श्रावक सुरेंद्र मित्तल एवं श्रद्धा की प्रतिमूर्ति
श्रीमती लक्ष्मी मित्तल की ओर से गुरुदेव के चरणों में कोटि-कोटि नमन

SMT IS THE POWER OF
STEEL
MILL TECHNOLOGY



- Fully Automatic Hot/ Wire Road / TMT Bar / Section Rolling Mills Capacity Up To 150 Tons Per Hours
- Mill Stands Up to 760 mm PCD
- Flywheels Up to 35 Tons (Steel Casting.)
- Pinion Stand 130 to 760 mm PCD
- Reduction Gear Box Single Stage & Multiple Stage (Up to 5000 HP)
- Billet Shearing Machine (Capacity Up to 75 mm to 260 mm)
- Rotary Shearing Machine
- Cold Shearing Machine
- Flying Shear
- Online TMT Box (QST Process)
- Automatic Cooling Bed
- Section Straightening Machine Up To 1000 Center
- Gears & Gear Couplings
- Eden Borne type Coiler
- Slag Crushing Unit
- Scrap Shearing Machine & Complete Spare Parts For Steel Plants

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED
An ISO-9001 Company & Govt. of India Recognized Export House
G.T. Road, Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh 147301 (INDIA)
Phone : + 91-1765-256337, 257742 Fax : 255199 Mobile : +91-9357755555
E-mail: info@smtsteelmills.com , Website : www. smtsteelmills.com
More Details Visit Our Website

Ⓢ सुरक्षित Ⓜ मज़बूत Ⓣ टिकाऊ

CM/L 9465291
IS:1786

TMT SARIA TM

Muscles of your Home

TURBOQUENCH CERTIFIED

An ISO 9001:2008 Company

100% PERFECT TMT

- Maximum Steel Saving

SMT TMT Available In Grades :
Fe-415, Fe-415D, Fe-500, Fe-500D & WIRE RODS

- Earthquake Resistance

AAR AAR CASTINGS PVT. LTD. Baddi (H.P) Contact : 98054-90001 08894734002 Email: info@smttmt.com, Website :www.smttmt.com

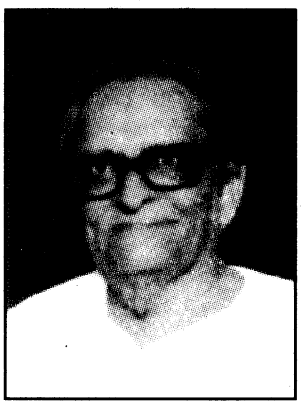
अर्हम्

जय भिक्षु जय तुलसी जय महाप्रज्ञ जय महाश्रमण

अपनी आलोचना का जवाब जबान से नहीं,
अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों से दो।

—आचार्यश्री महाश्रमण

श्रद्धानिष्ठ श्रावक



स्व. श्री धर्मचंद पुगलिया

(जन्मः 9-2-1931 महाप्रयाण 4-7-2012)

की पुण्य स्मृति में
श्रीमती किरणदेवी (धर्मपत्नी)
भीखमचंद-सुशीला पुगलिया (पुत्र-पुत्रवधू)
श्रीडूँगरगढ़-कोलकाता

श्री महावीर एजेंसी

134/4 महात्मा गांधी रोड, कोलकाता 700007
मोबाइलः 098300-23490

अहिंसा इच्छा रूपी अश्व को नियंत्रित करने का चाबुक है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

With Best Wishes

MAHAVEERS

9/6 Cross-Cut Road, Gandhi Puram, **COIMBATORE** 641012

Sri Dharmendra Bhandari

With Best Compliments From

EAST INDIA UDYOG LIMITED

18, Netaji Subhash Road, **KOLKATA** 700001

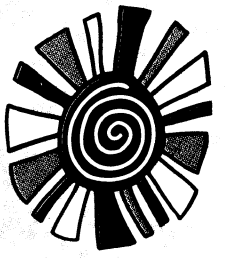
Manufacturers of :
Electric Transformers and Electric Conductors

Works at :
145, G.T. Road, Sahibabad, Ghaziabad 201005 (U.P.)
120, Anand Industrial Area, Mohan Nagar, Ghaziabad (U.P.)
1088, Salempur Rajputan Indi. Area, Roorkee (Uttarakhand)
148 & 158, Raipur Industrial Area, Roorkee (Uttarakhand)
144, Lakshwari, Industrial Area, Bhagawanpur, Roorkee (Uttarakhand)

Shri Shardul Singh Jain
Director

अपनी आकांक्षाओं को सीमित करो,
दुख भी सीमित हो जाएगा।

—आचार्यश्री महाश्रमण



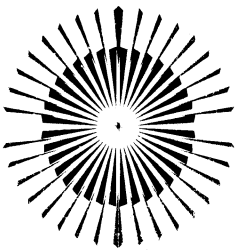
हार्दिक शुभकामनाओं सहित

श्रीमती जतन कंवर सिद्धराज भंडारी

202, Pearl Mount View, A-14
Vijay Path, Tilak Nagar, **JAIPUR** 302004 (Raj.)
Ph. : 0141-2621651, Mob. : 9314966001
e-mail : sidhrajbhandari@gmail.com

जीवन में एक संकल्प ऐसा रखो,
जिसे रखने के लिए
तुम अपने प्राणों का भी अर्पण कर सको।

—आचार्यश्री महाश्रमण



हार्दिक शुभकामनाओं सहित

सुरेंद्रकुमार, राजेंद्रकुमार निर्मलकुमार बरड़िया

बरड़िया कॉलोनी, **जयपुर** 302004

Tel. : 4041045, 4041024

किसी को धोखा देना पाप है, तो किसी से धोखा खाना मूर्खता है।
न किसी से धोखा खाओ और न किसी को धोखा दो।

—आचार्यश्री महाश्रमण

LODHA IMPEX

Manufacturers & Exporters
of Readymade Garments

SPL-100, Garment Zone, RIICO, E.P.I.P.
Sitapura Ind. Area Tonk Road, **JAIPUR** 302002 (India)

Fax : 91-141-2770462
Tel. : 91-141-2770465-466-467-468

E-mail : jaipur@thelodhagroup.com
lodhaimpex@satyam.net.in
visit us at : www.thelodhagroup.com

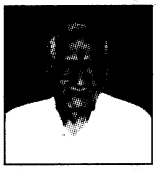
इस सदी के उजले नक्षत्र को अभिवंदना
श्वेत वस्त्रधर योगी पुरुष को अभिवंदना
पुण्य के प्रासाद सत्य के सम्राट् को अभिवंदना
ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी, यशस्वी व्यक्तित्व को अभिवंदना

श्रद्धावनत

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा

भगवान् महावीर पथ, गुलाबबाग 854326

Ph. : 06454-234660 E-mail : jainsabhagulabbagh@gmail.com



तेरापंथ धर्मसंघ के निष्ठावान श्रावक स्व. मानीकचंद दुगड़
रतनगढ़-पटना
की पुनीत यादगार में
जसकरण दुगड़ (भाई)
पदमचंद दुगड़, विनोदकुमार दुगड़ (सुपुत्र)
राजेंद्रप्रताप दुगड़ (पुत्र जसकरण दुगड़)

Jain International

(A Unit of Rose Medicare Pvt. Ltd.)

203, Prafulla Place, Govind Mitra Road, **PATNA** 800004 (Bihar)

Ph. : 0612-2301922, 2303103, 2303182

ॐ अर्हम्

अ.सि.आ.उ.सा. नमः

आचार्यश्री महाश्रमणजी
के
चरणों में शत-शत वंदन

अहिंसा समता की अनुभूति का सुगम पथ है।
—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

शुभकामनाओं सहित

गुजरानी ज्वैलर्स

2447 गुजरानी हाउस
न्यू मार्केट, घी वालों का रास्ता
जौहरी बाजार, **जयपुर**
फोन : 0141-2577111, 2618202
मोबाइल : 9829055202, 9314879077

गुजरानी इंटरनेशनल

236, पचरत्ना, ओपेरा हाउस, **मुंबई** 400004
फोन : 022-23679475, 23635627, 9820046298

चंदनमल गुजरानी
रतन, हीरा गुजरानी

भलाई का काम करो, भगवान की सच्ची भक्ति हो जाएगी
तुम्हें अच्छी शक्ति मिल जाएगी।

—आचार्यश्री महाश्रमण



With Best Compliments from :

SURANA GROUP

HG-4, International Trade Center
Majura Gate Crossing, Ring Road, **SURAT** 395002
Telefax: +912614004545
Email : suranasanjayb@yahoo.co.in

Babulal-Sanjay Surana

तुम दूसरों को किस प्रकार प्रभावित करते हो
मुझे यह मत बताओ।
मुझे तो यह बताओ
तुमने अपने आपको प्रभावित करना
सीखा या नहीं ?

—आचार्यश्री महाश्रमण



हार्दिक शुभकामनाओं सहित

'शासनसेवी' स्व. श्रीमान् शोभालाल दलिचंदजी राठौड़ परिवार

रावलिया कलाँ-सूरत

जय भिक्षु ॐ अर्हम् जय महाश्रमण

अहिंसा सम्यक् आचार का सुनहरा पृष्ठ है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

शुभकामनाओं सहित

SAMPATMAL BAID
SANJAY BAID
PANKAJ BAID
SARDARSHAHR (Raj.)

ALKA GLASS COMPANY

BYB Pass Road, CHAS, Bokaro, JHARKHAND 887013
M.G. Road, Raipur 492001 CG

शुभकामनाओं सहित

VHM
INTERNATIONAL SUITING
SUITINGS • SHIRTINGS • COTTONS

Baradia

श्री नाकोड़ा जी टेक्सटाइल

थोक वस्त्र विक्रेता

डी-34, टेक्सटाइल मार्केट, पंडरी, रायपुर 492004 (छत्तीसगढ़)
फोन : 2582828, 6535858 (ऑ.)

With Best Compliments

ISO 140001 : 2004 Certified
ISO 9001 : 2000 Certified
TS 16949 : 2000 Certified

ELIN ELECTRONICS LIMITED

Manufacturers & Exporters of
Contract Manufacturers for Domestic Appliances

UNIVERSAL MOTOR
SYNCHRONOUS MOTOR
SUBMERSIBLE PUMP
SHEET METAL COMPONENTS
INJECTION PLASTIC MOULDED COMPONENTS
DIES & MOULDS

Head Office
ELIN HOUSE
4771, Bharat Ram Road
23 Darya Ganj, **NEW DELHI** 110002
Tel. : 91-11-43000400, Fax : 91-11-23289340

E-mail : headoffice@elinindia.com
Website : www.elinindia.com

Factories :
GHAZIABAD, UTTAR PRADESH, BADDI
HIMACHAL PRADESH, VERNA, GOA

जय भिक्षु श्री जिनाय नमः जय तुलसी

अहिंसा केवल तत्त्व ही नहीं, जीवन का सत्त्व है।
—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

With Best Compliments

T. M. YOGESH
Textile Pvt. Ltd.

Choudhury Bazar, Nandi Sahi
CUTTACK 753001 (Odisha)

Ph. : 0671-2308384 (S), 9437030594 (M)

MOHAN LAL SINGHI

जैन भारती का यह अहिंसा विशेषांक जन-जन के लिए प्रेरणास्पद बने : मंगलकामना

हिंसा उन्माद है और अहिंसा आह्लाद है।
हिंसा विषाद है तो अहिंसा प्रसाद है।।
जैसे हिंसा जन्म देती है विवाद और अवसाद को,
वैसे ही अहिंसा शांति का एक सशक्त संवाद है।।

-तनसुख

Eastern Group of Companies

Eastern Trading Co.
B-13, Bansal Tower
R.K. Bhattacharya Road
PATNA 800001
Ph. : 2320757/9334545388
etco2003@sify.com

Dynamic Distributors
Flat No. 3,
Shivam Complex, Baner Road
PUNE
Ph. : 32911146
dynamicdist@hotmail.com

Eastern Marketing
38, Armenian Street
KOLKATA 700001
West Bengal
Ph. : 22734038/32968422
easternkolkata@yahoo.in

A Distribution House Associated with

PHILIPS
TOSHIBA
Leading Innovation
VOLTAS
A TATA Enterprise
LG
Life's Good
Godrej
HITACHI
Inspire the Next
INTEX
DEMAND MORE
VIDEOCON

अहिंसा सम्यक् आजीविका की स्वस्थ प्रविधि है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

श्रीमती छोटी बाई डागा
राजेंद्रकुमार डागा

विवेकानंद नगर, रायपुर (छत्तीसगढ़)

मोबाइल : 09827122900

अहिंसा आत्म-शुद्धि का साधन है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

मै. कोलकेम

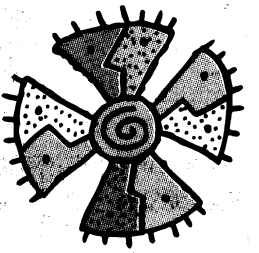
दानमल पोरवाल

भिलाई-बगड़ी

मोबाइल : 9826162011, 07882285670

एक-दो घण्टे मौन करना भी अच्छा है।
किंतु सबसे अच्छा है अनावश्यक न बोलना।

—आचार्यश्री महाश्रमण



With Best Wishes

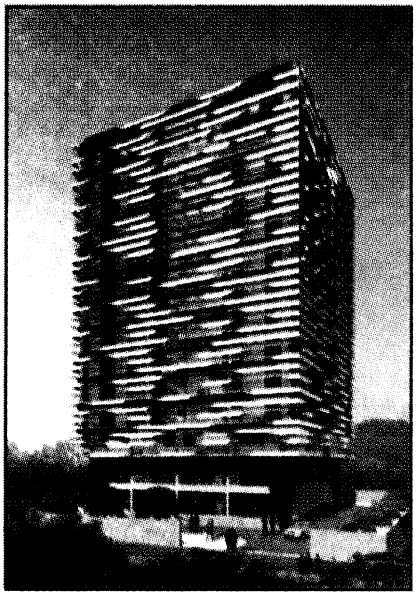
Suraj Stock Broking Ltd.

3A, Pollack Street, 2nd Floor, Room No. 10
KOLKATA 700001
Ph. : 22342540-43, Mob. : 9830052324

Babu Lal Bothra

With Best Compliments From

Payrelal
Vinod Sanjay Sunil Pitaliya



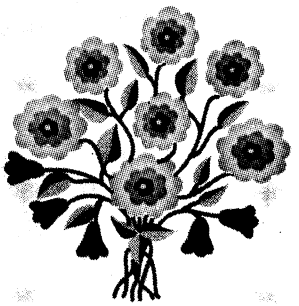
Maruthi Builder

Sindur Plaza, IV Floor
42, Montieth Road, Egmore, **CHENNAI** 600008

Ph. : 28550855, 28553939

E-mail : sindur2006@gmail.com
www.maruthibuilders.com

जीवनकाल सीमित है, इसलिए
उसमें अच्छे कार्य करते रहना चाहिए
—आचार्यश्री महाश्रमण



With Best Compliments From

Amarchand Dharamchand Lunked

23/3, China Thambi Street
Triplicane, **CHENNAI** 600005

अहिंसा जीवन का शाश्वत मूल्य है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

अहिंसा विशेषांक के प्रकाशित होने पर
हार्दिक शुभकामनाओं सहित

फतेहचंद तरुणकुमार सिंघी

501, एन.आर. के. विला, 22/2, मनोरमागंज, इंदौर
09893024667, 09893023667

सुविधाएं आदमी को सुखी बना सकती है, पर मनुष्य नहीं बना सकती।
-आचार्यश्री महाश्रमण

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

SAMPATRAJ GUNECHA
Suparas Gunecha 9327337609
Ummed Gunecha 9825361117
Praveen Gunecha 9825140691

SUN NARROW FAB PVT. LTD.
Mfg of : Narrow Woven Fabrics, Elastic and Name Tape
Plot No. A-27/18, Netaji Subhas Road, Road No. 10
Udhyog Nagar, Udhna, **SURAT** 394210 • Ph. : 2270088
e-mail : snfpl1999@yahoo.co.in

SAMPAT RIBBONS PVT. LTD.
6-A, J.B. Oil Mill Compound, Khatodara, **SURAT** • Ph. : 91-261-2630242

पूज्य प्रवर की दक्षिण यात्रा व चेन्नई के पावन
पावस प्रवास हेतु पलक पांवड़े बिछाए प्रतीक्षारत

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा

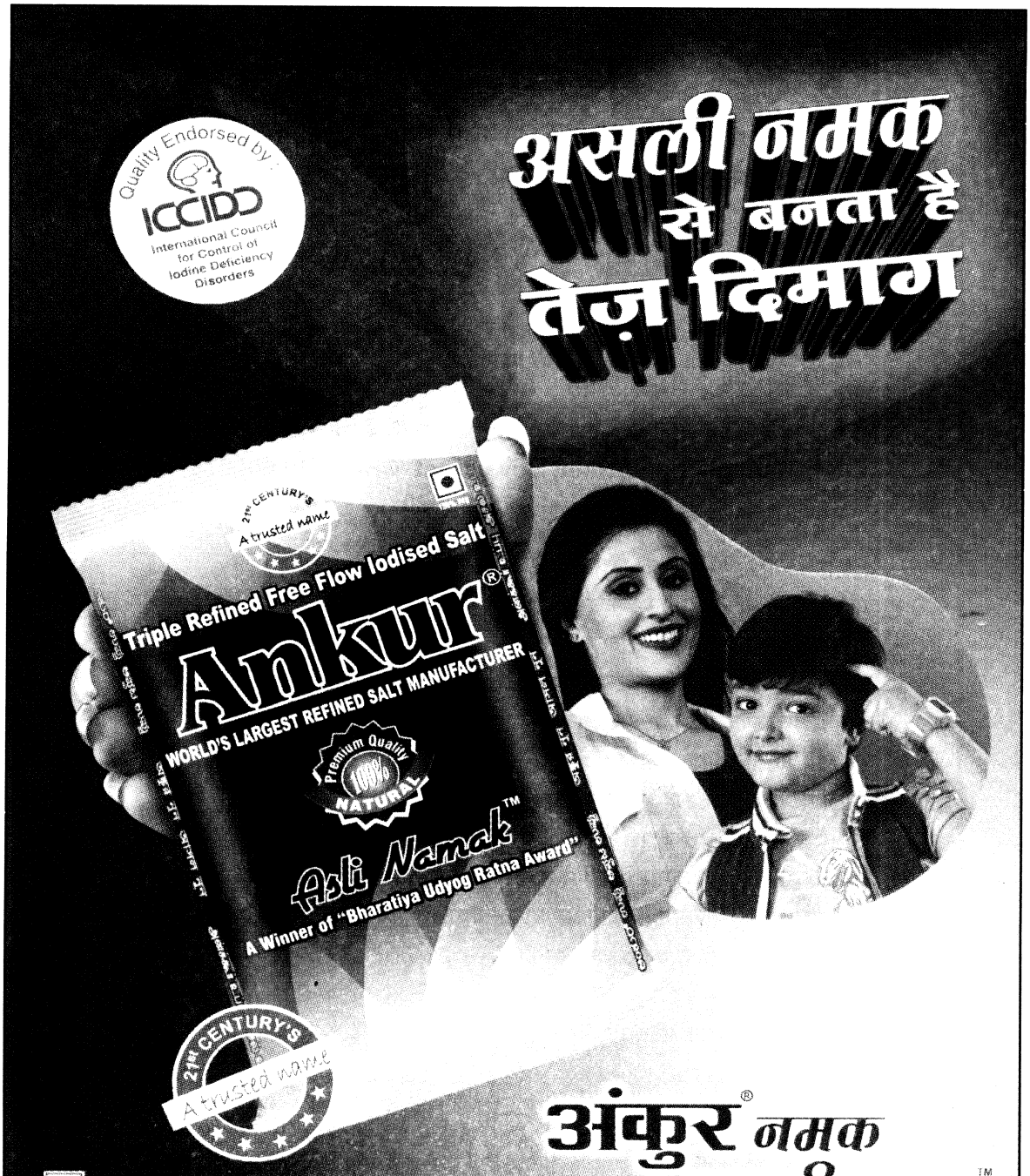
34, Managappan Street, Sowcarpet, CHENNAI 600079

Ph. : 044-25290880

चेन्नई सभा की प्रमुख गतिविधियाँ

- चारित्रात्माओं की चातुर्मास्य व्यवस्था
- चारित्रात्माओं की रास्ते की सेवा
- चेन्नई शहर में पारिवारिक सार-सम्भाल
- समाज के जरूरतमंद साधर्मिक बंधुओं की शिक्षा व चिकित्सा हेतु तेरापंथ सहायता कोष
- योग व ध्यान हेतु प्रेक्षा प्रकोष्ठ
- समाज व अन्य व्यक्तियों हेतु कम किराए पर सुलभ बर्तन विभाग
- जय तुलसी संगीत मंडल द्वारा तपश्चर्या व अन्य सामाजिक कार्यों में धम्म जागरणा
- भोजन विभाग द्वारा चातुर्मास काल में सुचारु भोजन व्यवस्था
- चारित्रात्माओं की रास्ते की सेवा व साधर्मिक बंधुओं हेतु वेन सेवा (सेवा वाहिनी)
- प्रतिवर्ष गुरु दर्शन यात्रा का आयोजन
- एम्प्लायमेंट ब्यूरो, मेरिज ब्यूरो इत्यादि
- सम सामयिक अन्य गतिविधियां

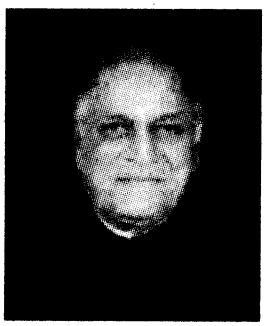
G जयंतीलाल सुराणा	**तनसुखलाल नाहर**	**सुरेश कुमार नाहर**
अध्यक्ष	मंत्री	कोषाध्यक्ष



COPORATE OFFICE
P.O.BOX No 9, PLot No 355, Ward 12-B, Tagore Road
Gandhidham 370201 (Kutch), GUJARAT, INDIA.
Tele : +91 02836-220957, 222343, Fax : +91 2836-233686

अहिंसा विशेषांक के प्रकाशित होने पर
हार्दिक शुभकामनाओं सहित

हर समस्या सुलझेगी, आप उलझना छोड़ दें
हर मंजिल मिलेगी, आप भटकना छोड़ दें।।



हमारे प्रेरणा स्रोत श्रद्धानिष्ठ श्रावक
स्व. रणजीतमलजी गादिया
पेटलावद/इंदौर

सबमर्सीबिल पम्पसेट निर्माता राजेश गादिया
एग्रो इक्विपमेंट कं. प्रा. लि.
46, इंडस्ट्रियल इस्टेट, पोलो ग्राउण्ड, इंदौर (म.प्र.) 452003
मोबाइल : 09425311931

हार्दिक शुभकामनाओं सहित



Dream Home
Furnishing

105-106 Mahalaxmi Market, Pandri, **RAIPUR** (C.G.)
Ph. : 0771-4040919, E-mail : suvijita@yahoo.com

Mahavir Baradia 9826611200
Nilesh Baradia 9424139839
Punkaj Chordia 7869973763

अहिंसा ममत्व मुक्ति का साधन है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

Sonali™
Silk Mills

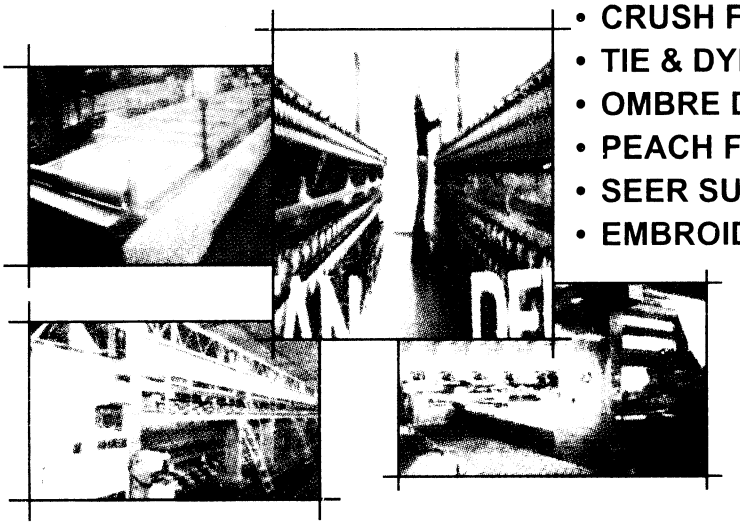
श्रीचंद विनोदकुमार, राजेंद्रकुमार, धनपतकुमार, नरपतकुमार कोचर
(लाडनूँ-सूरत)

SEKHANI FABRIC MILLS PVT. LTD.

MANUFACTURER & EXPORTER OF ALL TYPE OF PRINTED & DYED & EMBROIDERY FABRIC.

Our Specialities Are
Lasser Embroidery Machine
Flat Bed Machine
Rotary Machine RD4
Swiss Embroidery Plant

- PROCION PRINTS
- DISCHARGE PRINTS
- PIGMENT PRINTS
- DISPERSE PRINTS
- BRASSO PRINTS
- CRUSH FABRICS
- TIE & DYE
- OMBRE DYEING
- PEACH FINISH
- SEER SUCKER
- EMBROIDERY FABRIC



EMBROIDERY ON SWITZERLAND MAKE SAURER & LASSER SCHIFFLI MACHINES OF 21 MTR LENGTH DO CONTACT US FOR YOUR REQUIREMENT & SAMPLING.

SEKHANI FABRIC MILLS PVT LTD.
62, New Cloth Market, **AHMEDABAD**
Ph. (079)-22160769, 22132005, Fax :-079-22165385 Mobile : 9825078005
E-mail : sekhani@satyam.net.in

शुभकामनाओं सहित

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा

कांकरिया-मणिनगर

तेरापंथ भवन, कल्याण बाग, जुना ढोर बाजार, कांकरिया, अहमदाबाद 380008

फोन : 07925382133

SMTC

सौजन्य

Shree Mahalaxmi Transport Carrier

Transport Contractor & Commission Agent

H.O. 607, P.B. Parekh Tower, Near Hirabhai Market,
Opp. Vanijya Bhavan, Kankaria Road, **AHMEDABAD** 380022
Ph. : (O) 25469438, 25469445 (R) 25431886

KOLKATA BRANCH

173, M.G. Road, 3rd Floor, Near Doshi Medical, **KOLKATA**
Ph. : (O) 22180288, (Fac.) 26791732, (M) 9327054217, 32938601, 32591685

Kamal Maloo 9925001810 Vimal Maloo 9925001808

STC

Santoshi Transport Company

Transport Contractor & Commission Agent
H.O. 607, P.B. Parekh Tower, Near Hirabhai Market,
Opp. Vanijya Bhavan, Kankaria Road, **AHMEDABAD** 380022
Ph. : (O) 25469438, 25469445 (R) 25431886

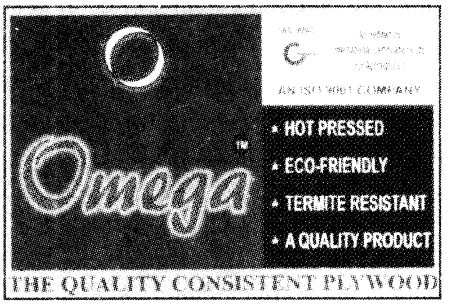
SURAT BRANCH

C/o Gujarat Ambuja Cements Ltd. Serva No. 39/40,
Adajatement 2 ABG, Ship Yard, Magdalla Port Road, Village-Gavier
Ph. : 2720532/2720533 Ext.235, Mobile : 9824410420, 9426412666
Ph. : 3946124 City Office : 02612311413

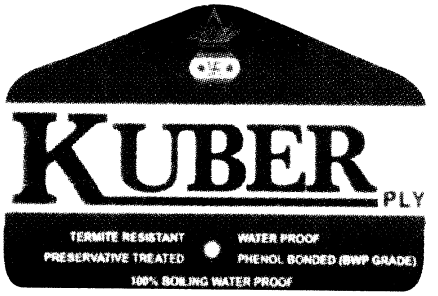


उठो, जागो और लक्ष्य तक मत रुको
—स्वामी विवेकानंद

NIRMAL CHORDIA
RISHI CHORDIA







PLY PORT
Wholesale & Retail

Dealers in :

Plywoods, Timber and Allied Products

REGD. OFF. :

No. 59, Choolai High Road
Choolai, Chennai 600112
Phone : 044-25387087, 42825736
Cell : 9381008335

SHOW ROOM

No. 134/1, Choolai High Road
Chennai 600112
Phone : 044-26693241, 42825046
Cell : 9840035641

अहिंसा जीवन की सार्थकता का महान सूत्र है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

लक्ष्मीलाल बाफना
राजेश-शैलेष बाफना

दिनेशचंद बाफना
विमल-कमलेश बाफना

राजेश स्टील एण्ड पाइप

लोहे के व्यापारी
उधना मगदल्ला रोड, सूरत
0261-2232118, 9725048484

अहिंसा सम्यक् कर्म की सार्थकता में निहित है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

अंकेश चंदुलाल दोशी
हंसा-अंकेश दोशी

भरत चंदुलाल दोशी
अरुणा-भरत दोशी

सुनील चंदुलाल दोशी
चेतना-सुनील दोशी

रिद्धि, सिद्धि, प्रसिद्धि, श्रद्धा, सुयश, देव

कांता बेन चंदुलाल दोशी परिवार

(वाव-सूरत)

धन तुम्हारे अहंकार, विलास और मूर्च्छा का कारण न बने।
यह सोचो, वह परोपकार का साधन कैसे बन सकता है ?

—आचार्यश्री महाश्रमण

SUBHKAM
VENTURES
Success, By Choice

With Best Compliments from :

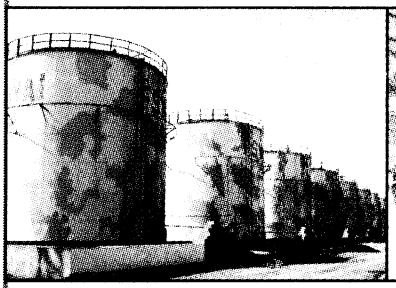
Mr. Rakesh S Kathotia

SUBHKAM VENTURES

The International House
4th Floor, New Marine Lines Cross Rd No. 1,
16 Maharshi Karve Road, Churchgate, **MUMBAI** 400020
Tel : - 91 22 61572000 / Fax No :- 91 22 6152099

One name that offers peace of mind for all the shipping operations at Kandla Port

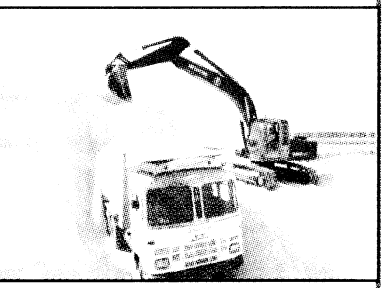
FRIENDS GROUP OF COMPANIES



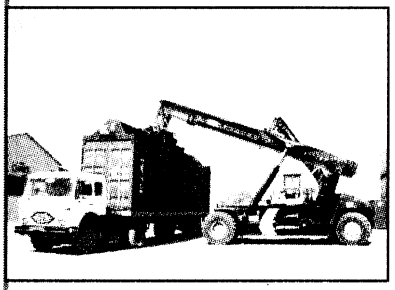
4.32 lakhs KL of Liquid Storage Capacity



Over 8 Lakhs sq. ft. of covered godowns for dry cargo

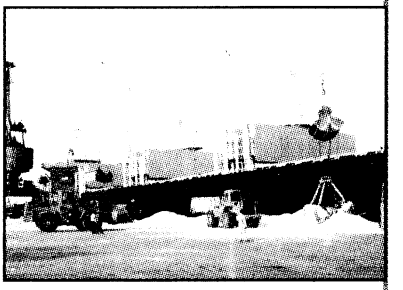


One of the leading Salt manufacturers & exporters

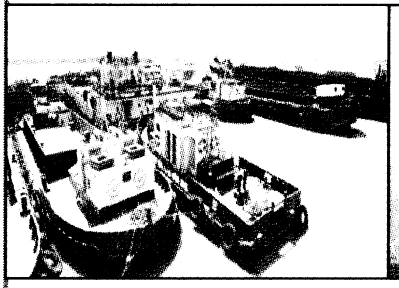


Largest CFS facility by a private company

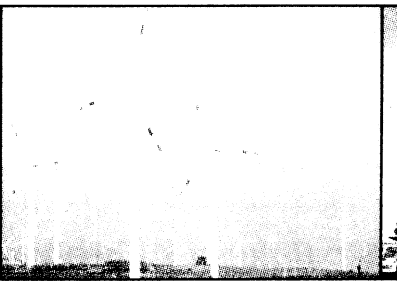
F G



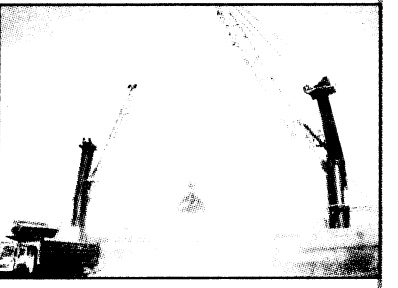
Record breaking Speedy Port Operations



Large Fleet of Seagoing barges & Tugs



Generating 100 MW windpower across India



State of art equipment support

Quality Resources, Building Values, Empowering Business

Friends & Friends Shipping Pvt. Ltd.
Friends Salt Works & Allied Industries
(Liquid Storage Tank Terminals)
Friends Oil & Chemical Terminals Pvt. Ltd.
Gautam Freight Pvt. Ltd.
Arvind V. Joshi & Co.

Head Office :
'Maitri Bhavan', Plot No. 18, Sector-8
Gandhidham-Kutch (Gujarat) India
Ph. : 91-2836-234973/232107/232227
Fax : + 91-2836-233924/250787
e-mail : mail@friendsgroupindia.com
Web.www.friendsgroup.co.in

कर्म के साथ अकर्म को जोड़ो।
प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति को जोड़ो।
भोग के साथ योग को जोड़ो।
फिर देखो तुम्हें कितना आनंद मिलता है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

AN ISO 9001 : | 2008 | CERTIFIED COMPANY

Jay Bhawani
Metal Industries

Plot No. 211/212, Road No. 6 F, New Estate
Udhyog Nagar, Udhna, **SURAT**

Ramesh Kothari
Managing Partner

Contact : + 91 98251 13536 | e-mail : jbmisrt@gmail.com

जय भिक्षु अर्हम् जय महाश्रमण

इस नश्वर जीवन में हो सके तो किसी का भला करो, किंतु किसी का बुरा मत करो।
—आचार्यश्री महाश्रमण

स्व. पिताश्री रामगोपाल जैन एवं माता गदावरी देवी
की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्रों द्वारा
जैन भारती के अहिंसा विशेषांक पर शुभकामनाएं

विजय जैन, ईश्वरचंद्र जैन, हरीराम जैन, शंभुलाल जैन
अजीतकुमार जैन, परबीनकुमार जैन
एवं समस्त खापड़ीया परिवार

केसिंगा 766012 (उड़ीसा)

जय भिक्षु अर्हम् जय महाश्रमण

समझदार व्यक्ति केवल भाग्य के भरोसे ही नहीं रहता और न ही केवल
पुरुषार्थ को महत्त्व देता है। वह भाग्य और पुरुषार्थ दोनों को मानता है।
—आचार्यश्री महाश्रमण

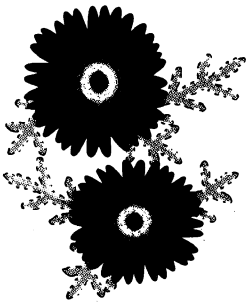
आपकी बेहतर सेवा में हर समय हर पल

जय तुलसी अनाज भंडार
एवं
महाप्रज्ञ डिस्ट्रीब्यूटर्स

प्रोप्राइटर : अभिषेक जैन : मोबाइल : 09178163788

इलेक्ट्रिक ऑफिस के पास, पो. केसिंगा 766012 (उड़ीसा)

अहिंसा मानव-मानव को जोड़ने का सेतु है।
-आचार्यश्री महाप्रज्ञ



हार्दिक शुभकामनाओं सहित

Rajesh Baid 9879224002
Mukesh Baid 9825964989

KONIKA Narrow Fab
MOHIT Tapes Pvt. Ltd.

A/12/21, Road No. 6, M.G. Road, Near Krishna Dyeing
Udhna Udhyog Nagar, **SURAT** 394210
Ph. : 0261-2274492 e-mail : konikanarrowfab@gmail.com

तुम दूसरों से आशीर्वाद मांगते हो। जरा यह भी सोचो,
तुम्हें स्वयं का आशीर्वाद मिल रहा है या नहीं ? तुम्हारा
पवित्र विचार और पवित्र आचार तुम्हारा अपना आशीर्वाद है।

-आचार्यश्री महाश्रमण

Suruchi
Processors Pvt. Ltd.

Plot No. 4-5, Venkaneda Praveen Silk Industries
Behind Garden Vareli Mills, Tal. Palsana, Distt. **SURAT**

R.K. Polytex

Manufacturers of
FANCY DRESS MATERIALS

5077 to 5079 Raghukul Textile Market
Lift No. 19, Ring Road, **SURAT**

Ph. : 0261-2344445, 3267348

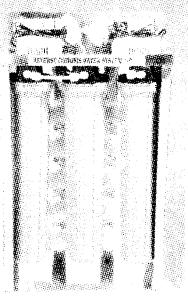
Lalit Jain
9825142859

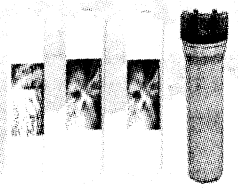
MAX PURE®

FILMAX®

TRUSTED BRAND IN WATER INDUSTRY!!

A House of Genuine R.O. Plant & Components For OEM

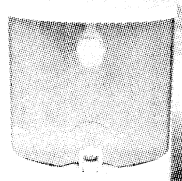

RO 40 L - 80 L



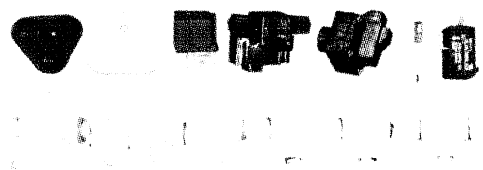

K-36

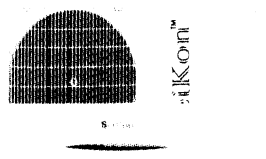

K-100


TFC-80


DOLPHIN DLX


RO 20 L - 40 L




AC 1T.,1.5T., 2T.



Authorized Distributor



VONTRON Membrane

Max Pure Water System Pvt. Ltd.

An Iso 9001:2008 Certified Company

H.O. : Near Bharat Petrol Pump, Opp. Bharat Cancer Hospital, Kumbharia Road, Saroli, Surat

Web : www.maxpureRO.com E-mail : sales.maxpure@gmail.com

Surat : 098985 92660, 098985 72298, Ahmedabad : 098985 66691, 098985 00971 Delhi : 093137 65368, 099994 16200
Jaipur : 09351309419, 098289 20614, Rajkot : 098985 91711, Chennai : 096772 78039, 096772 78035
Secunderabad : 094907 45983, 040 27540537, Banglore : 099003 44336, 099003 44337, Udaipur : 09828666772,
Nagpur : 09860247506, 09860247603 Rest of India : 07600010480
For Air-Conditioner : 09898592661

Jhabak Family-Surat

प्रेरणा स्रोत स्वर्गीय चम्पालालजी सुंदेशा मूथा की संस्मृति में
आपके आदर्श हमारी धरोहर है।

डगरीबाई (धर्मपत्नी), माणकचंद, मीठालाल (सुपुत्र)
ललितकुमार, हरीशकुमार, प्रमोदकुमार
किशोरकुमार, संदीपकुमार (पौत्र) सुंदेशा मूथा
गादाणा-होसपेठ, बेंगलोर

PRIYANKA AGENCIES
Industrial Area, Damlour Hospet, Distt. **BELLARY**
Mob. : +91 9535866827, 9535868315

सद्व्यवहार सबके साथ करो। विश्वास किसी योग्य का करो।
दुर्व्यवहार किसी के साथ मत करो।
—आचार्यश्री महाश्रमण

EVERSHINE MARBLE

RAMESH SHAH
Evershine Marble™
We Deal in Indian Marble, Granite, Italian Marble, Granamite, Wooden Flooring
Near Gayatri Temple, Opp. City Light Road Corner
Udhna-Magdalla Road, **SURAT** 395007 (Gujarat) India
Tel. : 0091-0261-2262209, 2265332, Fax : 0091-0261-2262205 Mob. : 0098251-25873
E-mail : evershinemarble@yahoo.co.in
E-mail : evershineexports@gmail.com

प्रेरणास्रोत स्वर्गीय श्री भैरूलालजी सिरोहिया की संस्मृति में

उत्तमचंद, महावीरचंद, जितेंद्रकुमार सिरोहिया

बावलास-बेंगलूरु

Pragathi Silk & Sarees

Wholesale Dealers for :
EXCLUSIVE SILK SAREES, KANCHEEPURAM
DHARMAVARAM, ARNI, BANARAS, MOLKALMUR
MYSORE GRAPE, PRINTED SILK &
ALL TYPES OF FANCY & SYNTHETIC SAREES

No. 168, Chickpet Main Road,
Opp. Rajatha Complex, **BENGALURU** 560053
Ph. : 22203603



Sri Satyam Silk

House of Exclusive Silk & Fancy Sarees

Dealers in : Kancheepuram-Dharmavaram-Banaras-Pure Crape
Pure Printed-Embroidery Fancy & Synthetic Sarees
Open on Sunday-Major Cards Accepted

3/G2, 3rd Cross Bhawar Chamber's, Chickpet, **BENGALURU** 560053
Tel. : 41483361, 22343528 Telefax : 080 4148 3357

आवेश की स्थिति में निर्णय गलत होने की संभावना रहती है,
अतः शांत अवस्था में ही चिंतनपूर्वक निर्णय करना चाहिए।

—आचार्यश्री महाश्रमण

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ

श्री किरनचंद प्रकाशचंद बजरंग कुंडलिया
श्रीडूंगरगढ़-बेंगलूरू

Plants®
The Root of fashion

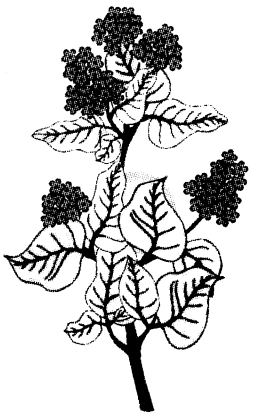
FASHION ADVENTURE®
SHIRTS • TROUSERS • JEANS • CARGOS • BARMUDAS

Prakash Chand Kundlia
098441 02993

10/1, Kundlia Towers, 3rd Cross
H. Siddaiah Road, **BENGALURU** 560027
Ph. : +91-80-22277075 / 22485022 Telefax : +91-80-4114-4375
E-mail : plants@aol.in

अच्छी चीज कहीं से भी मिले, स्वीकार करनी चाहिए।
बुरी चीज कहीं भी हो उसका परित्याग करना चाहिए।

—आचार्यश्री महाश्रमण



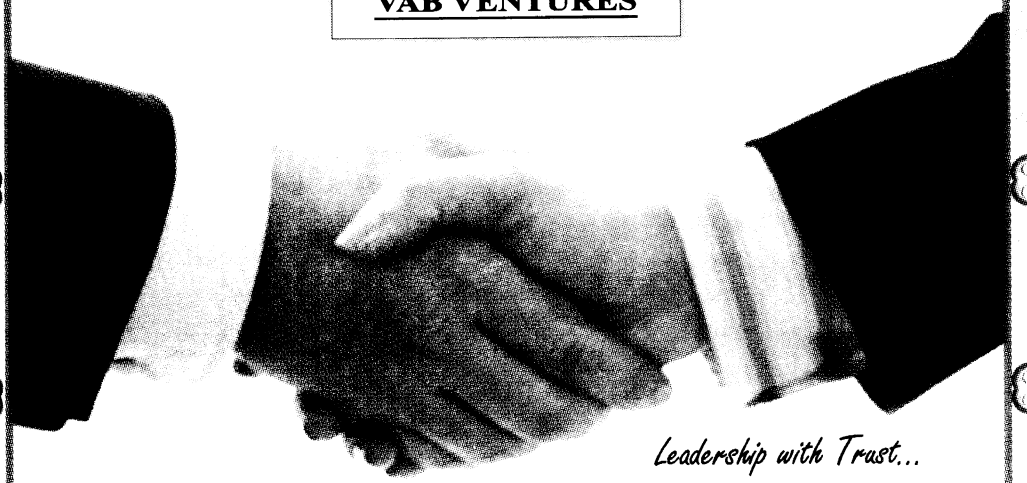
हार्दिक शुभकामनाओं के साथ

तेरापंथ महिला मंडल

अमोलक भवन, सदर बाजार, रायपुर (छत्तीसगढ़)

ध्वजा की प्रशंसा हो सकती है,
किंतु नींव के पत्थर को भी
भुलाया नहीं जा सकता है।
–आचार्यश्री महाश्रमण

VAB VENTURES



Leadership with Trust...

VAB Ventures Ltd.

60 B Chowringhee Road, Suite : 3/2/1, 3rd Floor
KOLKATA 700020, West Bengal, India
Tel. : (+91)-3322900112-114 | Fax : (+91)-3322900115
E-mail : arihantbaid@vabventures.in, www.vabventures.in

Sugar ◆ Pharmaceuticals ◆ Biotech ◆ Real Estate ◆ Financial Services ◆ Education ◆ Infotech

REGENT EDUCATION & RESEARCH FOUNDATION

★ ★ ★ GROUP OF INSTITUTIONS ★ ★ ★

Approved by: AICTE / Affiliated with : WBUT

Features : Experienced faculty | Fully air-conditioned classes | Book bank
Wide open lush green campus | Well equipped computer & other laboratories
Strong industry interface for placement | Conveniently located within Kolkata city

COURSES TAILOR MADE FOR YOUR BRIGHT & PROMISING CAREER

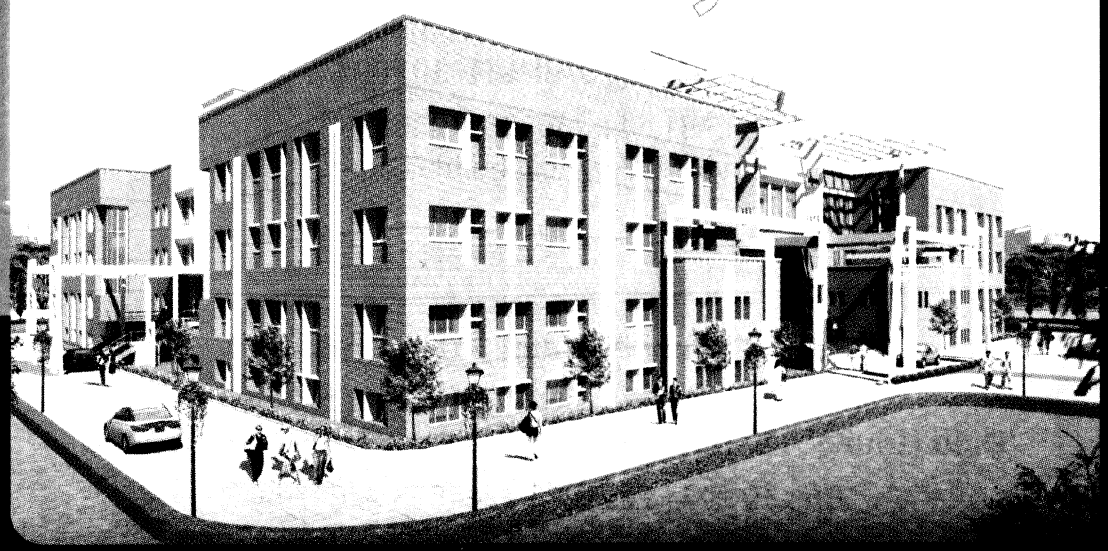
MBA+PGCM
Faculty of Management
Approved by AICTE
Affiliated with WBUT
Marketing | HR
Finance | Management

MCA
Faculty of Computer Application
Approved by AICTE
Affiliated with WBUT
Hardware & Software Engineering
Networking | Programming

B-TECH
Faculty of Engineering & Technology
Approved by AICTE
Affiliated with WBUT
Computer Science & Engineering
Electrical & Electronics Engineering
Electronics & Communication Engineering
Civil Engineering, Electrical Engineering

POLYTECHNIC
Regent Institution of Science & Technology
Approved by AICTE
Affiliated with WBSCTE
Civil Engineering
Mechanical Engineering
Electrical Engineering
Computer Science Engineering

"The perfect place for aspirants who are destined to succeed"



College Campus : Bara Kanthalia, Post : Sewli, Telinipara, Barrackpore, Kolkata - 700121.
Tel.: 033 3008 5433, 3008 5441
City Office : 60B, Chowringhee Road, (Third Floor) Kolkata - 700020.
Tel.: 033 2290 0112/13/14 Fax : 033 2290 0115.
Marketing Office: SDF Building 3rd Floor Module 415 & 416, Kolkata - 700091.
Tel.: 033-3002 7667 Fax: 033 3002 7669.
e- mail : rerfkolkata@gmail.com, website : www.rerf.in, Mobile No. : 98305 15534

Om Bhikshu Jai Tulsi

With best Compliments From

Pannalal Baid
Sobhag Devi Baid

FRIENDSHIP OF THOSE WHOM WE SERVE
IS FOUNDATION OF OUR PROGRESS

BAID LEASING AND FINANCE CO. LTD.

3, Jaipur Towers, Opp. All India Radio
M.I. Road, JAIPUR 302001
Ph : +91 141 2363358 2363359
Email : baidauto@hotmail.com

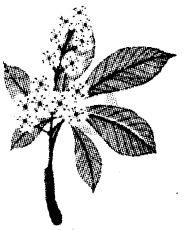
●

TRADESWIFT
(The Commodity and Share Broker)
Member : NSE MCX NCDEX NMCE
'Baid House', 1, Taranagar, Ajmer Road, JAIPUR 302006
Ph : +91 141 2221234 2224553 2224793
Email : contact@tradeswift.net

BAID ART WORLD
1, Usha Plaza
M.I. Road, JAIPUR 302001
Ph : +91 141 2371767 3299375

तुम्हारे सुख-दुख के जिम्मेवार तुम स्वयं हो।
दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। फिर उन पर आक्रोश क्यों करते हो ?

—आचार्यश्री महाश्रमण



With Best Compliments From

KALYANI TEA CO. LTD.

6, Bishop Lefroy Road, **KOLKATA** 700020
Ph. : 033-40170700

MAHESHPUR	**T.E**
NARENDRAPUR	**T.E**
MEKHALIPARA	**T.E**
KENDUGURI	**T.E**
DHULLIE	**T.E**
TINKHARIA	**T.E**
SONAJULI	**T.E**

(MAKERS OF FINEST QUALITY CTC, GREEN AND ORTHODOX TEAS)

प्रत्येक कर्म के साथ धर्म को जोड़ दिया जाए तो
धर्म के लिए अलग से समय निकालने की जरूरत ही नहीं।

–आचार्यश्री महाश्रमण

Express

In Sweet Memory of
Late Surajmal Ji Nahata (Bucha)



1927-1983

Manak Nahata • Manglesh Nahata • Akhilesh Nahata

Express Shipping Agency

Clearing Agent & Transporter

76, Bentinck Street, **KOLKATA** 700 001
Ring (O) 2236-3174/0346/7523 Fax : 91-33-22375903
E-mail : esa@cal.vsnl.net.in

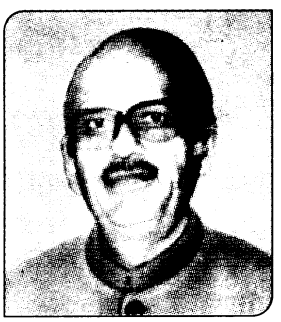
जय भिक्षु अर्हम् जय महाश्रमण

सन् 1989 के मर्यादा महोत्सव के अवसर पर स्व. माणकचंदजी चौरड़िया, छापर मर्यादा महोत्सव व्यवस्था समिति के अध्यक्ष मनोनीत थे। 12 जनवरी को मर्यादा महोत्सव के विषय में बातचीत करने हेतु गुरुदेवश्री तुलसी के दर्शनार्थ बीदासर गये वहीं गुरु चरणों में ही अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया।

बीदासर में आयोजित श्रद्धांजलि सभा में गुरुदेवश्री तुलसी ने 'महावीर वाणी' के आधार पर जीवन की नश्वरता का चित्र खींचते हुए कहा–माणक छापर का विलक्षण व्यक्ति था। संघ सेवा में हमेशा तत्पर रहता था। गुरुदेवश्री तुलसी ने अपने मुखारविंद से संबोधित करते हुए फरमाया कि माणक शासन भक्त और कर्मशील श्रावक था। इस अवसर पर गुरुदेवश्री तुलसी ने एक पद्य में फरमाया–

माणक माणक महकतो रम्यो महोत्सव रंग,
सुगुरु-चरण-गंगा शरण विधना बणी विरंग,
विधना बणी विरंग क्रूरता इसी करी क्यूं?
असमय लियो उठाय डावड़ी? नहीं डरी तूं,
चोरड़िया की चौकसी जाणक जीत्यो जंग,
माणक माणक महकतो रम्यो महोत्सव रंग।।

श्रद्धांजलि



माणकचंद चौरड़िया
छापर-कोलकाता

बजरंगलाल बिनोदकुमार चौरड़िया
माणकचंद चौरड़िया चैरिटेबल ट्रस्ट

ऑफिस : चौरड़िया हाउस-53, राधाबाजार लेन, कोलकाता 700001
निवास : गणपति निवास-84, एस.बी., ब्लॉक ई, न्यू अलीपुर, कोलकाता 700053

अनाग्रह अच्छा है पर आग्रह भी सर्वत्र बुरा नहीं।
सत्य की खोज में अनाग्रह उपयोगी है और
प्राप्त सत्य की रक्षा के लिए आग्रह भी लाभदायी है।

–आचार्यश्री महाश्रमण

हार्दिक शुभकामनाओं सहित



सम्पतलाल मादरेचा
Sampat Lal Madrecha

Prince Jewellers

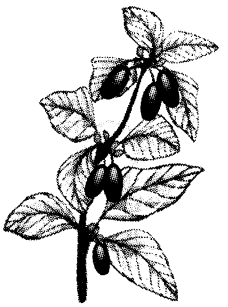
Dukan No. 6, infront of Sitaram Prakash High School
R.A.K. Road, **WADALA** (West) 400031, Mumbai (MS)

Ph. : 022-24186585 (O), 24162782 (R)
(M) 9869145963, 9833648475
E-mail : jain.sampatlal@gmail.com

दूसरी कीमती चीजें यदि खो जाएं तो
उन्हें दुबारा प्राप्त किया जा सकता है,
किंतु समय एक ऐसी चीज है,
जिसे खोने के बाद
दुबारा कभी नहीं पाया जा सकता।

–आचार्यश्री महाश्रमण

हार्दिक शुभकामनाओं सहित



बिंदिया–रोशनलाल सांखला
Bindiya-Roshan Lal Sankhla

चारु–रौनक सांखला
Charu-Ronak Sankhla

Shubh Marble
KELWA

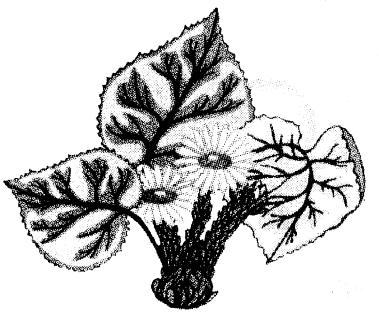
Kiran Palace, P.O. **KELWA** 313334, Distt. Rajsamand (Raj.)

Ph. : 02952-294036 (O), 9829044888 (R)
E-mail : rosan98290@gmail.com

अपना अहित करने वाले का भी
कल्याण करने का प्रयास करना
परम मैत्री का प्रयोग है।

–आचार्यश्री महाश्रमण

हार्दिक शुभकामनाओं सहित



किशनलाल डागलिया
Kishan Lal Dagalia

26-A, Dagina Bazar, Behind of Dukan No. 54/55
1st Floor, Mumba Devi Road, **MUMBAI** 400002

Ph. : 022-22424896 (O), 22424901 (R)
(M) 09869204725
E-mail : kishan.dagalia@gmail.com

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

अहिंसा वह अमृत है जो समाज व राष्ट्र को जीवित रखता है।
—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

With Best Compliments From

RHJ

RAMESHKUMAR HAMERLAL JAIN

TOTAL METAL RECYCLERS & MFG. METAL SALTS

**EXTRUDERS OF COPPER & COPPER ALLOYS,
ALUMINIUM & ALUMINIUM ALLOYS**

Head Office
111/119, Thakurdwar Road, **MUMBAI** - 400002
Tel. : 2201 3540, 2205 8973, 2206 9972
Fax : 22004579
E-mail : info@rhjmetals.com

ASSOCIATE CONCERNS

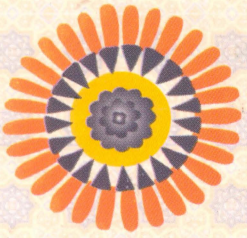
RHJ Industries Pvt. Ltd.
(AN ISO 9001 - 2008 Certified Company)

RHJ Metals Pvt. Ltd.
RHJ Tubes Pvt. Ltd.
Dhakad Metal Corporation
Sara Chemicals

जैन भारती, नवंबर, 2012 ■ प्रेषण दिनांक 28 अक्टूबर, 2012
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

लोभ की स्थिति में गलत काम हो सकते है। संत अनासक्ति की साधना में तल्लीन रहते हैं। गृहस्थ को भी त्याग व संयम का अभ्यास पुष्ट करना चाहिए।

—आचार्यश्री महाश्रमण



With Best Compliments From

Pukhraj Parmar
Sukanraj Parmar
Jawanthraj Parmer
Ramesh Kumar Parmer

Magartalav, Beawar, Sojat Road, **CHENNAI**

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।